

व

व्यक्तिवाद

(Individualism)

समाज-विज्ञान के कई राजनीतिक सिद्धांतों और सामाजिक व्याख्याओं के मर्म में व्यक्तिवाद का विचार है। तत्त्व-चिंतन की दृष्टि से व्यक्तिवाद ब्रह्माण्ड को अलग-अलग की जा सकने वाली व्यक्तिगत इकाइयों से रचा हुआ मान कर चलता है। ईसाई तत्त्व-चिंतन में इसका संबंध प्रोटेस्टेंट आस्थाओं से जोड़ा जाता है जो पादरी या चर्च के हस्तक्षेप के बिना व्यक्ति और ईश्वर के बीच सीधे तादात्म्य की स्थिति देखती हैं। हालाँकि मनुष्य और भगवान के बीच निजी धरातल पर सीधे तादात्म्य का सिद्धांत हिंदू तत्त्व-चिंतन में भी प्रधान हैसियत रखता है, पर समाज-विज्ञान के हल्कों में इसकी शिनाख्त व्यक्तिवाद के स्रोत के तौर पर नहीं की जाती। मुख्यतः यह एक पश्चिमी विचार है और उदारतावाद जैसे महा-सिद्धांत के लिए इसका महत्त्व विधेयक माना जाता है। उदारतावादी चिंतक व्यक्ति के अविभाज्य अधिकारों के समर्थक हैं। सामाजिक समझौते का सिद्धांत राजनीतिक व्यक्तिवाद की पद्धति का इस्तेमाल करके ही रचा गया है।

राज्य के अधिकार सीमित रखने के आग्रह, मुक्त बाजार, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और व्यक्तिगत सम्पत्ति जैसी अवधारणाएँ व्यक्तिवाद के बिना नहीं पनप सकती थीं। इनके मुताबिक सरकार नागरिकों के रूप में व्यक्तियों की सहमति से बनती है और उसकी भूमिका उन्हीं नागरिकों के अधिकारों की रक्षा तक ही सीमित रहनी चाहिए। उन्नीसवीं सदी के अमेरिकी व्यक्तिवादी चिंतकों का मत तो यहाँ तक था कि व्यक्ति को किसी भी क्रीमत पर अपना अंतःकरण किसी निर्वाचित या किसी भी अन्य तरह के नेता के अधीन

नहीं करना चाहिए। व्यक्तिवाद का यह आयाम उसे अराजकतावादी फलितार्थों के नज़दीक पहुँचा देता है। लेकिन, व्यक्तिवाद का दिलचस्प पहलू यह है कि आधुनिक समय में इसके जरिये समाज-विज्ञान में सामाजिक कल्याण और राज्य के हस्तक्षेप की धारणाओं को भी पुष्ट किया गया है। व्यक्तिवादी सूत्रीकरणों का इस्तेमाल वामपंथियों ने भी किया है और दक्षिणपंथियों ने भी। इस दोतरफ़ा उपयोग के बावजूद सभी व्यक्तिवादी चिंतक इस बात पर एकमत हैं कि व्यक्ति की गरिमा, उसकी निजता और उसके अंतर्भूत मूल्य को हर परिस्थिति में सर्वोच्च प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

राज्य की भूमिका को सीमित रखने का आग्रह रखने वाले व्यक्तिवादी मुक्त बाजार आधारित पूँजीवाद का पक्ष लेते हैं। वे मान कर चलते हैं कि व्यक्ति आत्म-निर्भर और स्व-हित में दिलचस्पी रखने वाली शै है जो मुक्त विनिमय के जरिये सम्पत्ति का उत्पादन कर सकता है। वह अपनी क्षमताओं का खुद मालिक है और किसी भी अर्थ में वह समाज का ऋणी नहीं है। लेकिन, व्यक्तिवाद के सिद्धांत का इस्तेमाल एल.टी. हॉबहाउस और टी.एच. ग्रीन ने आर्थिक जीवन में राज्य के हस्तक्षेप को जायज़ ठहराने के लिए किया है। वे व्यक्ति को अपने स्व-हित की संकीर्णता में ही सीमित नहीं देखना चाहते। वे उसे सामाजिक रूप से उत्तरदायी और साथी मनुष्यों के प्रति परोपकारी भावनाओं से परिपूर्ण की तरह देखते हैं। जॉन स्टुअर्ट मिल ने अपनी रचना *ऑन लिबर्टी* में वैयक्तिकता के सिद्धांत का सूत्रीकरण किया। उन्होंने मुक्त व्यापार की वकालत ऐडम स्मिथ की तरह भौतिक खुशहाली की खातिर न करके व्यक्तिगत स्तर पर आत्म-विकास की खातिर की। स्वतंत्रता पर लिखी गयी इस विख्यात रचना में मिल ने जेरेमी बेंथम के विचारों को और परिष्कृत रूप में पेश किया। उन्होंने तर्क दिया कि किसी व्यक्ति के मत का समाज या राज्य के सामूहिक निर्णय के आधार पर दमन नहीं किया

जा सकता। वे निजी स्वाधीनता को बचाने की पैरोकारी करते हैं और बेंथम से परे जाते हुए सुख को वैयक्तिकता की रक्षा के रूप में देखते हैं। उनके यहाँ वैयक्तिकता मनुष्य की इयत्ता के विकास की पूर्वशर्त है। प्रगति तभी होगी जब अपनी वैयक्तिकता में दूसरों से भिन्न हो कर व्यक्ति समाज के लिए उपयोगी होगा। मिल स्वाधीनता के तीन आयाम बताते हैं : विचार और बहस की स्वतंत्रता, वैयक्तिकता का सिद्धांत और व्यक्ति की क्रियाओं पर राज्य और समाज के नियंत्रण की सीमा।

जाहिर है कि व्यक्तिवादी चिंतन की यह दूसरी धारा इस सिद्धांत को व्यक्तिगत लालच की सीमाओं से निकाल कर उसका विस्तार व्यक्तिगत आत्म-विकास तक करती है। अहंवादी व्यक्तिवाद इन व्याख्याओं के तहत वैकासिक व्यक्तिवाद का रूप ले लेता है। इसी कारण से कुछ समाजवादी चिंतकों ने भी व्यक्तिवाद को अपनाया है। उनके अनुसार अगर मनुष्य स्वाभाविक रूप से सामाजिक प्राणी है तो व्यक्तिवाद का तात्पर्य स्व-हित तक सीमित न रह कर बिरादाराना सहयोग और सामुदायिक जीवन से जुड़ा होना चाहिए। फ्रांसीसी समाजवादी ज्यॉ जैरेज़ ने तो उन्नीसवीं सदी में समाजवाद को व्यक्तिवाद की तार्किक परिणति तक करार दिया था। एंथनी गिडेंस जैसे समकालीन विद्वान तीसरी धारा की नुमाइंदगी करते हैं। व्यक्तिवाद की नयी परिभाषा करते हुए उन्होंने स्वायत्तता सम्पन्न व्यक्ति को आपसी निर्भरता और पारस्परिकता के माहौल में सक्रिय हस्ती के रूप में देखा है।

सेमुअल स्माइल्स ने 1859 में *सेल्फ-हेल्प* नामक किताब लिखी थी, जिसे व्यक्तिवाद की बाइबिल समझा जाता है। स्माइल्स ने उद्यम, एकाग्रता और टिकाऊपन की विक्टोरियन खूबियों की सराहना करते हुए बिना किसी बाहरी मदद (यानी समाज-कल्याण) के की गयी 'सेल्फ-हेल्प' को व्यक्ति के सच्चे विकास का आधार करार दिया था। इन विचारों को हरबर्ट स्पेंसर द्वारा प्रतिपादित सामाजिक डार्विनवाद को सर्वोच्च अभिव्यक्ति मिली। इस तरीके से स्पेंसर ने व्यक्तिवाद को जैविक आधार प्रदान करने की कोशिश की। इन विचारों को अस्सी के दशक में रेगनोमिक्स और थैचराइजेशन के तहत नव-दक्षिणपंथी स्वर मिला। नये दक्षिणपंथियों ने लोकोपकारी राज्य को 'निर्भरता की संस्कृति' कह कर आड़े हाथों लिया। उनकी भाषा में गरीब और बेरोजगार 'वेलफ़ेयर जंकी' करार दे दिये गये।

व्यक्तिवाद का महत्त्व न केवल एक मानकीय सिद्धांत के रूप में है, बल्कि उसका एक पद्धतिमूलक स्वरूप भी है। इसके तहत व्यक्ति के पूर्व-स्थापित मॉडल के आधार पर मान लिया जाता है कि उसकी आवश्यकताएँ, कामनाएँ और चालक-तत्त्व क्या-क्या हो सकते हैं। इसी 'निर्धारित' और

'प्रदत्त' मानवीय प्रकृति के आधार पर सत्रहवीं सदी में सामाजिक समझौते के सिद्धांत रचे गये थे और बीसवीं सदी के राजनीति विज्ञान में इसी का इस्तेमाल करके बुद्धिसंगत-चयन की थीसिस तैयार की गयी। व्यक्तिवाद की पद्धति के मुताबिक ही क्लासिकल और नियोक्लासिकल अर्थशास्त्र के सिद्धांतों का सूत्रीकरण हुआ। पद्धतिमूलक व्यक्तिवाद की सबसे बड़ी समस्या यह है कि गैर-सामाजिक और अनैतिहासिक है। मानवीय प्रकृति समाज-दर-समाज बदलती रहती है। उसका कोई सार्वभौम निर्धारित या प्रदत्त रूप नहीं हो सकता।

समुदाय का प्रश्न आते ही व्यक्तिवाद को आलोचनाओं का सामना करना पड़ता है। व्यक्तिवाद की आलोचना समय-समय पर समाजवादी, समुदायवादी, अनुदारवादी, राष्ट्रवादी और सबसे ज़्यादा फ़ासीवादी चिंतकों द्वारा की गयी है। इन आलोचनाओं के केंद्र में मुख्यतः दो प्रश्न हैं : क्या व्यक्ति को समुदाय से स्वतंत्र और आत्म-निर्भर होना चाहिए? क्या ऐसा करने से सामाजिक एकता असम्भव नहीं हो जाएगी और व्यक्ति अलगाव व असुरक्षा का शिकार नहीं हो जाएगा?

देखें : अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफ़लातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, उपयोगितावाद, एडमण्ड बर्क, क्रांति, ज्यॉ ज़ाक रूसो, जॉन लॉक, जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, न्याय, न्याय : नारीवादी आलोचना, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, राजनीति में व्यक्ति की भूमिका, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, प्रतिनिधित्व, प्रगति, प्रगति : आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य, प्रशासन, फ़ासीवाद, फ़्रेड्रिख वॉन हायक, बहुसंस्कृतिवाद, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, बुद्धिवाद, माइकेल जोसेफ़ ओकशॉट, माइकिल वाल्ज़र, मिशेल पॉल फ़ूको-1 और 2, यूटोपिया, राजनीतिक और राजनीति, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम-1 और 2, राजनीतिक मनोविज्ञान, राजनीतिक समाजशास्त्र, राज्य-1 और 2, रॉबर्ट नॉज़िक, राज्य-1 और 2, राष्ट्र-राज्य, राष्ट्र : सांस्कृतिक या राजनीतिक, राष्ट्रवाद, राष्ट्रवाद का इतिहास, लोकतंत्र, लोकतंत्र की आलोचनाएँ, व्यवहारवाद, विल किमलिका, सविनय अवज्ञा, स्वतंत्रतावाद, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकारियत, सामाजिक समझौता, हेनरी डेविड थोरो।

संदर्भ

1. जे. किंगडम (1992), *नो सच थिंग एज़ सोसाइटी?* *इंडिविडुअलिज़म ऐंड कम्युनिटी*, ओपन युनिवर्सिटी प्रेस, बकिंगहम.
2. एस. ल्यूक्स (1973), *इन्डिविडुअलिज़म*, ब्लैकवेल, ऑक्सफ़र्ड.
3. जी. ज़िमेल् (1971), *ऑन इन्डिविडुअलिटी ऐंड सोशल फ़ॉर्म*, युनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस, शिकागो.

— अभय कुमार दुबे

वर्धा शिक्षा योजना

(Wardha Plan for Education)

वर्धा शिक्षा योजना गाँधी की देन है। उन्होंने शिक्षा पर सोचना और लिखना अपने दक्षिण अफ्रीका प्रवास में शुरू कर दिया था। गाँधी ने अपने शिक्षा संबंधी चिंतन को धरती पर उतारने का प्रयोग भी फ्रीनिक्स आश्रम में ही किया था। आश्रम के छोटे बच्चों को पढ़ाने की जिम्मेदारी उन्होंने स्वयं ली थी। अपने इन्हीं अनुभवों को आगे चलकर उन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में भी स्थापित किया। वर्धा शिक्षा योजना के पीछे आधारभूत विचार इस प्रकार था : 'राष्ट्र के रूप में हम शिक्षा में इतने पिछड़े हुए हैं कि यदि हमने शिक्षा का यह कार्यक्रम धन पर आधारित किया, तो हम राष्ट्र के प्रति शिक्षा के अपने उत्तरदायित्वों का इस पीढ़ी से थोड़े समय में निर्वाह करने की आशा नहीं कर सकते। अतः मैंने रचनात्मक योग्यता की ख्याति को संकट में डालकर यह प्रस्ताव करने का साहस किया है कि शिक्षा आत्मनिर्भर होनी चाहिए। शिक्षा से मेरा तात्पर्य है बच्चे एवं पुरुष की सम्पूर्ण मानसिक तथा आत्मिक शक्तियों का सर्वतोमुखी विकास। साक्षरता न तो शिक्षा का अंत है और न आदि। यह तो अनेक साधनों में एक साधन है जिसके द्वारा मनुष्य एवं स्त्री को शिक्षित किया जा सकता है। साक्षरता स्वयं शिक्षा नहीं है। अतः मैं बच्चे की शिक्षा उसे एक उपयोगी हस्तशिल्प सिखा कर और जिस समय से वह अपनी शिक्षा प्रारम्भ करता है उसी समय से उसे उत्पादन करने योग्य बना कर प्रारम्भ करना चाहता हूँ। इस प्रकार राज्य विद्यालयों में निर्मित वस्तुओं को लेने का उत्तरदायित्व ले लें तो प्रत्येक विद्यालय आत्मनिर्भर बनाया जा सकता है।'

गाँधी जिस समय उपरोक्त शिक्षा संबंधी चिंतन में लगे हुए थे, उसके पहले यानी बीसवीं सदी के पहले तथा दूसरे दशक में लॉर्ड कर्जन द्वारा आयोजित शिक्षा सम्मेलन, और बंग-भंग जैसी प्रशासनिक नीतियों ने भारतीय जनमानस में नीतिगत संशय पैदा कर दिया था। इसी की संगठित अभिव्यक्ति राष्ट्रीय शिक्षा आंदोलन के रूप में सामने आयी। इस आंदोलन ने लोगों में शिक्षा के प्रश्न पर कुछ हद तक जागरूकता पैदा की, लेकिन यह जागरूकता विशेष रूप से बाहरी क्षेत्रों तथा स्वतंत्रता के लिए आंदोलन कर रहे लोगों तक ही सीमित थी। लेकिन इसके बावजूद राष्ट्रीय स्तर पर इस आंदोलन के प्रभाव से इनकार नहीं किया जा सकता। शिक्षा के क्षेत्र में अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य में कुछ ऐसी घटनाएँ घट रही थीं जिनका प्रभाव भी इस आंदोलन पर पड़ा। कई यूरोपीय देशों ने अपने यहाँ प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य करनी प्रारम्भ कर दी थी। सर्वप्रथम स्वीडन ने 1842 में प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्यतः लागू की। 1852 में संयुक्त राज्य अमेरिका

ने, 1860 में नार्वे ने, 1870 में इंग्लैण्ड ने और 1905 में हंगरी ने भी प्रारम्भिक शिक्षा को अनिवार्य कर दिया। शिक्षा के क्षेत्र में इन महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों ने एक तरफ औपनिवेशिक शासकों पर नैतिक दबाव बनाया ही, साथ ही दूसरी तरफ देश के अंदर शिक्षा की माँग बढ़ी। कांग्रेस के नेताओं का ध्यान भी इधर गया। इसी कड़ी में गाँधी भी *हरिजन* में 'नयी तालीम' शीर्षक के तहत आलेखों की शृंखला प्रकाशित कर रहे थे।

इन्हीं परिस्थितियों में गाँधी ने प्रारम्भिक शिक्षा (प्राथमिक) की एक परियोजना प्रस्तुत की और उसका नाम नयी तालीम रखा। उनका मकसद परम्परागत अंग्रेजी शिक्षा से हट कर तत्कालीन आवश्यकताओं एवं संसाधनों के आलोक में एक ऐसी शिक्षा व्यवस्था खड़ी करना था जो इस नाम को चरितार्थ कर सके। *हरिजन* के आलेखों में गाँधी ने प्रायः नयी तालीम शब्द का ही प्रयोग किया है, लेकिन आगे चलकर 1937 के वर्धा शिक्षा सम्मेलन में गठित समिति ने संशोधन करते हुए इसे बुनियादी तालीम नाम दिया। लेकिन यह नाम भी स्थायी नहीं रहा। कुछ दिन बाद इसे बेसिक शिक्षा के नाम से जाना गया।

गाँधी ने अपने शिक्षा संबंधी विचार की जाँच करने के उद्देश्य से वर्धा में 22 तथा 23 अक्टूबर, 1937 को मारवाड़ी हाई स्कूल की रजत जयंती के अवसर पर अखिल भारतीय स्तर का शिक्षा सम्मेलन आयोजित किया। जिसमें बुद्धिजीवियों, शिक्षाविदों, राजनीतिकों शिक्षकों सहित समाज के अन्य वर्गों के प्रतिनिधियों ने भी शिरकत की। इसका सभापतित्व स्वयं गाँधी ने किया। गहन विचार-विमर्श के बाद एक प्रस्ताव पारित हुआ जिसके अनुसार यह तय किया गया कि प्राथमिक शिक्षा सात वर्ष आयु वर्ग के सभी बच्चों को अनिवार्यतः दी जायेगी। शिक्षा हस्तशिल्प पर आधारित होगी और राज्य बच्चों द्वारा किये गये उत्पादन का क्रय करेगा जिससे धीरे-धीरे अध्यापकों को वेतन मिलना प्रारम्भ हो जाएगा। इस प्रस्ताव को कार्य रूप में परिणत करने के लिए जामिया मिलिया विश्वविद्यालय के तत्कालीन उपकुलपति डॉ. जाकिर हुसैन की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया गया जिसे जाकिर हुसैन समिति के नाम से जाना जाता है। हुसैन समिति का अध्ययन क्षेत्र सम्मेलन में पारित प्रस्ताव के आधार पर बेसिक शिक्षा (यह नाम वर्धा सम्मेलन के प्रस्ताव में पहली बार आया) की पाठ्यचर्या संबंधी सुझाव देना था। समिति ने अपना पहला प्रतिवेदन 1937 में ही गाँधी के समक्ष प्रस्तुत किया जो जल्दी ही आयोजित होने वाली हरिपुरा कांग्रेस में स्वीकार कर लिया गया। इस सुझाव में पाठ्यचर्या के निर्माण के परम्परागत सिद्धांतों का विस्तृत विवरण था। 1937 के प्रस्ताव के छोटे से अंतराल के बाद 1938 में हुसैन समिति ने दूसरा प्रतिवेदन भी गाँधी के समक्ष

प्रस्तुत कर दिया। दूसरे प्रतिवेदन में पाठ्यचर्या की समस्त विषयवस्तु एवं विभिन्न प्रकार के हस्तशिल्पों का विस्तृत विवरण तो था ही, साथ ही पूरे सत्र की समय-सारणी एवं प्रतिवेदन की समय-सारणी भी प्रस्तुत कर दी गयी। इन दोनों प्रस्तावों को कांग्रेस पार्टी के सम्मेलनों में स्वीकार कर लिया गया। 1938 के हरिपुरा कांग्रेस सम्मेलन में पार्टी ने आल इण्डिया एजुकेशन बोर्ड की स्थापना का प्रस्ताव पारित किया। हिंदुस्तानी तालीमी संघ नामक संस्था बनायी गयी जिसके अध्यक्ष ज़ाकिर हुसैन नियुक्त किये गये।

इसी बीच ब्रिटिश सरकार ने 1935 के इण्डिया एक्ट के द्वारा भारतीय उपनिवेश के प्रांतों में स्वशासन के उद्देश्य की पूर्ति के लिए चुनाव का आयोजन किया। इसमें 11 राज्यों में से 7 राज्यों में कांग्रेस पार्टी की सरकार बनी जिसके बाद प्रांतीय सरकारों की नैतिक ज़िम्मेदारी हो गयी कि बेसिक शिक्षा की योजना प्राथमिक विद्यालयों में लागू करे। यह प्रयास भी किया गया लेकिन वित्त संबंधी समस्या बेसिक शिक्षा लागू करने में आड़े आ रही थी। मुख्य वजह यह थी कि सरकार की आय के स्रोत सीमित थे। शराब से आने वाले कर कांग्रेसी सरकारों को नहीं मिल रहे थे। गाँधी की नीति के अनुसार कांग्रेस शासित राज्यों में पूर्ण मद्य-निषेध लागू था। ऊपर से ब्रिटिश सरकार भी इन प्रदेशों को समुचित मात्रा में धन उपलब्ध नहीं कराती थी।

राजनीतिक परिस्थितियों वश वर्धा शिक्षा योजना लागू तो नहीं हो पायी, पर गाँधी के इन विचारों पर शिक्षाविदों सहित तमाम बुद्धिजीवियों में बहस शुरू हो गयी। जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में कुछ व्यापारियों, जो कांग्रेस के सदस्य भी थे, और अन्य नेताओं ने इस परियोजना की मुखालफत की। उन्होंने तर्क दिया कि आधुनिक औद्योगिक युग में यह शिक्षा हास्यस्पद होगी क्योंकि इसमें लोगों की आवश्यकताओं को पूरा करने की क्षमता इसमें नहीं है। यह भी कहा गया कि बेसिक शिक्षा में विद्यार्थियों को बाल-श्रम करना पड़ेगा। मुसलिम लीग ने भी वर्धा शिक्षा का विरोध किया था, लेकिन पटना में आयोजित एक शिक्षा सम्मेलन में ज़ाकिर हुसैन ने उनकी तमाम भ्रांतियों को दूर कर दिया।

वर्धा शिक्षा सम्मेलन से जुड़ी घटनाओं को ध्यान में रख कर तत्कालीन मुम्बई प्रान्त के मुख्यमंत्री बी.जी. खेर की अध्यक्षता में (1938) एक समिति का गठन किया गया जिसका मकसद बेसिक शिक्षा योजना की जाँच करना था। इस समिति ने दो प्रतिवेदन प्रस्तुत किये। दोनों प्रतिवेदनों में समिति ने ज़ाकिर हुसैन समिति के लगभग सभी सुझावों को माना। केवल थोड़ा सा परिवर्तन यह किया कि प्राथमिक शिक्षा की अवधि सात वर्ष के स्थान पर आठों वर्ष की होगी जिसमें दो स्तर होंगे। पहला स्तर पाँच वर्ष का तथा दूसरा स्तर

तीन वर्ष का होगा। शिक्षा प्रारम्भ करने की आयु छह वर्ष तथा समाप्त करने की आयु चौदह वर्ष की होगी। इन परिवर्तनों सहित बेसिक शिक्षा योजना को केंद्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड ने मान लिया तथा सार्जेन्ट शिक्षा योजना में सम्मिलित करके इसके क्रियान्वयन का सुझाव केंद्रीय सरकार के सामने रखा। सरकार ने भी इसे स्वीकार करते हुए बेसिक शिक्षा योजना को 1944 में लागू कर दिया।

वर्धा शिक्षा योजना गाँधी का शिक्षा के प्रति व्यावहारिक दृष्टिकोण था। जब वे बुनियादी तालीम की पाठ्यचर्या की बात करते हैं तब पूर्णतः प्रयोजनवादी प्रतीत होते हैं। शिक्षा के दर्शन एवं पाठ्यचर्या निर्माण के सिद्धांत में गाँधी ने कोई नयी पहल नहीं की, बल्कि भारत की तत्कालीन परिस्थितियों में शिक्षा के परम्परागत दर्शन एवं सिद्धांतों की बात की। इसके अतिरिक्त उन्होंने शिक्षा में भाषा के लिए मातृभाषा की बात कही। इस योजना में संसाधनों की कमी के कारण विद्यालयों को आत्मनिर्भर बनाने की चर्चा की गयी है। तमाम खूबियों के साथ बेसिक शिक्षा योजना में कुछ दोष भी थे। जैसे, हस्तशिल्प क्रिया पर बहुत कम बल, समय-सारणी में शारीरिक श्रम के लिए मात्र दस मिनट की अवधि आदि। आज भी भारत के ग्रामीण क्षेत्रों, छोटे शहरों एवं कस्बों में वे ज़रूरतें किसी न किसी रूप में उपस्थित हैं जिनकी शिनाख्त 1937 की वर्धा शिक्षा योजना में की गयी थी।

देखें : औपनिवेशिक शिक्षा, गिजूभाई बधेका, धोंडो केशव कर्वे।

संदर्भ

1. बी.जी. सिंह (2010), *भारत में शिक्षा का अधिकार एवं प्रारम्भिक शिक्षा*, शारदा बुक डिपो, इलाहाबाद.
2. एम.के. गाँधी (1951), *बेसिक एजुकेशन*, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद.
3. जे.पी. नाइक (1966), *एलीमेंट्री एजुकेशन इन इण्डिया*, एशिया पब्लिशिंग हाउस, मुम्बई.

— बाल गोविंद सिंह

व्यवहारवाद

(Behaviourism and Behaviouralism)

हिंदी का पद व्यवहारवाद समाज-विज्ञान के दो पदों, बिहेवियरिज्म और बिहेवियरलिज्म, के लिए काम आता है। संस्कृति-अध्ययन ने बिहेवियरिज्म को मनोविज्ञान से लेकर अपनाया है। व्यवहारवाद की इस क्रिस्म के अनुसार मनोविज्ञान केवल तभी सच्ची वैज्ञानिकता का वाहक हो सकता है जब वह अपने अध्ययन का आधार व्यक्ति की मांसपेशीय और ग्रंथिमूलक अनुक्रियाओं को बनाये। राजनीति-विज्ञान में बिहेवियरलिज्म एक ऐसा प्रभावशाली राजनीतिक सिद्धांत है जिसने राजनीतिक अध्ययन करने में मूल्यों को तरजीह देने का विरोध किया। व्यवहारवाद की यह क्रिस्म राजनीति को प्राकृतिक विज्ञानों के तर्ज पर समझना चाहती है। व्यवहारवादी विद्वानों ने राजनीति को एक प्रणाली के रूप में देखा और गुणात्मक के बजाय मात्रात्मक विश्लेषण पर जोर दे कर उसे एक विशुद्ध विज्ञान बनाने की कोशिश की। दिलचस्प बात यह है कि बिहेवियरिज्म के प्रचलन के पीछे भी अमेरिकी विद्वानों का हाथ था और बिहेवियरियलिज्म तो राजनीति-विज्ञान पर अमेरिकी छाप के रूप में जाना ही जाता है। दोनों अनुशासनों की नींव बीसवीं सदी की शुरुआत में पड़ी। पचास और साठ के दशक में वे अपने शिखर पर पहुँचे।

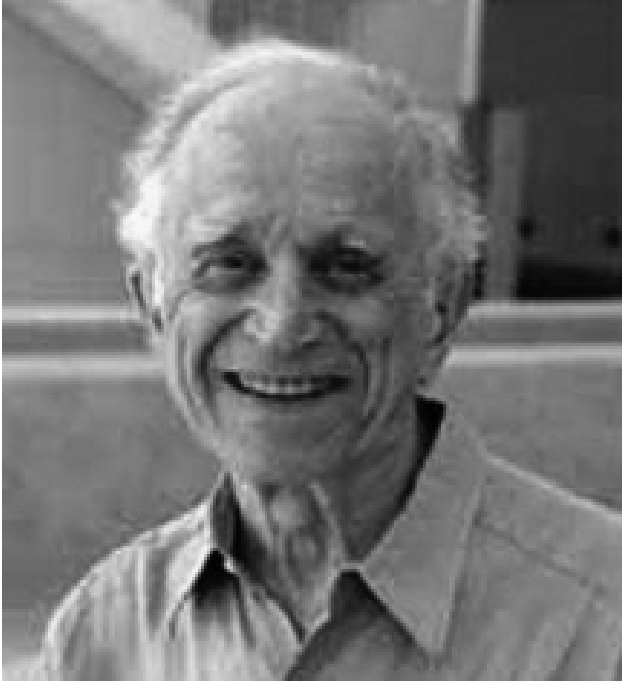
बिहेवियरलिज्म : अमेरिकी राजनीति-विज्ञान में बीसवीं सदी के दूसरे दशक से ही राजनीतिक सैद्धांतिकी को अधिकाधिक विज्ञानसम्मत बनाने के रुझान पैदा होने लगे थे। राजनीति-विज्ञान के पिता समझे जाने वाले चार्ल्स मेरियम के नेतृत्व में राजनीतिक विचार का ऐतिहासिक अध्ययन करने के साथ-साथ इस विद्या को राजनीतिक व्यवहार के वैज्ञानिक अध्ययन पर आधारित करने की कोशिशें शुरू हो चुकी थीं। इसका मकसद था राजनीति-विज्ञान को व्यावहारिक राजनीतिक लक्ष्यों की सेवा में लगाना। मेरियम के ये सरोकार तीस और चालीस के दशक में आये आर्थिक-राजनीतिक संकट के कारण मंद हो गये, लेकिन इनका उभार एक बार फिर पचास के दशक में हुआ। इसे राजनीति-विज्ञान में व्यवहारवादी क्रांति की संज्ञा दी गयी जिससे इस अनुशासन के भविष्य को गहराये से प्रभावित किया। साठ के दशक में इस व्यवहार के प्रमुख प्रवक्ता के रूप में डेविड ईस्टन की रचनाएँ सामने आयीं।

इस दौर में शीत-युद्ध अपने चरम पर था जिसके प्रभाव में राजनीति को एक निश्चित मूल्य-प्रणाली की दृष्टि से देखने वाले आग्रहों का अवमूल्यन हुआ। अमेरिकी विद्वानों

ने राजनीति-विज्ञान को नागरिक-शिक्षण और राजनीतिक सुधारों का जरिया बनाने के बजाय विशुद्ध विज्ञान बनाने की ठानी। उनके इस संकल्प के पीछे तर्कपरक प्रत्यक्षवाद था जिसका जन्म इंद्रियानुभववाद के गर्भ से हुआ था। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद पचास और साठ के दशक में नयी पीढ़ी के समाज-वैज्ञानिकों ने राजनीति की समझ बनाने के लिए औपचारिक संस्थाओं की सत्ता और प्राधिकार पर विचार करने या राजनीतिक विचारों का इतिहास खँगालने के बजाय 'तथ्यों के अध्ययन' पर जोर देना उचित समझा। इसके तहत आग्रह किया गया कि राजनीति का विज्ञानसम्मत अध्ययन तभी सम्भव है जब किसी भी तरह के नीतिगत, निजी या आस्थागत रुझान से साफ़ बचते हुए सिर्फ तथ्यों और आँकड़ों के दम पर राजनीति और समाज को समझने के मॉडल बनाये जाएँ। औपचारिक संस्थाओं की जगह मतदाताओं, हित-समूहों, राजनीतिक दलों और अन्य राजनीतिक कर्त्ताओं के व्यवहार पर रोशनी डाली जाए। इसी के साथ औपचारिक पदों पर बैठे विधिकर्त्ताओं, अधिकारियों और न्यायाधीशों वगैरह के तौर-तरीकों की जाँच की जाए। इस व्यवहारवादी समाज-विज्ञान ने राजनीतिक दर्शन की उपयोगिता को एकदम टुकरा दिया और सभी तरह के मानकीय प्रश्नों और विचार-विमर्श से किनारा कर लिया। यह दृष्टि बहुत कुछ प्राकृतिक विज्ञानों से ली गयी थी।

इसी योजना के तहत नार्मेटिव (मानकीय) की जगह इम्पिरिकल (तथ्यात्मक और अनुभवसिद्ध) विश्लेषण पद्धति और अनुसंधान पर जोर दिया जाने लगा। राजनीतिक व्यवहार और राजनीतिक प्रक्रियाओं के तथ्यपरक अध्ययन और विवेचन को तरजीह दी गयी, सर्वेक्षण-तकनीकें अपनायी जाने लगीं, राजनीतिक तंत्रों को मॉडलों के रूप में समझने का सिलसिला शुरू हुआ और चुनाव आदि के आँकड़ों के विश्लेषण के माध्यम से राजनीतिक व्यवहार का सूत्रीकरण किया जाने लगा। व्यवहारवाद के इस हस्तक्षेप ने राजनीतिक-विज्ञान में रिसर्च का एजेंडा पूरी तरह बदल डाला। अमेरिकी संस्थानों ने भी इस तरह के अनुसंधान में जम कर संसाधनों का निवेश किया और सारी दुनिया में राजनीति को समझने के लिए व्यवहारवादी शोध की धूम मच गयी।

दिलचस्प बात यह है कि जिन दिनों व्यवहारवाद अपना दबदबा बना रहा था, समाज-विज्ञान में उसकी आलोचना भी पनप रही थी। तीस के दशक से ही अमेरिका में जर्मनी से ऐसे विद्वानों के आने का ताँता लगा हुआ था जो समाज-विज्ञान को अपने मानकीय सरोकारों से अलग करके वस्तुनिष्ठ विज्ञान बनाने के पक्ष में नहीं थे। इनमें प्रमुख थे लेवी-स्ट्रॉस, एरिक वोजलिन, हान्ना अरेंट, थियोडोर एडोर्नो और हरबर्ट मारक्यूज़। वामपंथी हों या दक्षिणपंथी, विद्वत्ता के क्षेत्र में इन विद्वानों ने उस अमेरिकी रवैये से असहमति व्यक्त



डेविड ईस्टन (1917-)

की जो वैज्ञानिकता, उदारतावाद और ऐतिहासिक प्रगति के पक्ष में अत्यधिक झुका हुआ था। इन लोगों ने व्यवहारवादियों के इस दावे का खण्डन किया कि मानकीय आधार पर विकसित हुई राजनीतिक सैद्धांतिकी का जमाना अब गुजरता जा रहा है। स्ट्रॉस ने कहा कि राजनीति को नया विज्ञान बनाने की कोशिशों में निहित प्रत्यक्षवादी रवैयों के कारण राजनीति की बेहतर समझ बनाना नामुमकिन होता जा रहा है। पूरे पचास के दशक में राजनीतिक सिद्धांत को केंद्र बना कर व्यवहारवाद और उसके आलोचकों के बीच बहस छिड़ी रही। इसी के परिणामस्वरूप साठ के दशक में राजनीतिक सिद्धांत की दुनिया तीन श्रेणियों में बँट गयी। एक श्रेणी में वे सिद्धांतकार आते थे जिनकी प्राथमिकता राजनीतिक विचारों के इतिहास को केंद्र बना कर अध्ययन-मनन की थी। दूसरी श्रेणी मानकीय राजनीतिक सिद्धांत की और तीसरी श्रेणी राजनीतिक के तथ्यात्मक अनुभवसिद्ध ज्ञान पर आधारित थी। तीसरी श्रेणी के प्रमुख हस्ताक्षर डेविड ईस्टन, कार्ल ड्यूश और रॉबर्ट दाहल थे जिन्होंने जिन्होंने एक इलाके के तथ्यों का विश्लेषण करते हुए मॉडल रचे और सामान्य सिद्धांतों की रचना कर डाली।

साठ के दशक के अंत में व्यवहारवादियों को कई क्षेत्रों से आलोचना के नये दौर का सामना करना पड़ा। राजनीति के अध्ययन को विशुद्ध विज्ञान बना देने के आग्रहों पर आरोप लगा कि उनके कारण उस दौर के कई सामाजिक और राजनीतिक मुद्दों की समझ विकसित नहीं हो पायी है। इस आलोचना की रोशनी में ईस्टन ने व्यवहारवाद में संशोधन तजवीज़ किया और उसे 'पोस्ट-बिहेवियरल रेवोल्यूशन' की

संज्ञा दी। सत्तर और अस्सी के दशक में व्यवहारवाद की इसी संशोधित छवि का विकास होता रहा जिसके तहत वैज्ञानिक पद्धति और तकनीक के साथ-साथ राजनीति-विज्ञान के सामाजिक और मूल्यगत दायित्वों का भी ध्यान रखा गया। सत्तर के दशक में ही तर्कपरक प्रत्यक्षवाद की आलोचनाएँ सामने आयीं जिन्होंने समाज-विज्ञान के दर्शन को प्रभावित किया। यही वह दौर था जिसमें युरगन हैबरमास, रॉबर्ट नॉज़िक और जॉन रॉल्स की रचनाएँ प्रकाशित हुईं जो व्यवहारवाद के बजाय मानकीय राजनीतिक सिद्धांत की कवायद पर आधारित थीं।

भारतीय समाज-विज्ञान पर भी साठ और सत्तर के दशक में इस प्रवृत्ति का असर पड़ा। विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सीएसडीएस) के विद्वानों ने इस दौर में रजनी कोठारी के नेतृत्व में भारतीय राजनीति को समझने के लिए विचारधारात्मक रुझानों से मुक्त मॉडल बनाने का प्रयास किया। लेकिन जल्दी ही साफ़ हो गया कि कोठारी के इस मॉडल में इम्पिरिकल आग्रहों के साथ-साथ तथ्यों के मूल्यांकन के लिए समाज-विज्ञान के मानकीय आयामों का भी सहारा लिया गया है।

बिहेवियरिज़म : मनोविज्ञान में व्यवहारवाद की शुरुआत बीसवीं सदी के पहले दशक में जे.बी. वाटसन द्वारा की गयी। उन दिनों मनोवैज्ञानिकों से माँग की जा रही थी कि वे आत्म-विश्लेषण की तकनीक विकसित करें। वाटसन का कहना था कि इसकी कोई ज़रूरत नहीं है क्योंकि किसी व्यक्ति का व्यवहार उसकी भीतरी और निजी अनुभूतियों पर आधारित नहीं होता। वह अपने माहौल से निर्देशित होता है। मानसिक स्थिति का पता लगाने के लिए किसी बाह्य उत्प्रेरक के प्रति व्यक्ति की अनुक्रिया का प्रेक्षण करना ही काफी है। वाटसन के इस सूत्रीकरण के बाद व्यवहारवाद अमेरिकी मनोविज्ञान में प्रमुखता प्राप्त करता चला गया। एडवर्ड हुदरी, क्लार्क हुल और बी.एफ. स्किनर ने व्यवहारवाद के सिद्धांत को अधिक परिष्कृत स्वरूप प्रदान किया। इन विद्वानों की प्रेरणा से मनोचिकित्सकों ने व्यवहारमूलक थेरेपी की विभिन्न तकनीकें विकसित कीं ताकि मनोरोगियों को तरह-तरह की भीतों और उन्मादों से छुटकारा दिलाया जा सके।

देखें : अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफ़लातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, उपयोगितावाद, एडमण्ड बर्क, क्रांति, ज्यॉ ज़ाक रूसो, जॉन लॉक, जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, न्याय, न्याय : नारीवादी आलोचना, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, राजनीति में व्यक्ति की भूमिका, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, प्रतिनिधित्व, प्रगति, प्रगति : आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य, प्रशासन, फ़ासीवाद, फ्रेड्रिख वॉन हायक, बहुसंस्कृतिवाद, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, बुद्धिवाद, माइकेल जोसेफ़ ओकशॉट, माइकिल वालज़र, मिशेल पॉल फ़ूको-1

और 2, यूटोपिया, राजनीतिक और राजनीति, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम-1 और 2, राजनीतिक मनोविज्ञान, राजनीतिक समाजशास्त्र, राज्य-1 और 2, रॉबर्ट नॉज़िक, राज्य-1 और 2, राष्ट्र-राज्य, राष्ट्र : सांस्कृतिक या राजनीतिक, राष्ट्रवाद, राष्ट्रवाद का इतिहास, लोकतंत्र, लोकतंत्र की आलोचनाएँ, व्यक्तिवाद, विल किमलिका, सविनय अवज्ञा, स्वतंत्रतावाद, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकारियत, सामाजिक समझौता, हेनरी डेविड थोरो।

संदर्भ

1. डी. रिकी (1984), *द ट्रेजेडी ऑफ़ पॉलिटिकल साइंस*, येल युनिवर्सिटी प्रेस, न्यू हैविन, कनेक्टिकट.
2. डी. वाल्डो (1975), 'पॉलिटिकल साइंस : ट्रेडिशन, डिसिप्लिन, प्रोफ़ेशन, साइंस, एंटरप्राइज़', एफ. ग्रीनस्टाइन और एन. पोल्बी (सम्पा.), *द हैंडबुक ऑफ़ पॉलिटिकल साइंस*, खण्ड 1, एडिसन-वेजली, रीडिंग, मेसाचुसेट्स.
3. बी.एफ. स्किनर (1974), *एबाउट बिहेवियरिज़म*, जोनाथन कैप, लंदन.

— अभय कुमार दुबे

व्लादिमिर इलीच लेनिन

(Vladimir Ilyich Lenin)

रूस की अक्टूबर क्रांति के सर्वोच्च नेता, दुनिया के पहले समाजवादी राज्य सोवियत संघ के संस्थापक और आधुनिक साम्यवाद के पितामह व्लादिमिर इलीच लेनिन (1870-1924) की बौद्धिक और सांगठनिक सफलताओं के कारण ही बीसवीं सदी की राजनीति पर मार्क्सवाद अपनी निर्णायक छाप छोड़ सका। रूस जैसे औद्योगिक रूप से पिछड़े हुए देश में मजदूर वर्ग की अगुआई में कम्युनिस्ट क्रांति करने और उसके जरिये विश्व भर में क्रांतिकारी आंदोलनों की धारा प्रोत्साहित करने के लिए लेनिन ने मार्क्सवादी सिद्धांत में मुख्यतः तीन मौलिक योगदान किये। पहला, उन्होंने मजदूर वर्ग की क्रांतिकारी पार्टी की संरचना, समाज में वर्गों के साथ उसके संबंध और राजनीतिक गोलबंदी में उसकी भूमिका का सैद्धांतिक सूत्रीकरण किया। दूसरा, साम्राज्यवाद को पूँजीवाद की चरम अवस्था के रूप में परिभाषित करके लेनिन ने तत्कालीन मार्क्सवाद को उस बहस की जकड़ से निकाला जिसके तहत विद्वानगण और नेता सिर्फ़ यह विचार करते रहते थे कि विकसित पूँजीवादी देशों में क्रांति होने की मार्क्स की भविष्यवाणी क्यों सफल नहीं हुई। तीसरा, मार्क्स के कुछ उपेक्षित पड़े हुए सूत्रीकरणों को रेखांकित करते हुए लेनिन ने

सर्वहारा की तानाशाही का चरित्र स्पष्ट किया और मजदूर वर्ग की हुकूमत के चरित्र की सैद्धांतिक-संरचनागत व्याख्या की। लेनिन का एक अन्य मौलिक योगदान राष्ट्रीयता के सवाल पर आत्म-निर्णय के अधिकार का सूत्रीकरण है। राष्ट्रीय उत्पीड़न के सवाल को औपनिवेशिक प्रश्न से सीधे-सीधे जोड़ कर उन्होंने तत्कालीन मार्क्सवाद को सैद्धांतिक और व्यावहारिक अग्रगति देने में सफलता प्राप्त की।

अपने इन तीनों योगदानों के लिए लेनिन को दूसरे सोशलिस्ट इंटरनैशनल के नेताओं से ही संघर्ष नहीं करना पड़ा, उन्होंने रूसी मार्क्सवाद के पहले से स्थापित विद्वानों और नेताओं की कड़ी आलोचना और तीखे बहस-मुबाहिसे का सामना भी करना पड़ा। यहाँ तक कि बोल्शेविकों के प्रति दोस्ताना भाव और हमदर्दी रखने वाले रोज़ा लक्ज़ेम्बर्ग जैसे सिद्धांतकारों ने भी लेनिन के कई सूत्रीकरणों को आलोचना की कसौटियों पर कसा। लेकिन रूसी कम्युनिस्ट आंदोलन के विकास ने हर मोड़ पर लेनिन को ही सही साबित किया, जबकि उनके आलोचक अपने-अपने देशों में क्रांतियाँ सम्पन्न नहीं कर पाये। लेनिन की इस व्यावहारिक कामयाबी ने उनके सिद्धांतों की साख़ बढ़ाने में प्रमुख भूमिका निभायी। व्यवहार और सिद्धांत के इस अनूठे मेल के कारण सारी दुनिया ने उनका लोहा माना, और उनके विचार बीसवीं सदी में मार्क्सवाद के पूरक बन गये। आज लेनिन द्वारा स्थापित सोवियत संघ का निशान भी मिट चुका है, लेकिन इसके बावजूद उनके विचार सारी दुनिया में होने वाली राजनीतिक बहसों के लिए प्रासंगिक बने हुए हैं।

वोल्गा नदी के किनारे बसे एक प्रांतीय शहर शिम्बुर्स्क में एक मध्यवर्गीय शिक्षित परिवार में 22 अप्रैल, 1870 को जन्मे व्लादिमिर इलीच उल्यानोव (पार्टी का नाम लेनिन) के पिता सरकारी स्कूलों के निदेशक थे। उनके बड़े भाई अलेक्सान्दर को क्रांतिकारियों के साथ मिल कर ज़ार की हत्या करने की साज़िश के आरोप में फ़ाँसी पर चढ़ा दिया गया। उस समय लेनिन की उम्र 17 साल की थी। अपने प्यारे भाई की राजनीतिक हत्या से लेनिन को ज़बरदस्त धक्का लगा, लेकिन इस दुःख के बावजूद असाधारण संयम और दृढ़ता का प्रदर्शन करते हुए सर्वश्रेष्ठ अंकों के साथ परीक्षा पास की और कज़ान विश्वविद्यालय में दाख़िला लिया। लेकिन इसी साल ज़ारशाही के ख़िलाफ़ एक प्रदर्शन में भाग लेते हुए गिरफ़्तार होने के बाद उन्हें विश्वविद्यालय से निकाल दिया गया। 1891 में उन्होंने सेंट पीटर्सबर्ग के विश्वविद्यालय से क़ानून की परीक्षा पास की। वकील के रूप में कुछ महीने गुज़ारने के बाद वे एक पूर्णकालिक पेशेवर क्रांतिकारी हो गये। शुरुआत में उनके मानस पर उन्नीसवीं सदी के रूसी क्रांतिकारियों और गोपनीय राजनीति करने वाले लोकप्रिय आंदोलन *नरोदनाया वोल्या* (जन-इच्छा) की गतिविधियों की



व्लादिमिर इलीच लेनिन (1870-1924)

गहरी छाप थी। ज़ार विरोधी राजनीतिक गतिविधियों के कारण उन्हें 1900 से 1905 तक देश-निकाले का सामना करना पड़ा। इस दौरान म्युनिख, लंदन और जिनेवा में अपनी पत्नी क्रुप्सकाया के साथ अत्यंत अभावग्रस्त और कठोर जीवन बिताते हुए भी उन्होंने रूस में रैडिकल आंदोलन को निर्देशित करना जारी रखा। जिनेवा में उन्होंने अपने से वरिष्ठ रूसी मार्क्सवादी नेता और विद्वान गियोगी प्लेखानोव के साथ मिल कर *ईस्क्रा* (चिंगारी) नामक पत्रिका का प्रकाशन किया।

हर परिस्थिति में वर्ग-शक्तियों का संतुलन समझने की आवश्यकता और वर्ग-संघर्ष की केंद्रीयता रेखांकित करने वाले लेनिन ने प्रचुर वैचारिक साहित्य रचा। क्रांति-प्रक्रिया की उलझनें सुलझाने के मकसद से लिखी गयी उनकी ज़्यादातर रचनाएँ विवादात्मक शैली की हैं। लेनिन रूसी सामाजिक जनवादी दल (आरएसडीपी) को जर्मनी की सामाजिक जनवादी पार्टी (एसपीडी) की तर्ज पर एक जन-आधारित संगठन बनाने के खिलाफ़ थे। रूस मुख्यतः एक खेतिहर देश था। मज़दूरों की संख्या जर्मनी के मुकाबले बहुत कम थी। ऊपर से ज़ारशाही की निरंकुशता के आरएसडीपी को भूमिगत राजनीति करनी पड़ती थी। 1902 में प्रकाशित अपनी विख्यात रचना *क्या करें?* में लेनिन ने कहा कि ऐसी परिस्थितियों के लिए रूसी कम्युनिस्टों को एक नये तरह की पार्टी बनानी चाहिए जो छोटी हो और जिसका संचालन मार्क्सवादी सिद्धांत में पूरी तरह से पारंगत समर्पित पेशेवर क्रांतिकारियों के हाथ में हो। ऐसी पार्टी के सांगठनिक उसूल को लेनिन ने लोकतांत्रिक केंद्रवाद की संज्ञा दी। इसके

मुताबिक़ पार्टी में निचले से ऊँचे स्तर तक किसी भी प्रश्न पर खुली बहस चलाई जा सकती थी, पर एक बार फ़ैसला हो जाने के बाद पार्टी को अनुशासित ढंग से उसे लागू करना था। लेनिन की यह पार्टी सर्वहारा के हरावल की तरह कल्पित की गयी थी। अर्थात् उसे मज़दूर वर्ग से अलग न हो कर उसके सर्वाधिक वर्ग-सचेत और राजनीतिक रूप से सक्षम सदस्यों का दल होना था। पारम्परिक मार्क्सवादियों की तरह लेनिन यह मानने के लिए तैयार नहीं थे कि मज़दूरों के आर्थिक संघर्षों से क्रांतिकारी चेतना का अपने-आप जन्म हो जाएगा। उनका कहना था कि ट्रेड यूनियनों क्रांति की पाठशाला ज़रूर हैं, पर उनसे ज़्यादा से ज़्यादा ट्रेड यूनियन चेतना ही पैदा हो सकती है। मज़दूर वर्ग में क्रांतिकारी चेतना का इंजेक्शन लगाने का काम तो क्रांतिकारी पार्टी को करना होगा। लेनिन के इन प्रस्तावों के कारण आरएसडीपी में विभाजन हो गया। लेनिन के साथ गये लोग बोल्शेविक कहलाये और प्लेखानोव जैसे परम्परानिष्ठ मार्क्सवादी नेताओं के साथ रह गये कम्युनिस्ट मेशेविकों के नाम से जाने गये। इस विभाजन का विश्लेषण लेनिन ने अपनी 1904 की रचना *एक कदम आगे, दो कदम पीछे* में किया।

प्लेखानोव का विचार था कि रूस में समाजवाद तब तक नहीं आ सकता जब तक ज़ारशाही के खात्मे के बाद पश्चिम युरोपीय तर्ज पर वहाँ पूँजीवाद के विकास का लम्बा दौर न चले। ऐसा होने पर ही वे परिस्थितियाँ बनेंगी जिनके तहत मज़दूर वर्ग सत्ता हस्तगत कर पायेगा। इस दलील को गलत साबित करने के लिए लेनिन 1899 में ही *द डिवेलपमेंट ऑफ़ कैपिटलिज़्म इन रशिया* लिख कर मार्क्सवाद में अपने मौलिक योगदान की बुनियाद डाल चुके थे। रूसी अर्थव्यवस्था से जुड़े सभी उपलब्ध आँकड़ों का इस्तेमाल करके लेनिन ने अपनी इस रचना में बड़ी सैद्धांतिक नफ़ासत के साथ दिखाया था कि श्रम बेच कर गुज़ारा करने की परिघटना रूसी समाज के सभी क्षेत्रों में व्याप्त हो चुकी है। लेकिन केवल औद्योगिक मज़दूर ही इतने सचेत हैं कि अपने श्रम के शोषण को समझ कर उसका विरोध कर सकें। जाहिर है कि प्लेखानोव के विपरीत यहाँ लेनिन का तर्क था कि रूस में उद्योगीकरण पश्चिमी युरोप के मुकाबले पिछड़ा हुआ ज़रूर है, पर वह इस स्तर पर पहुँच ही गया है कि सर्वहारा वर्ग सत्ता पर क़ब्ज़ा कर सके। लेनिन की निगाह में रूसी मज़दूर वर्ग स्थानीयता और अन्य संकीर्ण आग्रहों से परे जाते हुए समग्र रूस की राजनीतिक आवश्यकताओं का परिप्रेक्ष्य ग्रहण करने योग्य बन चुका था। उनका विचार था कि मज़दूर वर्ग की पार्टी को अपना श्रम बेच कर पेट भरने वाले किसानों का समर्थन जीतना होगा। वे ही मज़दूरों के स्वाभाविक मित्र हो सकते हैं, न कि पूँजीपति वर्ग का रैडिकल हिस्सा। प्लेखानोव रूसी किसानों को प्रतिक्रियावाद के आगार की

तरह देखते थे, पर लेनिन की मान्यता थी कि ये किसान चारशाही को उखाड़ फेंकने में मददगार साबित हो सकते हैं, बशर्ते उन्हें मजदूर वर्ग के नेतृत्व में गोलबंद किया जा सके। 1905 की क्रांति में लेनिन की कार्यनीति उनके इन्हीं सूत्रीकरणों पर आधारित थी।

प्रथम विश्व-युद्ध छिड़ते ही लेनिन ने तत्कालीन पूँजीवाद पर नये सिरे से सोचना शुरू किया। इस चिंतन का नतीजा उनकी सबसे विख्यात रचना *साम्राज्यवाद, पूँजीवाद की चरम अवस्था* (1916) के रूप में सामने आया। इस रचना में लेनिन ने माना कि बाज़ार की होड़ के प्रभाव में पूँजीवाद उत्पादक शक्तियों उत्तरोत्तर बेहतर बनाने की तरफ़ ले गया। इस प्रक्रिया में नयी विधियों और नवाचारों को प्रोत्साहन मिला। लेकिन पूँजीवाद की यह प्रगतिशील भूमिका नयी सदी की शुरुआत में उस समय ख़त्म हो गयी जब उसने इजारेदार स्वरूप ग्रहण कर लिया। वह प्रतिगामी हो कर उपनिवेशों के शोषण पर निर्भर हो गया। इस प्रक्रिया में पूँजीवाद के अंतर्विरोधों का सार्वभौमीकरण हो गया। लेनिन ने निष्कर्ष निकाला कि इसके परिणामस्वरूप युरोपीय समाजवादी क्रांति उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रीय मुक्ति संग्रामों से जुड़ गयी है। पूँजीवाद का विकास असमान हुआ है जिसके कारण दुनिया में आर्थिक संसाधनों के बँटवारे के लिए बार-बार युद्ध होने की अनिवार्यता सामने आ गयी है। जो पूँजीवाद घरेलू बाज़ार में होड़ से चलता था, वह अब पूँजीपति वर्ग के क़ब्जे वाले राज्यों के बीच फ़ौजी होड़ के जरिये पनपता है। इसी वजह से राज्य की संस्था का आकार बढ़ता चला गया है और वह उत्तरोत्तर दमनकारी होती जा रही है। लेनिन ने विश्लेषण किया कि पूँजीवाद का ऐतिहासिक मिशन कहीं पीछे छूट चुका है। उसके इजारेदार रूप ने बैंकों के पास पूँजी का संकेंद्रण करके उत्पादन और वितरण को ट्रस्टों और कार्टेलों के हवाले करके एक ऐसे तंत्र की रचना कर डाली है जिसमें निर्वाचित शासन द्वारा संसाधनों का तर्कसंगत आबंटन किया जाता है। इस तरह पूँजीवाद ने अपने साम्राज्यवादी चरण में अंतर्राष्ट्रीय समाजवादी रूपांतरण के लिए वस्तुगत परिस्थितियों को जन्म दे दिया है।

फ़रवरी क्रांति के फ़ौरन बाद अस्थायी सरकार की पुलिस से बचने के लिए फ़िनलैण्ड में प्रवास करते हुए लेनिन ने मार्क्स द्वारा पेश किये गये पेरिस कम्यून के विवरण पर चढ़ गयी वक्रत की धूल झाड़-पोंछ कर साफ़ की। मार्क्स ने अपनी दो रचनाओं *द एट्टीथ बुमेर ऑफ़ लुई बोनापार्ट* और *द सिविल वार इन फ़्रांस* में जोर दे कर कहा था कि अभी तक की क्रांतियाँ राज्य-तंत्र पर क़ब्ज़ा करके उसे अपने इस्तेमाल के लायक बनाती हैं। जबकि मजदूरों की क्रांति का मक़सद तो पहले से चले आ रहे राज्य-तंत्र को नष्ट करके उसकी जगह एकदम नये क्रिस्म का राज्य स्थापित करना चाहिए जो

अपनी स्थापना के पहले दिन से ही तिरोहित होने लगे। मार्क्स एक ऐसे राज्य की परिकल्पना कर रहे थे जिसमें हुकूमत के काम ज़्यादा से ज़्यादा आम लोगों के हाथ में होंगे जिसके कारण एक विशेषाधिकारप्राप्त अल्पसंख्यकों (नौकरशाही, फ़ौज और अन्य राजकीय कर्मचारी) में सत्ता के आरोपण की ज़रूरत ही नहीं रह जाएगी।

राज्य और क्रांति में लेनिन ने मजदूरों के राज्य के लिए पेरिस कम्यून के मॉडल की सिफ़ारिश की। उन्होंने कम्यून को समाजवाद के बुनियादी प्रशासनिक ढाँचे की तरह और सोवियतों (प्रत्यक्ष निर्वाचन से चुनी गयी मजदूरों-किसानों की परिषदें) को रैडिकल लोकतंत्र की अभिव्यक्तियों की तरह देखा। उनके लिए सोवियत का मतलब था एक तरह का रैडिकल लोकतंत्र जिसके तहत जनता को न केवल प्रतिनिधियों की वापसी का अधिकार मिलना था, बल्कि सोवियतों के पास विधायी, कार्यकारी, न्यायिक और क्रानून-व्यवस्था लागू करने के अधिकार भी होने थे। सोवियतों पर आधारित लोकतंत्र माध्यम से लेनिन पूँजीवादी राज्य के ढाँचे को प्रतिस्थापित करना चाहते थे जिनमें मजदूरों की कौंसिलों को प्रमुख भूमिका निभानी थी। यह प्रत्यक्ष लोकतंत्र तो नहीं था, पर लोकप्रिय सत्ता का अर्ध-प्रत्यक्ष लोकतंत्र अवश्य था। यह थी लेनिन की निगाह में सर्वहारा की तानाशाही जिसका मक़सद लोकतंत्र का रैडिकल विस्तार था, न कि उसका ख़ात्मा। ख़ास बात यह है कि लेनिन ने अपनी अन्य रचनाओं के मुकाबले इस कृति में पार्टी के लिए केंद्रीय भूमिका की बजाय सहायक भूमिका की संस्तुति की है। पूरी किताब में पार्टी की ज़िंक्र केवल तीन बार आता है जिसमें से केवल एक बार वे पार्टी को सामाजिक जीवन के संचालन और संगठन के मक़सद से नेतृत्व की भूमिका में रखते हैं। यह पुस्तक दरअसल किसी की मध्यस्थता से पूरी तरह मुक्त लोकप्रिय शासन की संकल्पना करती है।

दुर्भाग्य से सोवियतों के रैडिकल लोकतंत्र का यह विचार अक्टूबर क्रांति के बाद धरती पर नहीं उतारा जा सका। मई, 1918 में लेनिन ने अपने ही इन विचारों के आधार पर रैडिकल डेमोक्रेसी की माँग करने वाले बोल्शेविक वामपंथियों के रवैये को लफ़फ़ाजी और बचकाने मर्ज़ की संज्ञा दी। असल में क्रांति के बाद परिस्थिति पूरी तरह से बदल चुकी थी। लेनिन रूसी क्रांति की सफलता को एक राष्ट्रीय परिघटना के रूप में न देख कर अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से देखते थे। इसका मतलब यह था कि अक्टूबर क्रांति के बाद युरोप के अन्य देशों में भी क्रांति होनी चाहिए थी, और केवल तभी सोवियत संघ राजनीतिक-सामाजिक विकास के इच्छित रास्ते पर चल सकता था। इसी युरोपीय क्रांति का इंतज़ार करते हुए शुरुआती दौर में क्रांति को पूँजीवादी देशों द्वारा की गयी आर्थिक-राजनीतिक घेरेबंदी, सशस्त्र हस्तक्षेप,

गृह युद्ध और कई तरह के अन्य गम्भीर संकटों का सामना करना पड़ा। अनुभव की कमी के कारण भी नये सोवियत राज्य से कई गलतियाँ हुईं जिन्हें लेनिन ने समय-समय पर स्वीकारा भी। इन दिक्कतों से निबटने के लिए लेनिन और उनके साथियों ने केंद्रीकरण, राज्य की ताकत और प्रशासनिक तौर-तरीकों का अधिकाधिक सहारा लिया। उत्पादन तेजी से बढ़ा कर पूँजीवादी देशों का मुक़ाबला करने के मक़सद से खुद लेनिन ने फैक्ट्रियों को मज़दूर कौंसिलों के अधीन करने के टेलर सिस्टम के तर्ज पर 'वन मैन मैनेजमेंट' की पद्धति की वकालत की। इन तमाम कारणों से सर्वहारा की तानाशाही में लोकतंत्र की मात्रा न के बराबर ही रह गयी और वह एक पार्टी की तानाशाही में पतित होने लगा। पार्टी के संचालन का सिद्धांत लोकतांत्रिक केंद्रवाद विस्तृत हो कर सामाजिक संगठन के उसूल के तौर पर देखा जाने लगा।

जीवन के अंतिम दौर में लेनिन सोवियत राज्य और पार्टी के इन रुझानों के प्रति बहुत चिंतित थे। उन्होंने पार्टी और राज्य के आमूल-चूल पुनर्गठन के बारे में सोचना शुरू कर दिया था। 1922 और 1923 की उनकी रचनाओं में इस बात से सुराग साफ़ तौर पर मिलते हैं। लेकिन, बिगड़ते हुए स्वास्थ्य ने उन्हें अपने चिंतन को धरती पर उतारने की गुंजाइश नहीं दी। दूसरी बार दिल के दौरों को उनका पहले से ही कमजोर शरीर झेल नहीं पाया और 21 जनवरी, 1924 को मास्को से थोड़ी दूर गोर्की गाँव में उनका देहांत हो गया।

देखें : अर्नेस्टो चे गुएवारा, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, आंगिक बुद्धिजीवी, एंतोनियो ग्राम्शी, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-1 से 4 तक, क्रांति, क्रांति : मार्क्सवादी विमर्श, ग्योर्गी लूकाच, नयी सदी में मार्क्सवादी विमर्श-1 से 9 तक, निष्क्रिय क्रांति, पेटी बूर्ज्वा, फ्रेड्रिख एंगेल्स, फ्रैंकफ़र्ट स्कूल, भारत में किसान संघर्ष-2 और 4, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), भारतीय इतिहास लेखन, भाषा का मार्क्सवादी सिद्धांत, भ्रांत चेतना, बोलशेविक क्रांति, फ्रांस्वा-चाल्स मारी फूरिये, क्यूबा की क्रांति, फ्रेंज़ फ़ानो, हिंसा-1 और 2, मानवेंद्र नाथ राय, माओ त्से-तुंग, माओवाद और माओ विचार, मार्क्सवाद-1 से 5 तक, मार्क्सवादी इतिहास-लेखन, मार्क्सवादी समाजशास्त्र, मार्क्सवाद और पारिस्थितिकी, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, माइकिल बाख़िन, समाजवादी वसंत-1 से 4 तक, रॉबर्ट ओवेन, राज्य की मार्क्सवादी अवधारणा, रोज़ा लक्ज़ेम्बर्ग, लेनिनवाद, लियोन ट्रॉट्स्की, लिबेरेशन थियोलॉजी, सर्वहारा, सांस्कृतिक क्रांति, सैं-सिमो, स्तालिन और स्तालिनवाद, सोवियत समाजवाद-1 से 3 तक, सोवियत सिनेमा, वर्चस्व।

संदर्भ

1. एन.के. क्लूप्सकाया (1970), *रेमिनिसेंसिज़ ऑफ़ लेनिन*, इंटरनैशनल पब्लिशर्स, न्यूयॉर्क.
2. वी.आई. लेनिन (1960-70), *संकलित रचनाएँ*, 45 खण्ड, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मास्को.

3. आर.सी. टकर (1975), *द लेनिन एंथोलॉजी*, डब्ल्यू.डब्ल्यू. नॉर्टन, न्यूयॉर्क.
4. एन. हार्डिंग (1975, 1981), *लेनिन्स पॉलिटिकल थॉट*, दो खण्ड, सेंट मार्टिस प्रेस, न्यूयॉर्क.
5. ए.बी. उलम (1966), *लेनिन एंड द बोलशेविक्स*, सेकर एंड वारबर्ग, लंदन.

— अभय कुमार दुबे

व्याख्या-शास्त्र

(Hermeneutics)

किसी भी पाठ या वैचारिक संरचना को समझने और उसका भाष्य करने की विधियाँ व्याख्या-शास्त्र के तहत आती हैं। ज़रूरी नहीं कि यह प्रक्रिया विवादात्मक हो, पर हरमेनेटिक्स के ज़रिये कोई एक विद्वान किसी पाठ के साथ जूझता हुआ अपनी ही धारणाओं से विवाद करता रह सकता है। यह अनुशासन इस बुनियादी मान्यता पर आधारित है कि इस जगत की संतोषजनक व्याख्या महज़ प्राकृतिक विज्ञानों द्वारा बतायी गयी विधियों से नहीं हो सकती। मानवीय गतिविधियाँ और उन्हें व्यक्त करने वाले पाठ किसी न किसी सामाजिक-सांस्कृतिक दायरे में ही सम्पन्न होते हैं। इसलिए उनका अर्थ-ग्रहण करने के लिए उस दायरे से सूचित होना ज़रूरी है। यूनानी देवताओं के दूत हरमीज़ के नाम से 'हरमेनुइन' और 'हरमेनुटाइनिक' शब्द बने जिनका मतलब होता है व्याख्या करना और व्याख्या की कला। इसकी अहमियत ईसाई धर्म-सुधार के बाद बढ़ी, क्योंकि प्रोटेस्टेंटों ने बाइबिल की सटीक व्याख्याओं पर जोर देना शुरू किया। हरमेनेटिक्स के संस्थापक फ्रेड्रिख डेनियल अंस्ट्रे श्लीरमाकर की गिनती प्लेटो के अध्येता के साथ-साथ महान प्रोटेस्टेंट धर्मशास्त्री के रूप में भी होती है। 1819 में उन्होंने अपने व्याख्यानों में पाठ और वक्तृता की व्याख्या का व्यवस्थित सिद्धांत पेश किया। उनसे पहले 1808 में प्लेटो के एक अन्य अध्येता फ्रेड्रिख एस्ट की रचना *एलिमेंट्स ऑफ़ ग्रामर, हरमेनेटिक्स एंड क्रिटिसिज़म* का प्रकाशन हो चुका था।

श्लीरमाकर के अनुसार व्याख्याकार का पहला काम तो यह है कि वह किसी पाठ को उसके मूल लेखक जितना तो समझे ही। इसके बाद दूसरे चरण में व्याख्याकार को मूल लेखक से भी बेहतर समझ बनाने की कोशिश करनी चाहिए। चूँकि व्याख्याकार को रचना करते समय लेखक के दिमाग की कोई जानकारी नहीं होती, इसलिए वह उन तमाम बातों की



फ्रेड्रिख डेनियल अंस्ट श्लीरमाकर (1768-1834)

जानकारी प्राप्त करने की कोशिश करता है जो लेखक के अवचेतन में रही होंगी। लेखक भी अपने अवचेतन का साक्षात्कार अपनी ही रचना को एक पाठ की तरह पढ़ते समय कर पाता है। पाठ की व्याख्या करने की यह प्रक्रिया दो तरह से चलती है : व्याकरण और भाषा की ज़मीन पर, और मनोविज्ञान के धरातल पर जिसके तहत लेखक की मनःस्थिति का विकास होता है। श्लीरमाकर कहते हैं कि व्याख्याकार न तो भाषा का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकता है और न ही लेखक के मानस का। इसलिए वह व्याकरण और मनोविज्ञान के बीच आवाजाही करता रहता है, और इस प्रक्रिया को किन्हीं तयशुदा नियमों के मातहत नहीं चलाया जा सकता। दरअसल, किसी भाषा, व्यक्ति या पाठ को तब तक पूरी तरह नहीं समझा जा सकता जब तक उसके सभी अंशों को अलग-अलग न समझ लिया जाए और उसके अंशों की समझ तभी बनायी जा सकती है जब उसका अर्थ सम्पूर्णता में ग्रहण कर लिया जाए। अर्थात् भाष्य के हर चरण में व्याख्याकार एक हरमेनुटिकल सरकिल (व्याख्यात्मक-वृत्त) में घूमता हुई सम्पूर्ण और अंश के बीच आवागमन करता रहेगा। कोई भी रचना किसी एक पाठ से अपना सम्पूर्ण अर्थ नहीं देती। हर पाठ के बाद उसकी समझ बढ़ती है।

श्लीरमाकर के बाद उनके जीवनीकार विल्हेल्म डिल्थी ने व्याख्या-शास्त्र के दायरे का विस्तार सभी तरह के मानवीय व्यवहार और उत्पादों तक किया। उन्होंने 'समझ' और 'व्याख्या' के बीच अंतर करते हुए कहा कि समझने का काम प्राकृतिक विज्ञानों का है, पर पाठ का व्याख्यात्मक अर्थ-ग्रहण सांस्कृतिक आयामों के साथ-साथ अतीत की सामाजिक संरचनाओं से निकले उत्पादों की रोशनी में किया जाना चाहिए।

व्याख्या-शास्त्र को और गहन बनाने का श्रेय मार्टिन हाइडैगर को जाता है। अपनी रचना *बीइंग ऐंड टाइम में* उन्होंने *दासीन* के रूप में एक ऐसे मानवीय अस्तित्व की अवधारणा पेश की जो खुद अपने वजूद के बारे में सवाल पूछता रहता है। हाइडैगर के लिए उनका *दासीन* व्याख्यात्मक अर्थ-ग्रहण के लौकिक ढाँचे का विधेयक तत्त्व है। वह हर समय व्याख्या की गतिविधि में संलग्न रहता है, क्योंकि अर्थ और उसकी प्राप्ति इस जगत में उसके वजूद की बुनियादी शर्त है। हाइडैगर का दावा है कि *दासीन* को हरमेनुटिकल सरकिल के बाहरी मुकाम से नहीं समझा जा सकता। इस तरह वे निष्कर्ष निकालते हैं कि सभी व्याख्याएँ मूलतः उसी तत्त्व की होती हैं जिसका अर्थ पहले ही निकाला जा चुका होता है।

हाइडैगर के शिष्य हैंस-गियोर्ग गैडमर ने 'दार्शनिक व्याख्या-शास्त्र' का सूत्रीकरण किया है। वे अपने गुरु की इस दलील को आगे बढ़ाते हैं कि व्याख्या की गतिविधि के ज़रिये ही किसी पाठ का अर्थ-ग्रहण होता है। गैडमर का पहला दावा तो यह है कि व्याख्या का आधार पूर्व-धारणा, पूर्व-दृष्टि और पूर्व-ज्ञान में निहित है। उनका दूसरा दावा है कि व्याख्या ज्ञानोदय-प्रदत्त मॉडल के हिसाब से आगे नहीं बढ़ती। अर्थात् वह एक खुले और बुद्धिसंगत मानक पर आधारित रास्ता नहीं अपनाती। इस तरह गैडमर श्लीरमाकर से प्रेरित हो कर नतीजा निकालते हैं कि व्याख्या का आधार तो पूर्वग्रह होता है। लेकिन इसके बाद श्लीरमाकर से अलग हटते हुए उनका विमर्श कहता है कि पाठ का तात्पर्य व्याख्या के शुरुआती या इच्छित प्रयोजन के मुताबिक नहीं प्राप्त होता, बल्कि भाषा, मानक, परम्परा और ऐसे ही उन तत्त्वों की वजह से होता है जिनकी सामग्री से आत्मपरकता रची जाती है। आत्मपरकताओं की अन्योन्यक्रिया से परम्परा निकलती है और परम्परा से व्याख्या से पहले का दृष्टि-बिंदु मिलता है।

इस विश्लेषण से स्पष्ट है कि व्याख्या पूर्वग्रह से बच कर नहीं की जा सकती। लेकिन गैडमर यह भी कहते हैं कि पूर्वग्रह व्याख्या को पूरी तरह से निर्धारित नहीं करता, क्योंकि व्याख्या पाठ और उसके पाठक के बीच होने वाला परस्पर-संवाद है। व्याख्याकार अपने काम की शुरुआत पूर्वग्रह से जरूर करता है, लेकिन पाठ में उसकी पूर्व-धारणाओं को बदल देने की क्षमता होती है। किसी पाठ को मनमाने ढंग से पढ़ने की कोशिश के खिलाफ पाठ की तरफ से प्रतिरोध किया जा सकता है। यह दोतरफ़ा सिलसिला व्याख्यात्मक प्रयोजन की सीमाओं से परे जाते हुए उसे दोनों सिरों से खोल देता है।

युरगन हैबरमास ने व्याख्या-शास्त्र के औज़ारों से किये जाने वाले विश्लेषण की अपर्याप्तताओं की तरफ़ इशारा किया है। वे कहते हैं कि इस सिद्धांत की दिलचस्पी दिन-प्रतिदिन की भाषा से मिलने वाली शब्दावली में हुई व्याख्या तक सीमित है। सामाजिक जीवन के प्रत्येक रूप के साथ उसका

संवाद कायम नहीं होता। जबकि जिन पाठों या उत्पादों की व्याख्या की जा रही होती है, हकीकत में वे इस दैनंदिन भाषा से स्वतंत्र परिस्थितियों की सामग्री से बनते हैं।

देखें : अस्तित्ववाद, आत्मनिष्ठता-वस्तुनिष्ठता, इयत्ता, इंद्रियानुभववाद, उत्तर-आधुनिकतावाद, उत्तर-औपनिवेशिकता, उदारतावाद, कल्पित समुदाय, घटनाक्रियाशास्त्र और एडमंड हसर, चेतना, तत्त्वमीमांसा और अस्तित्वमीमांसा, तात्त्विकतावाद, द्वैतवाद, परिणामवाद, बुद्धिवाद, भाववाद, भौतिकवाद, यथार्थवाद, यूटोपिया, यूटोपिया : अन्य परिप्रेक्ष्य, संरचनावाद और उत्तर-संरचनावाद, ज्ञानमीमांसा, ज्ञान का समाजशास्त्र।

संदर्भ

1. के. मुलर-वॉलमर (सम्पा.) (1986), *द हरमेनुटिक्स रीडर*, ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफर्ड.
2. पॉल रिकूर (1981), *हरमेनुटिक्स ऐंड द ह्यूमन साइंसिज*, अनु. और सम्पा. जे.बी. थॉमसन, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
3. हैंस-गियोर्ग गैडमर (1962/1975), *ट्रूथ ऐंड मैथड*, अनु. गैरेट बारडेन और जॉन कामिंग, शीड ऐंड वार्ड, लंदन.
4. मार्टिन हाइडेगर (1927/1962), *बीइंग ऐंड टाइम*, अनु. जॉन मैकक्वैरी और एडवर्ड रोबिंसन, ब्लैकवेल, ऑक्सफर्ड.

— अभय कुमार दुबे

व्यापारिक पूँजी और भारत की प्राक्-आधुनिकता-1

(Merchant Captial and India's Early-Moderntiy-1)

पूँजीवाद के विकास में व्यापारिक पूँजी की भूमिका पर अर्थशास्त्र के क्षेत्र में तो काफ़ी विचार-विमर्श हुआ ही है, इतिहासकारों ने भी इसे समझने में अपना योगदान दिया है। अर्थशास्त्र के एक पूरे प्रसंग के केंद्र में वणिकवाद (या व्यापारवाद), थॉमस मन जैसे वणिकवादी अर्थशास्त्रियों, उनके युग व रचनाओं की समीक्षा है। लेकिन व्यापारिक पूँजी के महत्त्व पर मध्ययुगीन इतिहास के दृष्टिकोण से उस समय एक भिन्न तरह की रोशनी पड़ी है जब इस युग का हाल बताने वाले इतिहासकारों ने खुद को 'अर्ली-मॉडर्न' परिघटना यानी प्राक्-आधुनिकता के आविष्कारक के तौर पर पेश करना शुरू किया। इतिहास-लेखन के इस उद्यम ने जब गैर-युरोपीय दुनिया पर अपनी ये स्थापनाएँ लागू कीं तो व्यापारिक पूँजी और प्राक्-आधुनिकता का आपसी संबंध और ज़्यादा रैडिकल लगने लगा। एक नया, पर बहसतलब, आग्रह यह निकल कर आया कि मध्य युग में व्यापारिक पूँजी की

गतिविधियाँ इस स्तर तक पहुँच चुकी थीं कि अगर औपनिवेशिक आधुनिकता का संसर्ग न भी मिला होता तो भी एशिया जैसे महाद्वीपों में स्थानीय संसाधनों और प्रक्रियाओं के दम पर सामाजिक संबंधों की प्रकृति पूँजीवादी और आधुनिक हो सकती थी।

'अर्ली-मॉडर्न' इतिहास-लेखन ने मध्ययुगीन समाज के उन रूपों को रेखांकित किया जिनके तहत व्यापारी वर्ग कारीगरों से माल बनवा कर मुनाफ़ा कमाने के लिए विश्व-मण्डी में भागीदारी करता था। इस प्रक्रिया में स्थानीय बाज़ारों और विश्व-बाज़ार के बीच एक तरह का संश्रय बनता जाता था। इस व्यापारी वर्ग की प्रबंधन शैली तत्कालीन सामाजिक सत्ता पर हावी कुलीनता और जन्मना श्रेणीक्रम पर आधारित सामंती वर्ग के मुकाबले कहीं अधिक बुद्धिसंगत थी। इस अर्ली-मॉडर्न अवधि में शासन-व्यवस्था बड़ी-बड़ी एकीकृत राजशाहियों के हाथ में थी। दरअसल, ये राजशाहियाँ खुद भी व्यापार में दिलचस्पी रखते हुए और भागीदारी करते हुए व्यापारियों और व्यापारिक मार्गों को संरक्षण देती थीं। इनके बिना व्यापारिक पूँजी और उसके वाहकों की सुरक्षा की गारंटी नहीं हो सकती थी।

'अर्ली-मॉडर्न' इतिहास-लेखन ने अपना यह उद्यम दक्षिण एशिया (खास कर भारत) के संबंध में भी चलाया। उल्लेखनीय है कि इन इतिहासकारों ने तो मुख्यतः नब्बे के दशक में अपनी रचनाओं के जरिये भारत का 'अर्ली-मॉडर्न' गढ़ना शुरू किया, लेकिन इससे काफ़ी पहले से मार्क्सवादी बुद्धिजीवी और इतिहासकार प्राक्-आधुनिकता से संबंधित भारतीय सम्भावनाओं को व्यापारिक पूँजी के विकास के साथ जोड़ कर दिखाने में लगे हुए थे। इनमें ई.एम.एस. नम्बूद्रीपाद, इरफ़ान हबीब और रामविलास शर्मा के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

वणिकवाद और व्यापारिक पूँजी : व्यापारिक पूँजी पर टिका वणिकवाद पंद्रहवीं से सत्रहवीं सदी तक अर्थशास्त्रीय चिंतन पर हावी रहा और उसका कुछ-कुछ असर अठारहवीं सदी के आर्थिक चिंतन पर भी देखा गया। यह उस ज़माने की प्रवृत्ति है जब मानवीय श्रम को हर तरह की समृद्धि का स्रोत समझने के विचार का सूत्रीकरण नहीं हुआ था। वणिकवाद का आग्रह था कि राष्ट्रों की समृद्धि वाणिज्य से होने वाली आमदनी पर निर्भर होती है, इसलिए हर देश को विदेश व्यापार के जरिये अपनी सम्पत्ति और ख़ज़ाने में बढ़ोतरी करनी चाहिए। उसे चाहिए कि मूल्य की दृष्टि से वह दूसरों को अपनी चीज़ें ज़्यादा बेचे और उनकी चीज़ों का कम उपभोग करे। समझा जाता था कि ज़्यादा निर्यात और कम आयात के जरिये व्यापार-अधिशेष की स्थिति प्राप्त करना ही किसी देश की अमीरी का मुख्य कारण है। वणिकवादी विचारों को अठारहवीं सदी में पहले फ़्रांस्वा केने और अन्य

प्रकृतिवादियों द्वारा और फिर ऐडम स्मिथ और डेविड ह्यूम द्वारा कड़ी आलोचना का सामना करना पड़ा। उन्नीसवीं सदी में क्लासिकल अर्थशास्त्र के विकास और औद्योगिक पूँजीवाद के उभार ने वणिकवाद को पूरी तरह पृष्ठभूमि में धकेल दिया।

बीसवीं सदी में वणिकवाद के कम से कम एक पहलू को पुनः सकारात्मक निगाह से देखा गया जब जॉन मेनार्ड कींस ने व्यापार-अधिशेष के जरिये माँग बढ़ने के सिलसिले में उसकी प्रशंसा की। कींस ने अपनी रचना *जनरल थियरी ऑफ़ एम्पलायमेंट, इंटरैस्ट ऐंड मनी* (1936) के अध्याय 'नोट्स ऑन मर्केटलिज़म' में कहा कि व्यापार-अधिशेष की मदद से रोज़गार और माँग में बढ़ोतरी की जा सकती है। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद जापानी अर्थव्यवस्था ने भी वणिकवादी फ़ॉर्मूलों का इस्तेमाल करके विश्व-व्यापार में अपनी हैसियत बनायी। जापान ने अपने कारख़ानों में माल बनाया और दुनिया के बाज़ार में बेचा। आयात-निर्यात के इस विनिमय में जापान कई क्षेत्रों में अपनी तक्ररीबन इजारेदारी क़ायम की और अपना अधिशेष बढ़ाने में कामयाबी हासिल की। आज आर्थिक हलकों में भले ही वणिकवाद के सिद्धांतों की चर्चा न हो, पर इस हक़ीक़त से इनकार नहीं किया जा सकता कि निर्यातोन्मुख विकास की लोकप्रिय थीसिस की जड़ें इसी चिंतन में निहित हैं। निर्यात बढ़ा कर विदेश-व्यापार के जरिये अधिशेष जमा करने के सूत्र को आर्थिक वृद्धि का केंद्रीय पहलू बनाना वणिकवादी सूझ-बूझ का ही परिणाम था।

एक तरफ़ सैद्धांतिक नकार और दूसरी तरफ़ व्यावहारिक स्वीकार ने आर्थिक विमर्श को व्यापारिक पूँजी के संदर्भ में अस्पष्ट बना दिया है। आधुनिकता और पूँजीवाद के विकास में व्यापारिक पूँजी की भूमिका के बारे में अभी तक कोई आम सहमति नहीं बन पायी है। मार्क्सवादी विद्वानों के बीच तो सामाजिक संरचनाओं को पूँजीवादी बनाने में व्यापारिक पूँजी की भूमिका पर पहले से ही काफ़ी वाद-विवाद है। यहाँ तक कि इस मसले पर मार्क्स और एंगेल्स के अवलोकनों में भी अंतर था। एंगेल्स ने एक जगह तर्क दिया है कि व्यापारिक पूँजी ही वह वाहन था जिस पर सवार हो कर पूँजीवाद ने सामंती समाज को प्रतिस्थापित किया। दूसरी तरफ़ *कैपिटल* के तीसरे भाग के बीसवें अध्याय में मार्क्स साफ़ तौर पर कहते हैं कि व्यापारिक पूँजी अपने-आप में उस संक्रमण को प्रोत्साहित करने लायक क्षमता से लैस नहीं होती जिससे उत्पादन का एक रूप दूसरे में बदलता है। मार्क्स यह भी कहते हैं कि व्यापारिक पूँजी के प्रभुत्व वाली प्रणाली हर जगह पूँजीवादी उत्पादन रूपों के रास्ते में रुकावट डालती है। मार्क्स के इस विश्लेषण के बिना पर कुछ विद्वानों ने यहाँ तक कहा है कि व्यापारिक पूँजी उन स्थानीय प्रतिक्रियावादी तत्त्वों से साँठगाँठ कर लेती है जो प्राक्-पूँजीवादी क्रिस्म के होते हैं।

किताबी मार्क्सवाद के इस विरोधाभास के विपरीत



इरफ़ान हबीब (1931-)

भारत की मार्क्सवादी विद्वत्ता ने मध्ययुगीन इतिहास के जो ब्योरे पेश किये हैं, उनमें व्यापारिक पूँजी प्राक्-आधुनिक सामाजिक संरचनाओं की वाहक प्रतीत होती है। 1951 में कम्युनिस्ट नेता और बुद्धिजीवी ई.एम.एस. नम्बूद्रीपाद ने *द नैशनल क्वेश्चन इन केरला* में मलयाली समाज में पूँजीवाद के प्राक्-औपनिवेशिक रूपों की तरफ़ इशारा किया। नम्बूद्रीपाद ने केरल में पंद्रहवीं और सोलहवीं सदी में 'राष्ट्र' जैसी संरचना के उदय को भी रेखांकित किया। इसके बाद साठ के दशक के आख़िर में इरफ़ान हबीब ने मुग़ल काल में व्यापारिक पूँजी की गतिविधियों के विस्तृत ब्योरे पेश किये। हालाँकि हबीब अपनी रचना 'पोटेंशियलिटीज़ ऑफ़ कैपिटलिस्ट डिवेलपमेंट इन द इकॉनॉमी ऑफ़ मुग़ल इण्डिया' के निष्कर्ष में इनकार करते हैं कि भारत में अपने संसाधनों से पूँजीवाद का विकास हो सकता है, पर उनके दिये गये तथ्य देशी पूँजीवाद की सम्भावनाओं से धड़क रहे थे। हबीब ने अपने अनुसंधान में दिखाया कि मुग़ल काल में निजी उपभोग से परे जा कर बाज़ार के लिए होने वाला खेतियर और ग़ैर-खेतियर उत्पादन तत्कालीन अर्थव्यवस्था के बहुत बड़े हिस्से का निर्माण करता था। खेती में ख़ुद-काशत कृषि की मौजूदगी थी यानी आज के ज़माने की पूँजीवादी खेती की तरह खेतियर मज़दूरों को पगार पर रख कर खेती करवायी जाती थी जिसमें नक़दी फ़सलें होती थीं। व्यापारिक पूँजी शक्तिशाली थी, अर्थव्यवस्था का काफ़ी मौद्रिकरण हो चुका था। दस्तकारी उत्पादन संगठित रूप से किया जाता था। हबीब ने मैक्स वेबर के इस अवलोकन को मानने से इनकार कर दिया कि जाति-प्रथा जैसी सामाजिक संस्थाओं की वजह से भारत में दस्तकारी उत्पादन में जड़ता आयी। वेबर के विपरीत हबीब ने बताया कि केवल एक जाति ही एक दस्तकारी कला की वाहक नहीं होती थी। बल्कि एक क्रिस्म की कारीगरी कई-कई जातियाँ करती थीं। दूसरे, कारीगर ज़रूरत पड़ने पर खेतियर उत्पादन में लौट जाते थे, और माँग

बढ़ने पर फिर दस्तकारी उत्पादन करने लगते थे।

अस्सी और नब्बे के दशक के बाद जब इतिहास-लेखन के दरवाजे पर अर्ली-मॉडर्न हिस्टोरियोग्राफी ने अपनी दस्तक दी तो कई देशी-विदेशी इतिहासकारों ने ऐसे कई विवरण पेश करने शुरू किये जो नम्बूद्रीपाद और हबीब के लेखन की याद दिलाते थे। यह अर्ली-मॉडर्न हिस्टोरियोग्राफी आयी कहाँ से थी? अनाल स्कूल के नाम से मशहूर इतिहास-लेखन की पद्धति के उत्तराधिकारी फ्रैंद ब्रॉदेल ने अपने तीन खण्डों के महाग्रंथ *सिविलाइज़ेशन एंड कैपिटलिज़्म, 15th-18th सेंचुरी* (फ्रेंच में पहली बार 1967 में प्रकाशित) में पंद्रहवीं से अठारहवीं सदी के बीच की अवधि को मध्ययुग कहने के बजाय अर्ली-मॉडर्न करार दिया था। अनाल स्कूल इतिहास को प्राचीन, शुरुआती मध्य, बाद का मध्य और आधुनिक युगों में बाँट कर देखने का विरोध करते हुए आग्रह करता था कि सारी दुनिया के इतिहास को अलग-अलग करके पढ़ने के बजाय समग्र दृष्टि से देखना चाहिए।

देखें : एलमकुलम मनक्कल शंकरन नम्बूद्रीपाद, ऐडम स्मिथ, जॉन मेनार्ड कौंस, थॉमस मन और वणिक्वाद, फ्रैंद ब्रॉदेल, भारतीय इतिहास-लेखन-1 से 4 तक, मार्क्सवादी इतिहास-लेखन, रामविलास शर्मा, मैक्स वेबर।

संदर्भ

1. ई.एम.एस.नम्बूद्रीपाद (1951), *द नैशनल क्वेश्चन इन केरला, बंबई*.
2. इरफान हबीब (1969), 'पोरेशियलिटीज़ ऑफ़ कैपिटलिस्ट डिवेलपमेंट इन द इकॉनॉमी ऑफ़ मुग़ल इण्डिया', *द जरनल ऑफ़ इकॉनॉमिक हिस्ट्री*, खण्ड 29, अंक 1, द टास्क ऑफ़ इकॉनॉमिक हिस्ट्री.
3. फ्रैंद ब्रॉदेल, *सिविलाइज़ेशन एंड कैपिटलिज़्म, 15th-18th सेंचुरी*,
4. ए.बी. एनीकिन (1983), *आर्थिक विज्ञान का युवा काल : मार्क्स-पूर्व का राजनीतिक अर्थशास्त्र*, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.

— अभय कुमार दुबे

व्यापारिक पूँजी और भारत की प्राक्-आधुनिकता-2

(Merchant Captial and India's Early-Moderntiy-2)

फ्रैंद ब्रॉदेल द्वारा छोड़े गये इस सुराग को कुछ अध्यवसायी इतिहासकारों ने अस्सी और नब्बे के दशक में पकड़ा। युरोप में आधुनिकता के शुरुआती रूपों की खोज करने वाले विद्वानों के अलावा इस मण्डली में ऐसे इतिहासकार भी थे जो उपनिवेशवाद से पीड़ित रहे देशों को युरोकेंद्रित इतिहास-दृष्टि से मुक्ति दिलाने के लिए जद्दोजहद कर रहे थे। इन लोगों ने देखा और दिखाया कि पंद्रहवीं सदी में 1442 से पहले पूँजीवाद के उदय में अफ्रीका, एशिया और युरोप बराबर के साझेदार थे। इस तारीख के बाद युरोप आगे बढ़ गया। ऐसा इसलिए हुआ कि युरोप अमेरिका के नज़दीक स्थित था। युरोपियनों ने न केवल अमेरिका की अकूत सम्पत्ति हासिल कर ली, बल्कि बाद में एशिया और अफ्रीका की अकूत सम्पत्ति भी उन्हें मिल गयी। युरोप इसलिए आगे नहीं बढ़ा कि वह गैर-युरोपियनों से अधिक प्रतिभाशाली, अधिक साहसी, अधिक बेहतर, अधिक आधुनिक, अधिक प्रगतिशील या अधिक बुद्धिसंगत था। इन इतिहासकारों ने जोर दे कर कहा कि ये बातें तो युरोकेंद्रित प्रसार के मिथक के अलावा कुछ नहीं हैं जिन्हें जल्दी से जल्दी भुला दिया जाना चाहिए।

इतिहास-लेखन का यह अर्ली-मॉडर्न उद्यम कितना कामयाब रहा, इसका अंदाज़ा इस स्वीकृति से लगाया जा सकता है जो उनके प्रशंसकों की नहीं बल्कि उसके आलोचकों की है : 'यह विद्वत्ता इस विचार को पलट देने में ज़बरदस्त रूप से कामयाब रही कि युरोप से बाहर की दुनिया किसी न किसी तरह उत्पादन के 'सामंती' रूपों में फँस कर रह गयी थी या किसी अपरिवर्तनीय 'एशियाई उत्पादन पद्धति' का शिकार हो गयी थी।' और यह कि 'आधुनिकता के प्रारम्भिक रूप खोजने वाली विद्वत्ता ने औपनिवेशिक आधुनिकता को दिये गये निर्णायक महत्त्व का पर्दाफाश करने और आधुनिक को औपनिवेशिक की गिरफ्त से छुटकारा दिलाने की सराहनीय जिम्मेदारी निभा दी है।'

नम्बूद्रीपाद या हबीब जैसे विद्वान सोलहवीं से अठारहवीं सदी की अवधि को 'मुग़ल भारत' या 'बाद के मध्ययुगीन भारत' या 'बाद का प्राक्-औपनिवेशिक भारत' के रूप में चिह्नित करते हैं। दूसरे, भारत के इतिहास को विश्व-इतिहास के साथ जोड़ कर अध्ययन करना उनकी

प्राथमिकताओं में शामिल नहीं था। लेकिन, अर्ली-मॉडर्न के दावेदारों ने सोलहवीं से अट्ठारहवीं सदी के बीच दुनिया के विकास को बड़े पैमाने पर प्रभावित करने वाली छह विशिष्ट प्रक्रियाओं की शिनाख्त की और पाया कि दक्षिण एशिया भी इन सभी पैमानों पर न केवल खरा उतरता है, बल्कि पश्चिम से कई मामलों में आगे दिखाई देता है। ये छह प्रक्रियाएँ इस प्रकार थीं : सारी मानवता को आपस में जोड़ने वाले समुद्री रास्तों और उत्तरोत्तर सक्षमता से उनका इस्तेमाल करने वाले परिवहन नेटवर्क की रचना; लम्बी दूरी के व्यापार पर आधारित और प्रत्येक महाद्वीप में विस्तारमान अर्थव्यवस्थाओं को जोड़ने वाली एक सच्ची विश्व-मण्डी का उदय; इन तीन सौ साल में दुनिया की आबादी का दोगुना हो जाना; सारी दुनिया में विशाल आकार की स्थिर, शक्तिशाली, सुसंगठित, सुसक्षम और लम्बी भू-क्षेत्रीय पहुँच वाली राज्य-संरचनाओं का उदय; उत्पादन के विस्तार के लिए धरती का उत्तरोत्तर सघन इस्तेमाल; बहुत सी नयी प्रौद्योगिकियों का प्रसार (जैसे, नयी दुनिया से आयी खेती की नयी तकनीकें, बारूद, छापे की तकनीक आदि)।

अर्ली-मॉडर्न परिघटना का दावा करने वाले अनुसंधानकर्ताओं ने सुव्यवस्थित तरीके से प्रमाणित किया कि अगर इन छह मानकों के कारण युरोपीय समाज में आधुनिकता की जमीन बन रही थी, तो इनकी प्रबल मौजूदगी भारत के बारे में हमें यही पैगाम देती है। जॉन रिचर्ड्स के मुताबिक भारत अपने बंदरगाहों और सक्रिय जहाजरानी के जरिये सदियों से बंगाल की खाड़ी, मलक्का जलडमरूमध्य, चीन सागर, अरब सागर, लाल सागर और भूमध्यसागर के परिवहन नेटवर्कों का अंग था। रिचर्ड्स का आकलन है कि भारत हीरो, मिर्च, सूती और रेशमी कपड़ों, और अन्य वस्तुओं के व्यापार और निर्माण में बहुत आगे था। डच ईस्ट इण्डिया कम्पनी की बंगाल संबंधी गतिविधियों के अध्येता ओम प्रकाश का तो कहना है कि बंगाल से डच व्यापारी इतना कपड़ा खरीदते थे कि सत्रहवीं सदी में उनसे उस पूरे क्षेत्र के लिए एक लाख नये रोजगारों का सृजन हो सकता था। रिचर्ड्स का कहना है कि सारे भारत से टैक्स वसूलने, राजनीतिक स्थिरता कमोबेश क्रायम रखने, सबसे बड़ी फ़ौज का रख-रखाव करने के मानकों के साथ अपनी विशालता, सक्षमता और अकूत सम्पत्ति के मामले में मुगल साम्राज्य की तुलना ऑटोमन और सफ़ाविद साम्राज्यों से की जा सकती है। एटलस ऑफ़ वर्ल्ड पॉपुलेशन हिस्ट्री का हवाला देते हुए रिचर्ड्स ने यह भी दिखाया कि पंद्रह सौ की शुरुआत में भारतीय उपमहाद्वीप की आबादी दस करोड़ थी जो अट्ठारह सौ तक साढ़े अट्ठारह करोड़ हो गयी। दिलचस्प बात यह है कि इरफ़ान हबीब ने *द केम्ब्रिज इकॉनॉमिक हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया* में इससे भी आगे बढ़ कर कहा था कि सत्रहवीं सदी

के शुरू में भारत की आबादी चौदह से पंद्रह करोड़ के बीच थी जो अट्ठारहवीं सदी में पूरी बीस करोड़ हो गयी। नयी दुनिया से लाई हुई तम्बाकू और जौ की खेती इन दिनों दक्षिण एशिया में तेजी से फैली। मिर्च की खेती की तकनीक धीरे-धीरे पर सारे इलाक़े में फैल गयी। बारूद की प्रौद्योगिकी पर मुगलों को महारत थी ही। भारत में फ़ौजी इस्तेमाल के लिए तोपें-बंदूकें ख़ूब बनती थीं। कुल मिला कर भारत की अर्थव्यवस्था न केवल लगभग दोगुनी हो चुकी आबादी की आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए उत्पादन कर रही थी, बल्कि विश्व-मण्डी की माँग के मुताबिक माल की आपूर्ति करने में भी सफल थी।

रिचर्ड्स ने सबसे ज़्यादा चुनौती भरा सवाल यह उठाया कि क्या भारत की इन 'अर्ली-मॉडर्न' सदियों में लोगों, जिंसों और विचारों का परिसंचरण आधुनिक युग से मिलता-जुलता यानी सघन और तीव्र था? समाज की गतिशीलता के इस प्रमाण के लिए रिचर्ड्स ने पूरे विश्वास के साथ लोकप्रिय धार्मिक आंदोलन के कारण होने वाले नये क्रिस्म के सांस्कृतिक उत्पादन का उल्लेख किया। रिचर्ड्स का कहना है कि मात्रा, सघनता और विविधता के लिहाज़ से उत्तरोत्तर बढ़ते हुए इस सांस्कृतिक उत्पादन का केंद्र उत्तर भारत था। उनकी चर्चा यहीं आ कर इस अपील के साथ ख़त्म हो गयी कि हमें औपनिवेशिक चश्मा उतार कर नयी आँखों से इन तीन सौ सालों में बनी नयी संस्थाओं, नये सामाजिक रूपों, नयी सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों और नयी उत्पादकता को देखना चाहिए।

इतिहास-लेखन के 'अर्ली-मॉडर्न' उद्यम की कड़ी आलोचनाएँ भी हुई हैं। जैक गोल्डस्टोन ने इस प्रवृत्ति को कड़ाई से आड़े हाथों लेते हुए कहा है कि यह इतिहास के विकास को चरणबद्ध ढंग से दिखाने की मार्क्सवादी थियरी प्रमाणित करने की नयी कोशिश है। चूँकि सामंतवाद और औद्योगिक पूँजीवाद के बीच के अंतराल को पाटना था इसलिए व्यापारिक पूँजी की मदद ली गयी, उसके जरिये एक ग़ैर-सामंती मोड ऑफ़ प्रोडक्शन दिखाया गया, ताकि इतिहास की चालक शक्ति बेखटके उत्पादक शक्तियों के विकास के सुपुर्द की जा सके। गोल्डस्टोन यह भी कहते हैं कि दरअसल यह पश्चिमी इतिहास की श्रेणियों को पूर्व के समाजों पर आरोपित करने की ही एक युक्ति है। इसी जगह हम गोल्डस्टोन की इस आलोचना को भी नज़रअंदाज़ नहीं कर सकते कि व्यापारिक पूँजी की गतिविधियाँ तो पूरे एशिया में चार हज़ार साल पहले भी दिखाई पड़ती हैं। वे पूछते हैं कि 'क्या यह दावा करना सार्थक होगा कि असीरिया के प्राचीन बंदरगाहों, मिस्त्र, बेबीलोन, दसवीं सदी के चीन और ग्यारहवीं सदी के जावा में होने वाली व्यापारिक पूँजी की गतिविधियाँ इन क्षेत्रों के पूर्ण आधुनिकता में संक्रमण की

नुमाइंदगी कर रही थीं। क्या यह तर्क दिया जा सकता है कि इन समाजों में अट्टारहवीं सदी के इंग्लैण्ड और उन्नीसवीं सदी फ्रांस के साथ समानताएँ थीं?’

भारत के संदर्भ में गोल्डस्टोन से भी ज़्यादा गहरी आलोचना प्रथमा बनर्जी की है। वे कहती हैं कि अर्ली-मॉडर्न श्रेणी का इस्तेमाल करने से भारत में विकसित हुई विचार-प्रक्रिया और इतिहास पर बेवजह ही आधुनिकता का रुतबा गालिब हो जाता है। प्रथमा आधुनिक को अंतहीन और कालातीत बनाने के खिलाफ हैं; और चाहती हैं कि आज की श्रेणियों में फँसने से इनकार करने वाले अतीत के साथ हमारी समकालीनता के संबंधों को खुला रखा जाए। अतीत को आधुनिकता के आईने में देखने की यह सीमा उन भारतीय विद्वानों में भी दिखाई पड़ती है जो मध्ययुग में व्यापारिक पूँजी की परिघटना को पूँजीवादी सामाजिक संबंधों की सम्भावना से ओतप्रोत मानना चाहते हैं। इनमें हिंदी-क्षेत्र के एक बड़े हस्ताक्षर रामविलास शर्मा का नाम प्रमुख है।

पेशेवर इतिहासकार न होते हुए भी रामविलास शर्मा ने भारत में आधुनिकता के प्राक्-औपनिवेशिक रूपों से संबंधित प्रश्नों पर पहले तो अपनी विशाल कृति *भारत में अंग्रेज़ी राज और मार्क्सवाद* (1982) में गौर किया और फिर *मार्क्स और पिछड़े हुए समाज* (1986) में। इन रचनाओं में कमोबेश उन्हीं धारणाओं का बहुत सारे ऐतिहासिक और सैद्धांतिक साक्ष्यों समेत विस्तृत विवेचन था जो उन्होंने पचास और साठ के दशक में लिखे अपने निबंधों में सूत्र रूप में पेश की थीं।

देखें : एलमकुलम मनक्कल शंकरन नम्बूदिरिपाद, ऐडम स्मिथ, जॉन मेनार्ड कींस, थॉमस मन और वणिक्वाद, फ्रैंक ब्राँदल, भारतीय इतिहास-लेखन-1 से 4 तक, मार्क्सवादी इतिहास-लेखन, रामविलास शर्मा, मैक्स वेबर।

संदर्भ

1. जे.एम. ब्लॉट (1993), *द कोलोनाइज़र्स मॉडल ऑफ़ द वर्ल्ड*, गुइलफ़ोर्ड प्रेस, न्यूयॉर्क.
2. एफ. जॉन रिचर्ड (1997), 'अर्ली माडर्न इण्डिया ऐंड वर्ल्ड हिस्ट्री', *जर्नल ऑफ़ वर्ल्ड हिस्ट्री*, खण्ड 8, अंक 2, युनिवर्सिटी ऑफ़ हवाई प्रेस.
3. जैक ए. गोल्डस्टोन (1998), 'द प्रॉब्लम ऑफ़ 'अर्ली मॉडर्न' वर्ल्ड', *जर्नल ऑफ़ इकॉनॉमिक ऐंड सोशल हिस्ट्री ऑफ़ द ओरिएंट*, खण्ड 41, अंक 3.
4. ओम प्रकाश, *द डच ईस्ट इण्डिया कम्पनी ऐंड इकॉनॉमी ऑफ़ बंगाल, 1630-1720*, प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन, एन.जे.
5. रामविलास शर्मा (1982), *भारत में अंग्रेज़ी राज और मार्क्सवाद*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.

— अभय कुमार दुबे

व्यापारिक पूँजी और भारत की प्राक्-आधुनिकता-3

(Merchant Captial and India's Early-Moderntiy-3)

यह मानना ग़लत होगा कि ऐसा करने वाले रामविलास शर्मा पहले विद्वान थे जिन्होंने पश्चिम के भारत में क्रम पड़ने से पहले हमारे समाज में मौजूद आधुनिकता के पहलुओं की तरफ इशारा किया हो। पिछले पचास साल में हमारे पास धर्म, कला, साहित्य और मानवशास्त्र के क्षेत्र में काम करने वाले इतिहासकारों और विद्वानों की समृद्ध परम्परा रही है जिनकी रचनाएँ बार-बार बताती हैं कि दक्षिण एशियाई समाज और संस्कृति जड़ होने के बजाय ऊर्जावान और गतिशील थी। अर्ली-मॉडर्न इतिहास-लेखन और इन विद्वानों की दृष्टि में एक अंतर यह ज़रूर रहा है कि इनमें से कोई उस ऊर्जा और गतिशीलता को आधुनिकता की नुमाइंदगी करने वाले सामाजिक-सांस्कृतिक रूपों की प्रारम्भिक शक्ति में नहीं देखता। जबकि रामविलास शर्मा ने दोनों काम किये। वे हबीब की तरह पूँजीवाद के देशी विकास की उन सम्भावनाओं की तरफ तो इशारा करते ही हैं जिन्हें अंग्रेज़ों ने नष्ट किया, साथ में वे 'अर्ली-मॉडर्न' के इतिहासकारों की तरह प्रारम्भिक आधुनिकता की नुमाइंदगी करने वाली सामाजिक-सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों को भी रेखांकित करते हैं।

रिचर्ड्स ने नवीन सांस्कृतिक उत्पादन का कारण बने जिस लोकप्रिय धार्मिक आंदोलन को उत्तर भारत में केंद्रित बताया था, और जिसे हम सब भक्ति आंदोलन के नाम से जानते हैं, वह एक अखिल भारतीय परिघटना था। रामविलास शर्मा के इतिहास लेखन में यह भक्ति आंदोलन लोक-जागरण की सामाजिक परिघटना के रूप में उभरता है। एक मार्क्सवादी की तरह वे इस परिघटना के पीछे काम कर रही इतिहास की चालक-शक्ति की शिनाख्त मोड ऑफ़ प्रोडक्शन में करते हैं, और अपने अध्ययन-अनुसंधान को प्राचीन भारत से लेकर मध्ययुगीन भारत तक पगार-प्रथा (वेज लेबर) की प्रचुर मौजूदगी साबित करने में खपाते हैं। वे दिखाते हैं कि किस तरह मध्य युग में पगार देने वाले व्यापारी हैं, और व्यापारिक पूँजी घरेलू और विदेशी बाज़ार के लिए बड़े पैमाने पर उत्पादन कर रही है जिसमें बहुसंख्य कारीगर-शिल्पी वर्ग लगा हुआ है।

रामविलास शर्मा का उद्यम भारतीय आधुनिकता की प्राक्-औपनिवेशिक उर्वर ज़मीन की शिनाख्त करना है और इस काम के लिए उन्हें मार्क्सवाद के औज़ार पर्याप्त लगते हैं।

इसलिए वे मार्क्स और लेनिन के उद्धरणों का इस्तेमाल करते हुए व्यापारिक पूँजी और व्यापारियों की मौजूदगी को व्यापारिक पूँजीवाद की श्रेणी में बदल डालते हैं। उनकी इस बौद्धिक कारीगरी पर अभी तक किसी समाज-वैज्ञानिक द्वारा ध्यान नहीं दिया गया है।

पहले उन्होंने वणिक्वाद (मर्केटलिज़्म) को व्यापारिक पूँजीवाद की संज्ञा दी जो मार्क्स द्वारा प्रतिपादित श्रेणियों के लिहाज़ से काफ़ी विवादास्पद था : 'हमें व्यापारिक पूँजीवाद जैसी किसी कोटि को मानना चाहिए या नहीं? ...विनिमय में विकास होगा, बाज़ार निर्मित होगा तब उसके बाद उद्योग-धंधों के विकास की ज़रूरत पड़ेगी। अगर बड़ा बाज़ार पहले से है नहीं तो माल किसके लिए तैयार करेंगे? ...फिर इसे व्यापारिक पूँजीवाद क्यों कहते हैं? ...व्यापारिक पूँजीवाद में व्यापारी का प्रभुत्व होता है, औद्योगिक पूँजीवाद में उद्योगपति का प्रभुत्व होता है और महाजनी पूँजीवाद में इन दोनों को दबा कर महाजन सबसे ऊपर रहता है। ...व्यापारिक पूँजीवाद में उत्पादन की क्या भूमिका थी? ...भारत में कारीगरों की बहुत महत्वपूर्ण भूमिका थी। उनको पगार देने की प्रथा थी। कौटिल्य के समय में यह प्रथा इतनी बढ़ी हुई थी कि राजा और राजघराने के लोग भी पगार पाते थे। राजा के बड़े बेटे से अधिक पगार राज्य का सबसे बड़े मिस्री को दी जाती थी। ...उत्पादन का विकास इस बात पर निर्भर है कि आप कारीगर को कैसे रखते हैं। भारत गोदाम बना हुआ था सूती माल का—पगार प्रथा के कारण ही। हिंदुस्तान में लूटमार बहुत हुई। मैंने सवाल उठाया है कि दौलत लूट ले गये, फिर दौलत कैसे पैदा हुई। इसका उत्तर पगार-प्रथा है। चूँकि पगार-प्रथा का नाश नहीं हुआ, इसलिए हिंदुस्तान के नगर पूरी तरह से कभी तबाह नहीं हुए। थोड़ी देर के लिए देश पिछड़ा, फिर उठा। अंग्रेज़ी राज में जिस तरह का देहातीकरण हुआ, वैसा इस देश में कभी नहीं हुआ। एक सीधा सा प्रश्न है कि अंग्रेज़ी राज क्रायम होने के बाद देहात की आबादी बढ़ी या घटी? आम तौर से हम जानते हैं कि देहात की आबादी बढ़ी। उद्योगीकरण हो रहा है तो देहात की आबादी कम होनी चाहिए, शहर की आबादी बढ़नी चाहिए। यहाँ उल्टी प्रक्रिया है। यह सीधी सी बात लोगों की समझ में नहीं आती।'

रामविलास शर्मा के इस 'गैर-पेशेवराना' इतिहास-लेखन को हिंदी-क्षेत्र के भीतर से ही कड़ी आलोचनाओं का सामना करना पड़ा है। वीर भारत तलवार ने चार विशाल लेखों में उनकी रचना *मार्क्स और पिछड़े हुए समाज* की विस्तृत आलोचना की है। उनके अनुसार 'भारत में पगार देने की प्रथा के सबूत पेश कर रामविलासजी ने दिखाया है कि : 'इस प्रथा के आधार पर यहाँ व्यापारिक पूँजीवाद का विस्तार हुआ।' रामविलास शर्मा ने ध्यान दिलाया है कि : 'भारत के पिछड़ेपन पर जिन देशी-विदेशी विद्वानों ने लिखा है, उन्होंने पगारजीवी

श्रम की परम्परा पर विचार नहीं किया।' उनका दावा है कि 'इस परम्परा से भारत के सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहास के लिए जो निष्कर्ष निकलते हैं, उनकी वे कल्पना नहीं कर सकते।' वीर भारत पूछते हैं कि 'इससे निकलने वाले निष्कर्ष क्या हैं, यह रामविलासजी को ज़रूर बतलाना चाहिए क्योंकि उन्होंने ऐसे श्रम की परम्परा पर विचार किया है। लेकिन वे हमें इस बारे में साफ़ तौर से नहीं बतलाते, बल्कि उपर्युक्त दावे के साथ ही उनका पगारजीवी श्रम के अध्ययन वाला अध्याय खत्म हो जाता है। शायद ये निष्कर्ष जो उन्होंने अंत में पेश नहीं किये, उनके विस्तृत विवेचन में ही कहीं मौजूद हों।' तलवार ने रोमिला थापर, इरफ़ान हबीब और डी.डी. कोसम्बी के हवालों का इस्तेमाल करते हुए दिखाया है कि व्यापारिक पूँजी की प्रचुर मौजूदगी की बात इन इतिहासकारों ने पहले ही मान ली थी, इसलिए रामविलास शर्मा ने इसमें कोई नयी बात नहीं कही है। तलवार ने अपने श्रमसाध्य विश्लेषण के जरिये दिखाया है कि रामविलास शर्मा ने मार्क्स के कथनों को तोड़-मरोड़ कर अपनी बात साबित की है।

इस आलोचना की रोशनी में अगर रामविलास शर्मा की समग्र परियोजना पर ध्यान दिया जाए तो उनके दो मक़सद दिखाई पड़ सकते हैं जिनकी शिनाख़्त उनके आलोचकों ने शायद नहीं कर पायी है। वे पगार-प्रथा और व्यापारिक पूँजी का तानाबाना इसलिए बुन रहे हैं कि किसी न किसी तरह जातियों के निर्माण और विकास की भारतीय प्रक्रिया को एक मार्क्सवादी तर्क प्रदान कर सकें। और, प्रकारांतर से यह दिखा सकें कि उत्कृष्ट और रैडिकल क्रिस्म के दार्शनिक और साहित्यिक उत्पादन के लिए व्यापारिक पूँजी की यथेष्ट मौजूदगी आवश्यक आर्थिक-सामाजिक आधार मुहैया कराने के लिए पर्याप्त है। रामविलास शर्मा के इतिहास-लेखन पर सरसरी नज़र डालने से ही साफ़ हो जाता है कि उसमें व्यापार के समुद्री रास्तों के नेटवर्क, ताक़तवर और विकासमान व्यापारिक पूँजी, सामंतशाही राज्य के साथ उसका द्वंद्व, स्थिर राजनीतिक व्यवस्था, नयी प्रौद्योगिकियाँ और पगार-प्रथा के प्रमाणों का जम कर उल्लेख किया गया है। ये अर्ली-मॉडर्न इतिहास-लेखन के लक्षण हैं। वैसे, इन्हें 'अर्ली-मॉडर्न के अर्ली-सिम्प्टम्स' भी कहा जा सकता है, क्योंकि दक्षिण एशिया पर इस इतिहास-लेखन का वैभव नब्बे के दशक में सामने आया, जबकि रामविलास की सभी तत्संबंधित रचनाएँ अस्सी के दशक में ही प्रकाशित हो चुकी थीं। रामविलास शर्मा ने मध्ययुग के शुरुआती हिस्से में और उससे पहले प्राचीन भारत में नगरों के विकास की चर्चा की है, संस्कृत साहित्य की विशद व्याख्याएँ ही हैं, भारत में दर्शन के विकास और दार्शनिकों के अखिल भारतीय नेटवर्क की तरफ़ ध्यान दिलाया है। इसके पीछे उनकी दिलचस्प मान्यता यह है : 'यूनान और अरबों का संबंध, भारत और अरबों का संबंध,

यूनान और ईरान का संबंध, भारत और ईरान का संबंध, यूनान और अंग्रेजों का संबंध, भारत और अंग्रेजों का संबंध— यह हमारे अध्ययन का विषय है। उसमें भारत की भूमिका कैसे उभर कर आती है और किन परिस्थितियों में यहाँ दर्शन का विकास हुआ— ये सब हमारे अध्ययन का विषय है।' ज़ाहिर है कि उनका अर्ली-मॉडर्न थोड़ा अलग क्रिस्म का है। व्यापारिक पूँजी, जाति-निर्माण और भक्ति आंदोलन के बीच गर्भनाल के रिश्तों का जैसा व्याख्यात्मक इतिहास उनकी रचनाओं में मिलता है, वह अर्ली-मॉडर्न स्कूल के इतिहासकारों के लिए दुर्लभ है। यही है वह 'क्रिएटिव कल्चरल टर्न' जिसे रामविलासजी के इतिहास-लेखन की मौलिक विशेषता कहा जा सकता है।

रामविलास शर्मा ने व्यापारिक पूँजी को क्यों टटोला? इसे और साफ़ करने के लिए उनका यह अवलोकन देखा जाना चाहिए कि जहाँ-जहाँ वित्त की टक्कर सामंतशाही से होती है, वहाँ-वहाँ सामाजिक धरातल पर जन्मना वर्ण-व्यवस्था को खारिज करने वाले स्वर उठते हैं। व्यापारिक पूँजी, जाति-वर्ण संबंधी अभिजात्य का निषेध, किसान-कारीगरों का उभार, साहित्य-रचना में उसकी विपुल भागीदारी और उसके परिणामस्वरूप भक्ति-काव्य के ज़रिये लोकजागरण की परिघटना का अनूठा समीकरण प्रदर्शित करने वाला ऐसा सूत्रीकरण हिंदी के मंच पर पहले कभी किसी ने पेश नहीं किया। रामविलास शर्मा पेशेवर मार्क्सवादी विद्वान या इतिहासकार नहीं थे। वे तो साहित्य और संस्कृति के दायरे में मार्क्सवादी युक्तियों का रचनात्मक इस्तेमाल कर रहे थे। एक मार्क्सवादी की तरह उनका अपने-आप से यह पूछना जायज़ है कि जब सारे भारत में भक्ति काव्य उमड़ रहा था, तो उसका कोई न कोई सामाजिक-आर्थिक आधार ज़रूर होगा। यह उसी प्रश्न का भारतीय रूप है जो उन्होंने मार्क्स पर यूनानी दर्शन के प्रभाव की टोह लेने के लिए पिछड़े समाजों में हुए दार्शनिक उन्मेष के बारे में उठाया था। वहाँ वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि यूनान में व्यापारिक पूँजी के तहत होने वाले उत्पादन में केवल दासों की भूमिका नहीं थी। उसमें पगारजीवी कारीगरों की भी महत्वपूर्ण भूमिका थी। यही चिंतन करते-करते उन्हें भक्ति काल में साहित्य-व्यापारिक पूँजी-कारीगर वर्ग-लोकजागरण का अनूठा चतुष्कोण दिखाई दिया। इससे वे इस नतीजे पर पहुँचे कि व्यापारिक पूँजी (भले ही वह सामंतवाद के खोल में विकसित हो रही हो) की सक्रियता वाले समाजों में साहित्य और दर्शन के विकास के लिए उर्वर ज़मीन तैयार होती है जिसका सामाजिक संरचनाओं पर कुछ न कुछ प्रगतिशील असर पड़ना लाज़मी है।

देखें : एलमकुलम मनक्कल शंकरन नम्बूद्रीपाद, ऐडम स्मिथ, जॉन मेनार्ड कींस, थॉमस मन और वणिक्वाद, फ्रैंक ब्रॉदल, भारतीय इतिहास-लेखन-1 से 4 तक, मार्क्सवादी इतिहास-लेखन, रामविलास शर्मा, मैक्स वेबर।

संदर्भ

1. रामविलास शर्मा (1986), *मार्क्स और पिछड़े हुए समाज*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
2. रामविलास शर्मा (2009), *भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश* (दो खण्ड). किताबघर, नयी दिल्ली.
3. रामविलास शर्मा (2011), *मेरे साक्षात्कार*, किताबघर, नयी दिल्ली.
4. वीर भारत तलवार (2005), *सामना : रामविलास शर्मा की विवेचन-पद्धति और मार्क्सवाद तथा अन्य निबंध*, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.

— अभय कुमार दुबे

वर्चस्व

(Hegemony)

समाज-विज्ञान में वर्चस्व का सिद्धांत प्रचलित करने का श्रेय इतालवी मार्क्सवादी चिंतक एंतोनियो ग्राम्शी को है। उनसे पहले वर्चस्व या हेजेमनी का प्रयोग किसी महासंघ के घटक राज्यों पर किसी एक राज्य के प्रभुत्व के लिए किया जाता था। लेकिन ग्राम्शी के विमर्श के बाद अब वर्चस्व का तात्पर्य प्रभुत्व की उस संरचना से है जो सहमति के आधार पर लागू की जाती है या जो प्रकट ज़ोर-ज़बरदस्ती के बिना नफ़ीस क्रिस्म के तौर-तरीकों (आर्थिक सत्ता, मीडिया, शिक्षा, प्रचार और लोकोपकारी नीतियाँ) का इस्तेमाल करके समाज में अपने लिए सहमति क़ायम कर लेती है। ग्राम्शी के अनुसार किसी शासक वर्ग का वर्चस्व तब स्थापित होता है जब वह बाकी सभी वर्गों को यह यक़ीन दिला देता है कि उसी के हित में सभी का हित है। वर्चस्व की अवधारणा से इस बात का सुराह्य मिलता है कि उपनिवेशकारी ताक़तें अपने से बहुत बड़ी संख्या के बावजूद उपनिवेशितों पर कैसे हुकूमत कर पायीं। केवल फ़ौजी ताक़त से वे अपना शासन नहीं चला सकती थीं। उसके लिए उन्हें उपनिवेशितों को यक़ीन दिलाना पड़ा कि सामाजिक शांति-व्यवस्था, स्थिरता और प्रगति के फल चखने के लिए ज़रूरी है कि वे आत्मनिर्णय के अधिकार पर ज़्यादा ज़ोर न दें।

हेजेमनी यूनानी शब्द हेजेमोन से बना है जिसका अर्थ होता है नेता, मार्गदर्शक या शासक। ग्राम्शी के नाम के साथ हेजेमनी शब्द इस क्रदर जुड़ गया कि वही इसके प्रथम मार्क्सवादी प्रयोक्ता समझे जाने लगे। असल में 1917 की रूसी अक्टूबर क्रांति के पहले तक बोल्शेविक और मेशेविक पार्टियों के बहस-मुबाहिसे में हेजेमनी (जेजमोनिया)

सर्वाधिक प्रयुक्त होने वाले प्रचार-शब्द था। इन दोनों ही पार्टियों को यह अभिव्यक्ति प्लेखानोव और एक्जेलरॉड सरीखे मार्क्सवादी सिद्धांतकारों से विरासत में मिली थी। उन्होंने इसका प्रयोग रूसी पूँजीपति वर्ग के अल्पविकसित होने की स्थिति में जारशाही निरंकुशता के खिलाफ पूँजीवादी क्रांति में मज़दूर वर्ग द्वारा अन्य सभी शोषितों एवं वंचितों का नेतृत्व करने के अर्थ में किया था। पेरी एंडरसन का मत है कि अक्टूबर क्रांति के उपरान्त यह रूसी राजनीतिक परिदृश्य से गायब-सा हो गया, लेकिन कमिंटर्न (कम्युनिस्ट इंटरनेशनल) के दस्तावेजों में इसकी मौजूदगी बनी रही और ग्राम्शी तक सम्भवतः इसी माध्यम से पहुँचा।

अपने जेल-पूर्व लेखन में ग्राम्शी ने इसका जो एकाध प्रयोग किया वह उनके रूसी पूर्ववर्तियों द्वारा प्रचलित अर्थ में किया गया था। इटली में मज़दूरों के सामने अपने रूसी साथियों की तरह जारशाही जैसी किसी निरंकुश सत्ता उखाड़ कर पूँजीवादी जनतांत्रिक क्रांति करने का कार्यभार नहीं था। बल्कि उन्हें तो पूँजीवादी जनतंत्र आधारित व्यवस्था को खत्म करके सीधे सर्वहारा क्रांति करनी थी। ग्राम्शी ने स्पष्ट किया कि अन्य शोषित एवं वंचित समूह (ग्राम्शी विशेषकर किसानों की बात कर रहे थे) इस क्रांति के लिए मज़दूरों के नेतृत्व में तभी गठबंधन बनाएँगे जब वे महज़ अपने हितों यानी आर्थिक प्रश्नों के दायरे में सीमित न रहकर सभी की आकांक्षाओं का भी खयाल रखा जाएगा। ग्राम्शी का विचार था कि नेतृत्व ज़बरन नहीं लादा जा सकता और संयोगवश यदि मज़दूर वर्ग को नेतृत्व का मौक़ा मिल भी जाए (जैसा कि रूस में अक्टूबर क्रान्ति में हुआ) तब भी उसके नेतृत्व का बरकरार रहना उन सभी की सहमति पर निर्भर करेगा जिन्हें साथ बनाये रखे बिना क्रांति का अभियान पूरा किया ही नहीं जा सकता। यही वजह है कि जेल में डाले जाने से ठीक पहले 1926 में ग्राम्शी ने रूसी सर्वहारा को सम्बोधित करते हुए कहा था कि किसानों के साथ उसका गठबंधन और उसमें उनकी नेतृत्वकारी भूमिका तभी स्थायी रूप ले सकेगी जब वे अपने तात्कालिक (आर्थिक) हितों के दायरे से मुक्त होकर सामान्य व बृहत्तर हितों के परिप्रेक्ष्य में सोचना शुरू कर देगा।

अपने जेल-लेखन में ग्राम्शी ने पूँजीवादी उत्पादन-पद्धति पर आधारित पश्चिमी पूँजीवादी जनतंत्र की शासन-प्रणाली की समझ बनाने के लिए हेजेमनी शब्द का प्रयोग करके इस अभिव्यक्ति का कार्यांतरण कर दिया। इससे मार्क्सवादी चिंतन में एक नया अध्याय शुरू हुआ। ग्राम्शी के मुताबिक हेजेमनी विचारधारा नहीं है। विचारधारा ज़बरन थोपी जा सकती है लेकिन हेजेमनी नहीं। विचारधारात्मक होना इसका एक पहलू है जो ज़रूरत पड़ने पर आर्थिक रूप भी ले सकता है और राजनीतिक भी। भारत में राष्ट्रीय ग्रामीण योज़गार योजना हेजेमनी के आर्थिक रूप की ठोस मिसाल है

जो बेराज़गारी और ग़रीबी मिटाने का स्थायी समाधान न होने के बावजूद ग्रामीण बेरोज़गार मज़दूरों की व्यवस्था के प्रति सहमति बटोरने के स्तर पर सार्थक साबित हुई है।

ग्राम्शी ने पहले तो यह सूत्रीकरण किया कि बूज़्वा शासन बल-प्रयोग एवं जन-सहमति दोनों की संयुक्त बुनियाद पर टिका हुआ है। फिर उन्होंने बल-प्रयोग के कार्य-क्षेत्र के रूप में राज्य और जनसहमति के कार्य-क्षेत्र के रूप में नागर समाज की शिनाख़्त की। नागरिक समाज के विभिन्न घटकों, जैसे परिवार, शिक्षा-संस्थान, धर्म-संस्थान, संचार-माध्यम आदि, के स्तर पर व्यवस्था के प्रति जनसहमति देखते हुए ही ग्राम्शी ने नागर समाज को संघर्ष का मुख्य अखाड़ा होने का तर्क दिया। निकोस पूलांत्साज़ का मत है कि शासितों द्वारा व्यवस्था को सहमति प्रदान करना केवल आधुनिक बूज़्वा राष्ट्र-राज्यों की खासियत नहीं, बल्कि इससे पहले की व्यवस्थाओं में भी शासक वर्ग शासितों से सहमति बटोरते रहे हैं। आधुनिक संदर्भ में सहमति की यदि कोई खासियत है तो वह है इसका अधार्मिक चरित्र। लेकिन पेरी एंडरसन पूलांत्साज़ से सहमत नहीं हैं। एंडरसन के मुताबिक बूज़्वा-शासन के प्रति जनसहमति का अनूठापन इसका अधार्मिक होना नहीं, बल्कि इसका जनमानस में गहरे पैठ बना चुकी इस धारणा पर आधारित है कि जनतंत्र जनता का, जनता के लिए, जनता के द्वारा शासन है। यह दावा भी इसी क्रिस्म का है कि इस व्यवस्था में सभी बराबर हैं, कोई किसी से श्रेष्ठ नहीं और न ही कोई किसी का शासक है। प्राचीन समाज का कोई दास अथवा सामंती-व्यवस्था का कोई मज़दूर ऐसी दावेदारी की कल्पना तक नहीं कर सकता था। वह शासक को श्रेष्ठ मानता था। लोग अपने शासक खुद हैं— यह धारणा और बूज़्वा राज्य की तथाकथित निष्पक्षता वर्चस्व के राजनीतिक रूप हैं। वस्तुतः अन्य सहमतियाँ (आर्थिक अथवा नागरिक) राजनीतिक वर्चस्व पर आधारित एवं उसकी पूरक हैं।

इसी तर्क के आधार पर ग्राम्शी द्वारा सहमति के कार्य-स्थल के रूप में नागर समाज की राज्य से अलग शिनाख़्त पेरी एंडरसन को उचित नहीं लगती। बल-प्रयोग और हिंसा पर राज्य का एकाधिकार है ही। पुलिस, सेना, न्याय-व्यवस्था और दिन-प्रतिदिन के स्तर पर मौजूद अनुशासन के पीछे राज्य के दंड-विधान का हाथ होने से इनकार नहीं किया जा सकता। बूज़्वा शासन की सफलता अथवा उसका स्थायित्व इस बात पर निर्भर करता है कि वह अपने शासन में बल-प्रयोग एवं सहमति के अनुपात में सहमति का अंश ज़्यादा रखता है या नहीं। बल-प्रयोग की मात्रा ज़्यादा होने की स्थिति में उसे विरोध का सामना करना पड़ सकता है। भारतीय राजनीति में आपात काल लागू किया जाना इसका उम्दा उदाहरण है। यही वजह है कि शासक-वर्ग नागर समाज

के स्तर पर अपने शासन के अनुकूल जन-मानस रचने में लगा रहता है। उसकी कोशिश रहती है व्यवस्था को स्वाभाविक का करार दिया जाए। इसे स्वाभाविक न मानने वालों यानी इससे असहमति जताने वालों पर राज्य दंडात्मक कार्रवाई कर सकता है और इस बात को भी जनसहमति प्राप्त होती है।

वर्चस्व की धारणा से मार्क्सवादी चिंतन परम्परा के तहत विचारधारा की अवधारणा भी समृद्ध हुई। विचारधारा की अमूर्त संरचना को ग्राम्शी ने रोज़ाना की जिंदगी के तहत विचार एवं व्यवहार में आबद्ध होने की बात करके जीवंत बना दिया। रेमंड विलियम्स के मुताबिक हेजेमनी कोई ऐसी चीज़ नहीं जिसे एक बार हासिल कर लेने के बाद बेफ़िक्र हुआ जा सकता है। यह निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है। चुनौती देती ताकतों से क्रिया-प्रतिक्रिया करते हुए शासक वर्ग को अपनी नीतियों का नवीकरण करते रहना पड़ता है।

ग्राम्शी का ख़याल था कि यदि सर्वहारा वर्ग वर्ग-विहीन समाज का निर्माण करना चाहता है तो उसे बूज़्वा वर्चस्व के बरअक्स अपने वर्चस्व की रचना करनी होगी। तमाम शोषितों एवं वंचितों को साथ लेकर उसी भाँति ऐतिहासिक ब्लॉक खड़ा करना होगा जिस भाँति बूज़्वा वर्ग ने कर रखा है। इस पर कोई राय नहीं बन पायी है कि सर्वहारा को पहले क्या करना चाहिए। वह सत्ता पर क्राबिज़ होने के उपरांत वैकल्पिक वर्चस्व की रचना करे अथवा उससे पहले? संसदीय जनतंत्र के संदर्भ में मार्क्सवादी चिंतक एजाज़ अहमद ग्राम्शी से सहमत नहीं हैं। उनके मुताबिक ग्राम्शी के जेल-लेखन का निकट परिप्रेक्ष्य संसदीय जनतंत्र नहीं बल्कि फ़्रासीवाद है। व्यवस्था को मिलने वाली सहमति की जो बात वे करते हैं वह भी प्रायः फ़्रासीवाद के लिए है न कि संसदीय जनतंत्र के लिए।

देखें : अर्नेस्टो चे गुएवारा, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, आंगिक बुद्धिजीवी, एंतोनियो ग्राम्शी, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-1 से 4 तक, क्रांति, क्रांति : मार्क्सवादी विमर्श, ग्योर्गी लूकाच, नयी सदी में मार्क्सवादी विमर्श-1 से 9 तक, निष्क्रिय क्रांति, पेटी बूज़्वा, फ्रेड्रिख एंगेल्स, फ्रैंकफ़र्ट स्कूल, भारत में किसान संघर्ष-2 और 4, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), भारतीय इतिहास लेखन, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, भ्रांत चेतना, बोलशेविक क्रांति, फ्रांस्वा-चाल्स मारी फ़ूरिये, क्यूबा की क्रांति, फ्रेंज़ फ़ानो, हिंसा-1 और 2, मानवेंद्र नाथ राय, माओ त्से-तुंग, माओवाद और माओ विचार, मार्क्सवाद-1 से 5 तक, मार्क्सवादी इतिहास-लेखन, मार्क्सवादी समाजशास्त्र, मार्क्सवाद और पारिस्थितिकी, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, समाजवादी वसंत-1 से 4 तक, रॉबर्ट ओवेन, राज्य की मार्क्सवादी अवधारणा, रोज़ा लक्ज़ेम्बर्ग, लेनिनवाद, लियोन ट्रॉट्स्की, लिबेरेशन थियोलॉजी, सर्वहारा, सांस्कृतिक क्रांति, सैं-सिमो, स्तालिन और स्तालिनवाद, सोवियत समाजवाद-1 से 3 तक, सोवियत सिनेमा, क्लादिमिर इलीच लेनिन।

संदर्भ

1. पेरी एंडरसन (1976-77), 'दी एंटीनैमी ऑफ़ एंतोनियो ग्राम्शी', *न्यू लेफ़्ट रिव्यू*, अंक 100.
2. एंतोनियो ग्राम्शी (1988), *अ ग्राम्शी रीडर : सिलेक्टड राइटिंग्स 1916-1935*, सम्पा. डेविड फ़रगास, लारेंस ऐंड विशार्ट, लंदन.
3. टेरी ईगल्टन (1991), *आइडियालॉजी : ऐन इंट्रोडक्शन*, वरसो, न्यूयॉर्क.
4. निकोस पूलांत्साज़ (1973), *पॉलिटिकल पावर एंड सोशल क्लासेज़*, वरसो, लंदन.

— विजय कुमार झा

वृत्त-चित्र

(Documentary)

सिनेमा में वृत्त-चित्र (डॉक्युमेंटरी) की परम्परा कथा-चित्र (फ़ीचर फ़िल्म) से भी पुरानी है। उन्नीसवीं सदी के आख़िरी वर्षों में लुमीरे भाइयों, ऑग्युस्त और लुई ने जिन फ़िल्मों के प्रदर्शन के जरिये चल-चित्र की युगांतरकारी शक्ति का प्रदर्शन किया था, वे असल में मिनट-मिनट भर या उससे भी कम की डॉक्युमेंटरीज़ ही थीं। सिनेमा के साथ टीवी और वीडियो प्रौद्योगिकी जुड़ जाने के बाद एक माध्यम के रूप में वृत्त-चित्र की उपयोगिता बहुआयामी हो गयी है। अब यह केवल फ़िल्मकारों का ही माध्यम नहीं रहा, बल्कि विमर्श, विचारधारा और आंदोलन के उद्देश्य से विभिन्न संगठन और समूहों द्वारा भी इसे अपनाया जाता है। अब कोई भी व्यक्ति स्वतंत्र रूप से अपनी डॉक्युमेंटरी बना सकता है। माध्यम के इस ज़बरदस्त लोकतंत्रीकरण के बावजूद वृत्त-चित्र फ़िल्मकारों के बीच एक गम्भीर और सम्माननीय विधा बनी हुई है। राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर वृत्त-चित्रों के अलग से महोत्सव भी आयोजित किये जाते हैं। भारत सरकार द्वारा स्थापित फ़िल्म्स डिवीज़न दुनिया में सबसे ज़्यादा वृत्त-चित्र बनाने वाला संस्थान है। उसकी न्यूज़ रील भारतीय समाचार चित्र के रूप में सिनेमा घरों में फ़िल्म शुरू होने से पहले कई दशक तक दिखाई जाती रही है। विभिन्न फ़िल्म रूपों की दर्शकों के बीच लोकप्रियता का विश्लेषण करने वालों का विचार है कि नयी सदी में डॉक्युमेंटरीज़ टिकट खिड़की पर भी सफल होने लगी हैं।

वृत्त-चित्र शिक्षा, सूचना और प्रचार के साथ-साथ समांतर इतिहास-रचना का उपकरण भी है। उसकी इसी ख़ूबी के चलते उसने वृत्त-चित्रात्मक सिनेमा पर गहरी छाप छोड़ी

है और डॉक्यू-ड्रामा जैसा सिनेमा का प्रकार उभरा है। निकट इतिहास की घटनाओं को दस्तावेजी प्रमाणों की रोशनी में चतुराईपूर्ण निर्देशन और सम्पादन के जरिये अभिनेताओं की मदद से मंचित करके यह सिनेमा दर्शकों को एक नये इतिहास की अनुभूति देता है और विवादास्पद घटनाओं के बारे में नये सवाल उठा कर सोये हुए विवादों को जीवित कर देता है। दरअसल, डॉक्यू-ड्रामा के जरिये व्यावसायिक स्तर पर एक क्रिस्म का खोजी (इन्वेस्टीगेटिव) सिनेमा विकसित हुआ है। केवल राजनीतिक या विवादास्पद ही नहीं, वृत्त-चित्रों के माध्यम से खोये हुए सांस्कृतिक रूपों के इतिहास और वर्तमान को व्यापक समाज के सामने पेश करके उन्हें लुप्त होने से बचाया जा सकता है। पर्यावरण, वन-संरक्षण और पारिस्थितिकी के क्षेत्र में वृत्त-चित्र को एक अनिवार्य माध्यम के रूप में स्वीकार किया गया है।

बीसवीं सदी की शुरुआत में फ़िल्म प्रौद्योगिकी का विकास होने के साथ एक माध्यम के रूप में वृत्त-चित्र की अहमियत साफ़ होती चली गयी। सबसे पहले इसे सूचना, शिक्षा और प्रचार के असरदार माध्यम के रूप में परिभाषित किया गया। इसका श्रेय ब्रिटिश फ़िल्म-निर्माता और आलोचक जॉन ग्रियर्सन को जाता है। बीस और तीस के दशक में जब दुनिया के कई हिस्सों में आधुनिक राज्य और राष्ट्र की संरचनाएँ पुष्ट हो रही थीं, वृत्त-चित्र विधा इस प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही थी। एक तरफ़ अमेरिका और ब्रिटेन में लोकतंत्र अभिजन दायरों से निकल कर जन-साधारण से जुड़ने में लगा हुआ था, और दूसरी तरफ़ सोवियत संघ में पूँजीवाद के विकल्प के रूप में एक नये समाज के सपने को धरती पर उतारने की कोशिशों की जा रही थीं। इसी दौरान ब्रिटेन में अगर *इंडस्ट्रियल ब्रिटेन* जैसी डॉक्युमेंटरीज़ बनायी गयीं, तो उधर सोवियत फ़िल्मकार जिगा वेरतोव ने सर्वहारा वर्ग के हित में रची जाने वाली कला की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति के रूप में वृत्त-चित्र शैली अपना कर सिनेमाई दृष्टि से उल्लेखनीय समझे जाने वाले वृत्त-चित्रों की रचना की। वेरतोव के वृत्त-चित्रों की विशेषता यह थी कि वे समाजवादी समाज की रचना की विचारधारात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए जरूर बनायी गयी थीं, पर उन पर युरोप के अवाँगार्ड रूपवाद का गहरा असर था। साथ ही उनमें सम्पादन की मोंटाज तकनीक का प्रयोग किया गया था जो सोवियत सिनेमा की तरफ़ से विश्व-सिनेमा में अहम योगदान मानी जाती है। इन फ़िल्मों की बिम्बात्मकता उन्हें उनके प्रचारात्मक उद्देश्यों से परे ले जाती थी। ये फ़िल्में *किनो-प्रावदा* (फ़िल्म-सत्य) के नाम से इतिहास में दर्ज हैं। बीस के दशक में वृत्त-चित्र का इस्तेमाल मानवशास्त्री उद्देश्यों से अन्य संस्कृतियों को रिकॉर्ड करने के लिए भी किया गया (एस्कमो लोगों पर फ़िल्म बनायी गयी)। चालीस के दशक

उत्तरार्ध में ब्रिटिश फ़िल्मकार लिंडसे एंडरसन ने ग्रियर्सन के रवैये की कड़ी आलोचना की और वृत्त-चित्र को प्रोपेगंडा के औज़ार की सीमित परिभाषा से निकालने के लिए सुचिंतित प्रयास किये जिसके परिणामस्वरूप वृत्त-चित्रों के सिनेमाई सौंदर्यशास्त्र का स्वतंत्र विकास शुरू हुआ।

द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान कवि और चित्रकार हम्फ्री जेनिंग्स की पहलकदमियों से वृत्त-चित्रों के संसार में अतिथथार्थवाद, मार्क्सवाद, साहित्य और विज्ञान का आगमन हुआ। सोवियत संघ से बाहर वामपंथी चिंतकों ने इस फ़िल्म-माध्यम के साथ जुड़ कर आम आदमी की जिंदगी को परदे पर उतारना शुरू किया। द्वितीय विश्व-युद्ध के तुरंत बाद युरोप में आर्थिक दिक्कतों के चलते कई महत्वाकांक्षी फ़िल्मकारों ने वृत्त-चित्रों के जरिये अपना कला का प्रदर्शन किया। उनके वृत्त-चित्र राजनीतिक सार से सम्पन्न थे।

साठ के दशक में फ्रांस के सिनेमा-वेरिटे ग्रुप और अमेरिका के डायरेक्ट सिनेमा आंदोलन ने स्टूडियो आधारित फ़िल्म-निर्माण संहिताओं की प्रतिक्रिया में वृत्त-चित्र शैली की फ़िल्मों में रचनात्मक हस्तक्षेप किया। मानवशास्त्री फ़िल्मकार ज्याँ रूश ने पचास के दशक में फ्रेंच प्रभाव वाले अफ्रीका में जा कर देशज लोगों के जीवन को सीधे-सीधे सेल्युलाइड पर उतारने के प्रयास किये थे। इस सिनेमा में न तो सम्पादन शामिल था, और न ही किसी तरह की दृश्य-सज्जा। साठ के दशक में रूश ने इस विशुद्ध वस्तुनिष्ठता से थोड़ा हटते हुए जनसाधारण के जीवन पर फ़िल्में बनायीं जिनमें वे और उनके साथी लोगों से उनके दैनंदिन जीवन और समस्याओं से संबंधित प्रश्न पूछते थे। इस लिहाज़ से सिनेमा-वेरिटे एक अमंचित, अ-नाटकीय, कथाकन-मुक्त फ़िल्मों का वाहक साबित हुआ। इस आंदोलन के कारण वृत्त-चित्र विधा इतिहास-लेखन की वर्चस्वी और संस्थागत प्रवृत्तियों के समांतर नया इतिहास गढ़ने के औज़ार के रूप में स्थापित हुई।

सत्तर के दशक में पश्चिमी समाजों के सांस्कृतिक रूप से उदार माहौल का लाभ उठा कर फ़िल्मकारों के कई अनौपचारिक समूहों और स्वतंत्र फ़िल्मकारों ने व्यवस्था और स्थापित मूल्यों को चुनौती देने वाले वृत्त-चित्र बनाये। नारीवादी वृत्त-चित्रों की शुरुआत हुई जिनके केंद्र में मातृत्व, वेश्यावृत्ति और नौकरीपेशा स्त्रियों की समस्याएँ थीं। ब्लैक स्त्रियों और अश्वेत स्त्रियों ने वृत्त-चित्रों के माध्यम से फ़िल्म-निर्माण की डगर पर पहले क़दम बढ़ाये। इसी के साथ वैकल्पिक सेक्शुअलिटीज़ (गे और लेस्बियन) आंदोलन ने भी वृत्त-चित्र माध्यम से समलैंगिकों के अदृश्य वजूद को दृश्य करने का उपक्रम शुरू किया। सत्तर के दशक में वृत्त-चित्र माध्यम गर्भपात, नस्लवाद, सेक्शुअल अस्मिता और आर्थिक शोषण जैसी विषयवस्तुओं की तरफ़ नागर समाज का ध्यान खींचने में सफल रहा।

टेलिविज़न के लोकप्रिय होने से वृत्त-चित्र की उपयोगिता में काफ़ी इज़ाफ़ा हुआ है। टीवी पर आने वाले समाचारों ने सूचना की दृश्यात्मकता को व्यापक समाज के धरातल पर स्थापित कर दिया है। आज सारी दुनिया में करोड़ों लोग टीवी के समाचार चैनलों पर रोज़-ब-रोज़ अनगिनत वृत्त-चित्र देखते हैं। वीडियो प्रौद्योगिकी के प्रसार, पहले सीडी और अब डीवीडी के सस्ते होते चले जाने के कारण वृत्त-चित्र बनाना काफ़ी सस्ता हो गया है। आधुनिक हल्के-फुल्के डिजिटल वीडियो कैमरे और कम्प्यूटर आधारित सम्पादन के कारण एक साधारण व्यक्ति के लिए भी डॉक्यूमेंटरी बनाना सम्भव हो चुका है। जिसने सारी दुनिया में इस विधा के उत्तरोत्तर लोकतंत्रीकरण का रास्ता खोल दिया है।

देखें : अतिनाटकीयता, अनुपस्थिति-उपस्थिति, कला सिनेमा, अवांगार्ड और प्रति-सिनेमा, टीवी और समाचार, टीवी और सेक्शुअलिटी, टीवी और टीवी-अध्ययन, तीसरा सिनेमा, तीसरी दुनिया का सिनेमा, दक्षिण भारतीय सिनेमा और राजनीति, श्रोता, दर्शक और पाठक, फ़िल्म-सिद्धांत, फ़िल्म और सेक्शुअलिटी, फ़िल्म और टीवी संस्करण, फ़िल्मांतरण, फ़िल्म-सिद्धांत, फ़्लैश-बैक, भारतीय सिनेमा-1, 2 और 3, भारतीय फ़िल्म-अध्ययन, भारतीय स्टार सिस्टम, रियलिटी टीवी, विचारधारा और हिंदी सिनेमा, सेलेब्रिटी, सोप ओपेरा, सिनेमाई यथार्थवाद, नव-यथार्थवाद, सोवियत सिनेमा, स्टार, हिंदी सिनेमा का समाजशास्त्र।

संदर्भ

1. आर. एम. बरसाम (1992), *नॉन-फ़िक्शन फिल्म : अ क्रिटिकल हिस्ट्री*, इण्डियाना युनिवर्सिटी प्रेस, इण्डियाना पोलिस और ब्लूमिंगटन.
2. बी. निकोल्स (1991), *रिप्रेजेंटिंग रियलिटी : इशूज़ ऐंड कंसेप्ट्स इन डॉक्यूमेंटरी*, इण्डियाना युनिवर्सिटी प्रेस, ब्लूमिंगटन.
3. एम. रेनोव (सम्पा.) (1973), *थियराइज़िंग डॉक्यूमेंटरी*, रॉटलेज, न्यूयॉर्क ऐंड लंदन.
4. ए. लोवेल और जे. हिलर (1972), *स्टडीज़ इन डॉक्यूमेंटरी*, सेकर और वारबर्ग, लंदन.

— अभय कुमार दुबे

वल्लत्तोल नारायण मेनन

(Vallttol Narayan Menon)

मलयालम के महाकवि और राष्ट्रीय-सांस्कृतिक जागरण के प्रमुख अग्रदूतों में एक वल्लत्तोल नारायण मेनन (1878-1957) का कृतित्व मातृभूमि-पूजा और गाँधी विचार-दर्शन की चेतना से सम्पन्न है। उपनिवेशवाद विरोधी असहयोग आंदोलन और समाज-सुधार उनके साहित्य में शब्द-मूर्त हुआ। किसी ज़माने में अंग्रेज़-भक्ति से भरे पाँच पद्यों 'भारत चक्रवर्ती पंचकम' रचने वाले वल्लत्तोल ने गाँधी की आवाज़ पर देश-प्रेम और राष्ट्रीयता में रची-बसी कविताएँ लिखीं। उनकी कविता 'मातृ वंदनम्' में मातृभूमि पूजा का अनुपम भाव लोक है। भारत की महत्त्व-महिमा ही वल्लत्तोल की कविता की अंतर्वस्तु रही है। हालाँकि वल्लत्तोल की कविता भारतीय मिथक माला से भरी हुई है, पर उन्होंने हिंदू-धर्म की असमानताओं, जाति-प्रथा, हरिजन पीड़ा के खिलाफ़ जम कर आवाज़ उठायी। उनकी एक कविता 'एक्य ही सबसे बड़ी सेवा है' में अगड़ी-पिछड़ी जातियों की एकता को ही मानव-सेवा बताया गया है। छुआछूत में जकड़ा हिंदू-समाज कवि वल्लत्तोल की चिंता का विषय रहा है। 'जाति प्रभाव' कविता का मूल कथ्य है कि हर क्रामत पर 'जातिवाद' को समाप्त करना है। हिंदू-मुसलमान एकता स्थापित किये बिना यह देश आगे बढ़ नहीं सकता। उनकी एक सशक्त कविता है 'गुलामी' जो स्वामी श्रद्धानंद की मृत्यु पर लिखी गयी है। 'मेरे गुरुनाथ' जैसी कविता गाँधी के बारे में है। 'मेरा प्रयाग-स्नान' में ऋषियों की वंदना है। हर साँस में वल्लत्तोल ने इतिहास-पुराण मिथक गाते हुए अतीत को वर्तमान में लाकर उससे हृदय-संवाद किया है।

साहित्य की दुनिया में नारायण मेनन अपने पारिवारिक नाम वल्लत्तोल से लोकप्रिय हुए। ब्राह्मण पिता और वल्लत्तोल घराने की कुहिप्पारू अम्मा के इकलौते पुत्र का गाँव चेन्नारा वेहंतुनार में साहसी राजाओं और कवियों की भावस्थली थी। मलयालम काव्य के जन्मदाता तुंचतु एपुत्तच्छन यहीं के थे। इसलिए वल्लत्तोल को एक विशेष परिवेश मिला। गाँव में उनकी शिक्षा मलयालम तथा संस्कृत में हुई। अपने वैद्य मामा रामुण्णि मेनन से संस्कृत की दीक्षा ली। काव्य और नाटकों का अध्ययन करने के बाद वे संस्कृत के विद्वान राम वारिवर से पढ़ने गये। उन्होंने *आष्टग हृदयम* वैद्यक का ग्रंथ पढ़ा था और समस्यापूर्ति में आनंद प्राप्त किया था। 'अक्षरश्लोकम' जैसा साहित्यिक खेल खेलने में भी उन्हें रस आता था। मित्र-मण्डली के साथ वे कथकली की ओर आकृष्ट हुए। आसपास कहीं भी कथकली हो, वे अवश्य

जाते थे। इस तरह उन्हें कविता तथा कथकली का संस्कार मिला। अपने अभ्यास की गति के कारण वे संस्कृत और मलयालम में कविता करने लगे। माँ के निधन पर उन्होंने संस्कृत में एक शोक-गीत की रचना की। इक्कीस वर्ष की अवस्था में कालिदास के ऋतुसंहार के अनुकरण पर ऋतु विलासम् काव्य की रचना की। सौभाग्यवश उन्हें वरिष्ठ रचनाकारों-कलाकारों का स्नेह प्राप्त हुआ और वे नये काव्य की रचना परम्परा में रम गये।

देवों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करने के लिए वल्लत्तोल ने इष्टदेवी की स्तुतियाँ, पौराणिक विषयों पर वर्णनात्मक कविताएँ लिखीं। कुछ अनुवाद भी किये। अचानक उन्हें केरल कल्पद्रुम प्रेस का मैनेजर बनने का निमंत्रण तीस रुपये माहवार पर मिला। उस समय यह बड़ी रकम थी। वल्लत्तोल ने यह कार्य स्वीकार किया और त्रिशूर गये जहाँ उनके साहित्यिक व्यक्तित्व ने निखार पाया। उनका घर साहित्यकारों का अड्डा

बन गया। अचानक हुए जुकाम से पूर्णतः बहरे हुए वल्लत्तोल ने बधिर पीड़ा को ले कर बधिर विलापम् नामक आत्मकथात्मक कृति की रचना की। 1890 में कल्पद्रुम प्रेस की नौकरी छोड़ कर गाँव आये और एक महाकाव्य की रचना में समर्पित हो गये। उस समय मलयालम का काव्य-प्रतिमान था उल्लू परमेश्वर अय्यर द्वारा रचित उमा केरलम्। इसी परम्परा के अनुरूप वल्लत्तोल ने चित्रयोगम् की रचना की जो सोमदेव कृत संस्कृत के कथासरितसागर की कथा पर आधारित है। 1,590 श्लोकों के इस काव्य पर उन्होंने दो वर्ष लगाये। मलयालम के एक दूसरे महाकवि कुमारन् आशान् को यह काव्य परम्परागत रूढ़िवादिता के कारण पसंद नहीं आया।

इसके बाद वल्लत्तोल ने कई प्रकार की रचनाएँ कीं, नाटकीय, प्रगीतात्मक, वर्णनात्मक। अनेक आख्यान-काव्य लिखे। चित्रयोगम् तो एक लम्बा आख्यान-काव्य है ही, आलोचकों ने एक स्वर से उनके पाँच आख्यान-काव्यों को उनकी कीर्ति का आधार माना है। ये हैं : बंदी अनिरुद्ध, शिष्य और पुत्र, मगदलन मरियम्, छोटी सीता, पिता और पुत्री। वल्लत्तोल उषा-अनिरुद्ध की कहानी से बहुत प्रसिद्ध हुए। उषा-अनिरुद्ध की प्रेम-कथा में मानव मन के रागों का विस्तार है और कथा में प्रकरण-वक्रता का सौंदर्य। बंदी अनिरुद्ध के चार वर्ष बाद 'शिष्य और पुत्र' कविता पाठकों के सामने आती है। परशुराम को छोड़ कर सभी पात्र स्वर्ग के निवासी हैं। नाटकीय तत्त्वों से भरपूर यह कविता परशुराम के कैलाश-गमन से शुरू होती है। परशुराम कैलाश जाकर शिव



वल्लत्तोल नारायण मेनन (1878-1957)

के घर के सामने उनके सुपुत्र गणेश और सुब्रह्मण्य को देखते हैं। उन्हें जल्दी नमस्कार कर आगे बढ़ते हैं तो गणेश रोकते हैं। बात बढ़ जाने पर युद्ध होता है। गणपति परशुराम को खिलौने सा घुमा देते हैं और परशुराम शिव से मिले कटार से गणेश का गजदंत काट देते हैं जो तेज शब्द-नाद के बाद गिर जाता है। आगे का कथानक शिव-पार्वती और परशुराम की कथाओं से सम्बद्ध है। पार्वती का मातृत्व एक नये सौंदर्य के साथ सामने आता है। यहाँ कृष्ण और राम को भी कथा में स्थान मिला है। देवताओं का मानवीय रूप वल्लत्तोल की दृष्टि में रहा है और इसी दृष्टि से शिव-पार्वती, कृष्ण-राधा और सीता यहाँ मानव-रूप में जीवन-सौंदर्य पैदा करते हैं।

साहित्य मंजरी के कई खण्ड हैं जो 1917-30 के बीच प्रकाशित होते रहे। उन्होंने संस्कृत के नाटक पंचरात्रम् तथा स्वप्नवासवदत्तम् का मलयालम में अनुवाद किया। केरलोदयम् साहित्यिक

पत्र का सम्पादन करने के साथ-साथ वे कवन कौमुदी और आत्मपोषिणी जैसी पत्रिकाओं से भी जुड़े रहे। उन्होंने यौवनकाल में एडवर्ड सप्तम की प्रशंसा के गीत लिखे। लेकिन बाद में ऐसा बदलाव आया कि गाँधी के शिष्य हो गये। कविता के लिए राजकीय पुरस्कार अस्वीकार करके वे राष्ट्रीय काव्य-धारा की ओर मुड़ गये। 1930 में केरल कला मण्डपम की स्थापना की तथा कथकली के प्रति पूजा-भाव व्यक्त किया। 1939 में वे रवींद्रनाथ के पास शांतिनिकेतन गये तथा कथकली नृत्य का प्रदर्शन किया। कथकली के पुनरोद्धार के लिए प्रयास करने के साथ इस दौर में उन्होंने साहित्यलहरी के चार खण्ड, काव्य-संकलन विषक्कणी, दिवास्वरनम् और वीर-शृंखला का प्रकाशन किया। वामपंथी विचारों से प्रभावित हो कर भी उन्होंने कुछ कविताएँ लिखीं। अनुवाद के क्षेत्र में कालिदास के शाकुंतलम्, वत्सराज के चार नाटक कपट केलि, कर्पूरचरितम्, रुक्मिणी हरणम्, तथा त्रिपुर दहन का अनुवाद किया।

वल्लत्तोल को अंग्रेजी नहीं आती थी। लेकिन इसका लाभ उन्हें यह हुआ कि उनकी सर्जनात्मकता का देसीपन अक्षुण्ण रहा। उन्होंने अपनी परम्परा को कमाया और संस्कृत की ज्ञान-संवेदना से स्वयं को स्वाधीन चिंतन में प्रवृत्त किया। वल्लत्तोल का परम्परावादी होना भारतीय जीवन की लय को मजबूती से ग्रहण करना है। मणि प्रवालम् शैली में वाल्मीकि, कालिदास-भास-भारवि एक साथ बोलते-मिलते हैं। प्रवाह के क्षणों में वल्लत्तोल की कविता में संस्कृत की शब्दावली

बढ़ जाती है। विद्वानों का कहना है कि हिंदू-धर्म की शब्दावली वल्लत्तोल में आसन जमाये बैठी रहती है और वे एक परम्परागत हिंदू की तरह विचार रखते हैं। पुराण तथा साहित्य के मेल से बना वल्लत्तोल का काव्य-संसार एक संस्कारी हिंदू के लिए बेहद रसमय है। उनकी प्रसिद्ध कविता है 'गोकुल में पहुँचे अक्रूर'। 'मेरे गुरुनाथ' में उन्होंने कहा है कि गीता की मातृभूमि ही ऐसे कर्मयोगी को जन्म दे सकती है। एक अन्य कविता 'पापमोचन' में उन्होंने गाँधी की युद्ध-वीरता को भीष्म की युद्ध-वीरता से जोड़कर देखा है। 'मेरी मगदलेन' में वे ईसा को कृष्णा मानते हैं।

वल्लत्तोल भारतीय दर्शन के गहन संसार में नहीं उतरते। वे पुराण में तथा महाकाव्यों में जीवन-सौंदर्य के रंग पाते हैं। भक्ति-प्रवाह ने वल्लत्तोल के कवि-हृदय में स्थान बनाया है। प्रकृति-सौंदर्य और ईश्वर-भक्ति में राग का स्पर्श बेहद मुग्धकारी है। उन्हें कविता ऐंद्रिकता का सुखद-भण्डार दिखाई देती है। नारी-सौंदर्य के मांसल-वर्णन में कवि-मन खिल उठता है और काली आँखों का अनुपम लोक उनकी कविता में रचा-बसा है। नारी और प्रकृति के अनगिनत रंग मिल कर वल्लत्तोल की कविता को एक नये सौंदर्य-लोक में ले जाते हैं। वल्लत्तोल की कविता पाठक को यह ध्यान बराबर दिलाती रहती है कि परम्परा स्मृति है और उसे हर कवि को कमाना पड़ता है।

वल्लत्तोल की छोटी कविताएँ साहित्य-मंजरी के ग्यारह खण्डों में संकलित की गयी हैं। कुछ अन्य संकलन भी हैं। कुल मिलाकर इन संकलनों में अनेक मनःस्थितियों, शैलियों और शिल्प प्रयोगों की कविताएँ हैं। वे 'किलिकोंचल' में सीता की माता पर ध्यान देते हैं। स्वामी विवेकानंद के जीवन पर नरेंद्र की प्रार्थना करते हैं और श्रमजीवी किसानों का गीत गाते हैं। उनकी कविता में किसान गाते हैं : 'पर विदेशी सत्ता के सामने झुकना मत / कंधे पर हल ख़ुशी से / पर कभी अपने स्वार्थ को उठाना मत।' कवि की आदर्शवादी कविताएँ भी कोरा उपदेश नहीं हैं— संकल्प हैं। वल्लत्तोल एक फटे पुराने तकिये से बात करते हैं। जीवन की मधुर स्मृतियों के बिम्ब इस कविता में झिलमिलाते हैं। प्रेमालाप सुनता तकिया मधुर क्षणों की स्मृति-मंजूषा है। लेकिन तकिये के वे दिन बीत गये, आज रह गया है मरुस्थल।

उन्होंने 1924 में एक प्रसिद्ध कविता का सृजन किया। 'मेरी मातृभाषा' कविता का छंद माकंद मंजरी है। इसमें पर्वत की स्थिरता, समुद्र की गम्भीरता, गोकर्ण के मंदिर की पुष्पलता, कन्याकुमारी की प्रसन्नता, पेरियार नदी की गंगा जैसी छवि, चंदन की चीजों की गंध, नारियल-पानी का माधुर्य, संस्कृत भाषा का नाद-सौंदर्य और तमिल की सुंदरता

का वर्णन है। वल्लत्तोल के लिए मातृभाषा मनुष्य की जन्मदात्री माँ है, अन्य भाषाएँ धाय हैं। वेद, शास्त्र, काव्य उनके लिए अपनी मातृभाषा में ही हृदय-वास करते हैं। उनकी भाषा केरली पंचमवेद सुनाती है। वह असमर्थ भाषा नहीं है। वल्लत्तोल में मातृभाषा-गौरव का स्वर प्रधान रहा है।

वल्लत्तोल ने ईसाई मित्रों के आग्रह पर बाइबिल को अपनी कविता में स्थान दिया। उनकी कृति *मगदलेन मरियम* 1929 प्रकाशित हो कर लोकप्रियता की दृष्टि से आगे रही। पाँच खण्डों की इस कविता की अंतर्योजना खण्डित नहीं है और काव्यात्मकता में बिम्बयोजना ने साथ दिया है। वल्लत्तोल का गद्यकार-समालोचक रूप भी पाठक का ध्यान आकृष्ट करता है। *केरलोदयम्* के बाद *आत्मपोषिणी* के सम्पादक बने। उनकी महत्त्वपूर्ण समीक्षाओं को उनके सखा कुहिकृष्ण ने *ग्रंथविहारम्* शीर्षक से 1925 में प्रकाशित किया।

वल्लत्तोल स्वच्छंद प्रकृति के कवि हैं। उन्हें पश्चिमी ढंग का स्वच्छंदतावादी कवि नहीं कहा जा सकता। उनमें देशी स्वच्छंदधारा का प्रवाह श्रीधर पाठक और रामनरेश त्रिपाठी की तरह प्रवाहित है। समय-समाज धर्म-राजनीति की नूतन प्रवृत्तियों ने उनकी युगीन मानसिकता तथा काव्यानुभूति की बनावट का रूप तय किया है। हिंदी के छायावादी कवियों की तरह वल्लत्तोल में आंतरिक भावों की लुका-छिपी नहीं है, बल्कि विषय को आत्म-भाषण बना देने की प्रवृत्ति है— चाहे वह शोकगीत हो या प्रेमगीत। उन्हें न छायावादी कहा जा सकता है, न प्रतीकवादी। वे अपनी संवेदना में जीवन के सहज रागों के गायक हैं।

देखें : अरविंद घोष, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, क्राजी नज़रुल इस्लाम, कुमार आशान्, गजानन माधव मुक्तिबोध, गोवर्धन राम त्रिपाठी और गुजराती अस्मिता, प्रेमचंद, फ़कीर मोहन सेनापति और ओडिया अस्मिता, बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय, भारतेंदु हरिश्चंद्र, महादेव गोविंद रानाडे, महावीर प्रसाद द्विवेदी, रवींद्रनाथ ठाकुर, राजा राममोहन राय, रामविलास शर्मा, रामचंद्र शुक्ल, रुक्मिणी देवी अरुंडेल, सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय, सुब्रह्मण्यम भारती, हजारी प्रसाद द्विवेदी।

संदर्भ

1. डॉ. नगेंद्र (सम्पा.) (1998), *भारतीय साहित्य का समेकित इतिहास*, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली.
2. वी. उणिक्कृष्णन नायर (1962), 'वल्लत्तोल', *मातृभूमि*, कालीकट.
3. *मातृभूमि वल्लत्तोल अंक* (1958), कालीकट.

— कृष्णदत्त पालीवाल

वल्लभभाई पटेल (Vallabhbhai Patel)

उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन को सर्वोच्च नेताओं में से एक, स्वतंत्र भारत के पहले गृहमंत्री और उप-प्रधानमंत्री, 562 देशी रियासतों को भारतीय संघ में सफलतापूर्वक मिलाने वाले सरदार वल्लभभाई पटेल (1885-1950) की गणना उन राष्ट्र-निर्माताओं में की जाती है जिनके बिना आधुनिक भारत के वर्तमान रूप की कल्पना भी नहीं की जा सकती। हालाँकि आज़ादी के बाद प्रधानमंत्री का पद जवाहरलाल नेहरू को मिला, लेकिन साठ और सत्तर की पीढ़ी के बहुत से राजनीतिकृत भारतीय पटेल को ही इस पद का सच्चा हकदार मानते रहे हैं। पटेल की अहमियत का अंदाज़ा इस बात से भी लगाया जा सकता है कि आज़ादी के पहले भी वे कांग्रेस के प्रमुख रणनीतिकार थे। चालीस के दशक में जब मुसलिम लीग, जिन्ना और अंग्रेज़ों के साथ कांग्रेस एक शतरंज जैसी बाज़ी में उलझी हुई थी, पटेल को कौशल और दूरदर्शी ने कई बार भारत-विरोधी तत्त्वों को मात दी। गाँधी अपने जिन तीन शिष्यों की मदद से कांग्रेस की बागडोर सँभालते थे, जवाहरलाल नेहरू और राजेंद्र प्रसाद के बाद तीसरे पटेल ही थे। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद पटेल बहुत कम जीवित रहे, पर अपने छोटे से ही कार्यकाल में उन्होंने लोकतांत्रिक राज्य की आधारशिला रखने में निर्णायक भूमिका का निर्वाह किया। पटेल की रणनीति ने सुनिश्चित किया कि उत्तर-औपनिवेशिक भारत छोटे-छोटे टुकड़ों में नहीं बँटेगा। जब जम्मू और कश्मीर, हैदराबाद और जूनागढ़ ने भारत में विलय से इनकार कर लिया, तो पटेल ने सेना का इस्तेमाल करके हैदराबाद और जूनागढ़ का भारत में विलय कराया। बदली हुई परिस्थितियों में जम्मू और कश्मीर के शासक द्वारा भारतीय संघ में शामिल होने के पीछे भी पटेल की ही भूमिका थी। उनकी दृढ़ता और असाधारण योगदान के कारण ही उन्हें लौह-पुरुष के नाम से पुकारा जाता है।

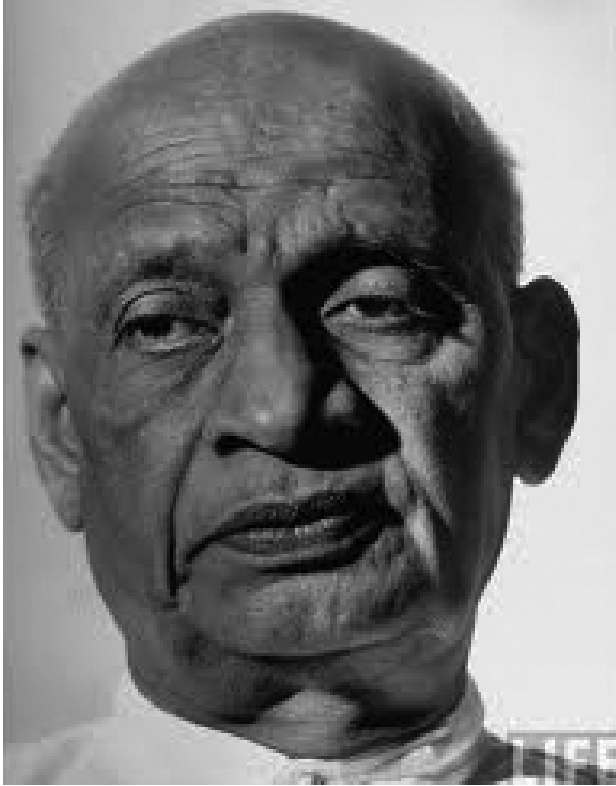
सरदार पटेल का जन्म गुजरात के खेड़ा ज़िले में नांदेड़ नामक स्थान पर 31 अक्टूबर, 1875 को एक साधारण किसान परिवार में हुआ था। इनके पिता झवेरभाई एक छोटे किसान थे जिनके पास 11-12 एकड़ ज़मीन थी। वल्लभभाई बचपन से ही बहुत मेहनती और लगनशील थे। वे करमसाड के प्राथमिक स्कूल में पढ़ने के साथ ही खेतों में अपने पिता की मदद भी किया करते थे। माध्यमिक स्तर की शिक्षा के लिए उन्हें अपने गाँव से 14 किलोमीटर दूर जाना पड़ता था। पटेल स्कूल के दिनों से ही काफ़ी मुखर भी थे। अपने कुछ समकालीन नेताओं, खासतौर पर मोतीलाल नेहरू और उनके पुत्र जवाहरलाल के विपरीत पटेल को अपनी शिक्षा के लिए

खुद काम भी करना पड़ा। बाईस साल की उम्र में उन्होंने यह तय कर लिया था कि वे ग़रीबों के लिए न्याय की लड़ाई लड़ेंगे। उन्होंने क्रानून की पढ़ाई की और गोधरा में वकालत शुरू की जहाँ उनके बड़े भाई विट्ठलभाई पटेल वकील के रूप में पहले ही ख़ासा नाम कमा चुके थे। बाद में, वल्लभभाई वकालत करने के लिए बोरसाड चले गये।

वल्लभभाई फ़ौजदारी के एक बेहद कुशल वकील साबित हुए। अपनी मेहनत, योग्यता और किफ़ायत के कारण उन्होंने तीन सालों की प्रैक्टिस से अच्छा-ख़ासा पैसा जमा कर लिया। इसके बाद उन्होंने लंदन के मिडिल टैम्पल में नामांकन के लिए आवेदन किया। लेकिन ट्रैवेल एजेंट की ग़लती से टिकट उनके भाई के पते पर पहुँच गया। टिकट पर इनका नाम मिस्टर वी.जे. पटेल लिखा था, जो उनके भाई विट्ठलभाई पटेल का नाम भी हो सकता था। विट्ठलभाई भी लंदन जाना चाहते थे। उन्होंने वल्लभभाई से आग्रह किया कि वे उन्हें जाने दें। वल्लभभाई अपने बड़े भाई की बहुत इज़्ज़त करते थे, इसलिए वे खुद नहीं गये और अपने बड़े भाई को लंदन में क्रानून की पढ़ाई के लिए भेज दिया।

इसके कुछ समय बाद पटेल की पत्नी जवेरीबाई का निधन हो गया। उस समय पटेल आणंद की अदालत में अपने मुवक्किल के पक्ष में जिरह कर रहे थे। जब इन्हें इस बारे में तार मिला तो उन्होंने उसे पढ़ने के बाद भी शांत होकर अपना काम पूरा किया। उस समय उनकी बेटी मणिबेन छह साल की थी और बेटा दयाभाई चार साल का। वल्लभभाई ने तय किया वे अपने बच्चों की खातिर दोबारा शादी नहीं करेंगे। उन्होंने देश-सेवा में अपना जीवन लगाने का निश्चय किया। विट्ठलभाई के लंदन से लौटने के बाद वल्लभभाई 1910 में क्रानून की आगे की पढ़ाई के लिए लंदन के मिडिल टैम्पल गये। पटेल के पास बहुत ज़्यादा पैसा नहीं था, इसलिए उन्हें लंदन में अपने गुज़ारे के लिए बहुत मेहनत करनी पड़ी। वे हर रोज़ मिडिल टैम्पल की लाइब्रेरी, जो उनके निवास से अच्छा-ख़ासा दूर थी, तक पैदल जाते थे। अक्सर वे रात में लाइब्रेरी बंद होने तक पढ़ा करते थे। अपनी कड़ी मेहनत के कारण उन्होंने एक साल पहले ही अपना कोर्स पूरा कर लिया। उन्हें अपनी आखिरी परीक्षा में प्रथम श्रेणी और पचास पाउंड का इनाम भी मिला।

क्रानून की पढ़ाई ख़त्म करने के बाद भारत मुम्बई के मुख्य न्यायाधीश ने पटेल को गवर्नमेंट लॉ कॉलेज में प्रोफ़ेसरशिप देने का प्रस्ताव किया। लेकिन पटेल ने अहमदाबाद में ही रहने का फ़ैसला किया। इस समय तक उनका पूरी तरह से पश्चिमीकरण हो चुका था। वे हमेशा कोट-पैट पहनते थे और अहमदाबाद में उनकी वकालत की आमदनी भी बहुत ज़्यादा बढ़ गयी थी। 1916 तक अहमदाबाद के वकीलों में पटेल की फ़ीस सबसे ज़्यादा होती



सरदार वल्लभभाई पटेल (1885-1950)

थी। एक साल बाद उन्होंने अहमदाबाद में म्युनिसिपल काँसिलर का चुनाव लड़ा और सफल हुए। इसी दौर में गाँधी ने भी अहमदाबाद में अपना आश्रम स्थापित किया।

कहा जाता है कि पटेल ने पहली बार गुजरात क्लब में गाँधी के भाषण को सुनने से मना कर दिया था अहिंसक सत्याग्रह द्वारा आज़ादी पाने के गाँधी के विचारों के बारे में व्यंग्यात्मक टिप्पणियाँ की। लेकिन बिहार के चम्पारण में गाँधी द्वारा नील की खेती करने वाले किसानों के पक्ष में चलाये गये आंदोलन ने पटेल के नज़रिये में बदलाव किया। इसके बाद जल्दी ही गाँधी उनके राजनीतिक गुरु बन गये और जीवन भर उनके नेता रहे। गाँधी के साहस ने पटेल को बहुत प्रभावित किया। उन्होंने अपनी जमी-जमाई प्रैक्टिस छोड़ दी और खुद को गाँधी के नेतृत्व में भारत की स्वतंत्रता के लिए समर्पित कर दिया। जब भी उनके बीच में कोई मतभेद होता था, पटेल खुल कर अपने विचार व्यक्त करते थे, लेकिन आखिरकार वे काम गाँधी के निदेशों के अनुसार ही करते थे। मज़ाकिया लहजे में पटेल कहा करते थे कि उन्होंने अपने दिमाग में ताला लगा लिया है और उसकी चाबी गाँधी को दे दी है।

1917 में अहमदाबाद में प्लेग फैला। इस समय पटेल अहमदाबाद स्वच्छता कमेटी के अध्यक्ष थे। गाँधी की प्रेरणा के कारण ही इस समय पटेल ने अपनी व्यक्तिगत सुरक्षा के लिए शहर से बाहर जाने से मना कर दिया और लोगों की

देखभाल के काम में लगे रहे। पटेल का पहला बड़ा सत्याग्रह उनके नेतृत्व में गुजरात के खेड़ा ज़िले में किया गया किसानों का आंदोलन (1918-19) था। यहाँ किसानों की फ़सल बहुत ज्यादा बारिश होने के कारण ख़राब हो गयी थी। इसलिए उन्होंने सरकार से लगान कम करने और कुछ समय तक इसकी वसूली रोकने का आग्रह किया था। सरकार ने उनके अनुरोध को ठुकरा कर पूरा लगान वसूलने का फ़ैसला किया। गाँधी के कहने पर पटेल ने इस क्षेत्र के हर गाँव का दौरा किया। लोगों की स्थिति के बारे में आँकड़े तैयार किये और उनसे यह कहा कि वे टैक्स न दें। सरकार ने बहुत से लोगों के घरों और फ़सलों की नीलामी करवा दी। लेकिन अधिकतर किसान आंदोलन के साथ डटे रहे और यह संघर्ष छह महीने तक चला। आखिरकार सरकार को झुकना पड़ा और उसने सिर्फ़ आठ प्रतिशत लगान वसूलने का फ़ैसला किया।

असहयोग आंदोलन में गाँधी के आह्वान पर अहमदाबाद में पटेल ने आंदोलन का नेतृत्व किया। उन्होंने अपने विलायती कपड़े जला दिये और अपनी बेटी मणिबेन को ब्रिटिश स्कूल से वापस बुला लिया। उनके वकालत छोड़ लेने के कारण परिवार को बहुत सी समस्याओं का भी सामना करा पड़ा। 1922 में गाँधी की गिरफ़्तारी के बाद पटेल ने अपनी पूरी ऊर्जा अपने राजनीतिक गुरु के आदर्शों के प्रचार-प्रसार में लगा दी। 1928 में पटेल ने बारदोली में ग़रीब किसानों के संघर्ष का नेतृत्व किया। यहाँ लगान में बहुत ज्यादा बढ़ोतरी होने के कारण किसान बहुत दुखी थे। पटेल ने गाँवों का दौरा किया और लोगों को अपनी उदासीनता छोड़कर आंदोलन करने के लिए प्रेरित किया। उन्होंने किसानों से अपना आंदोलन शांतिपूर्ण रखने की भी अपील की। सरकार ने किसानों की सम्पत्ति की कुर्की शुरू की। लेकिन आखिरकार किसानों के आंदोलन के दबाव में सरकार ने बढ़ी हुई लगान की दर को 22 से कम करके 7 प्रतिशत कर लिया। यह पटेल के नेतृत्व में हुआ दूसरा सफल सत्याग्रह था जिसमें कोई हिंसा नहीं हुई और बड़ी जीत हासिल की गयी। इसी समय गाँव के किसानों ने पटेल को सरदार का दर्जा लिया और इस उपनाम से वे पूरे देश में प्रसिद्ध हुए। मार्च, 1931 में सरदार पटेल ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के कराची अधिवेशन की अध्यक्षता की। अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने पूर्ण-स्वराज और हिंदू-मुसलिम एकता पर बल दिया। कराची अधिवेशन में ही कांग्रेस ने औपचारिक रूप से नागरिकों के मूल अधिकारों की अवधारणा को स्वीकार किया; और इसी दौरान केसरिया, सफ़ेद और हरे के साथ भारत के तिरंगे झंडे को अपनाया गया।

1935 के गवर्नमेंट ऑफ़ इण्डिया एक्ट के बाद ग्यारह ब्रिटिश प्रांतों में कांग्रेस की सरकार बनी। इन चुनावों में

उम्मीदवारों की जीत और सरकारों के बेहतर समन्वय में भी पटेल ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। इस पूरे दौर में पटेल गाँधी की राजनीति का समर्थन करते रहे। 1942 में नेहरू समेत बहुत सारे नेता भारत छोड़ो आंदोलन छेड़ने के पक्ष में नहीं थे। लेकिन पटेल ने गाँधी के फ़ैसले का समर्थन किया। आंदोलन शुरू होने के बाद गाँधी, नेहरू, मौलाना आज़ाद आदि प्रमुख कांग्रेस नेताओं की तरह पटेल को भी गिरफ्तार कर लिया गया। उन्हें जून 1945 में जेल से रिहा किया गया।

1945 के बाद सत्ता-हस्तांतरण के मसले पर नेहरू और पटेल ने बेहद महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। गाँधी के सख्त विरोध के बावजूद नेहरू और पटेल, दोनों ही भारत के विभाजन के लिए तैयार हो गये। शायद उन्हें यह उम्मीद थी कि ऐसा करके वे देश को मुसलिम लीग की नकारात्मक और विघटनकारी राजनीति से बचा लेंगे। पटेल स्वतंत्र भारत की पहली सरकार में गृहमंत्री और उप-प्रधानमंत्री बने। 562 रजवाड़ों का भारत में विलय करवाना उनका ऐतिहासिक योगदान था। ये रजवाड़े भारत के कुल भौगोलिक क्षेत्र का एक-तिहाई थे। पटेल की कूटनीति और रणनीतिक कुशलता के कारण अधिकांश रजवाड़ों ने भारत में विलय स्वीकार कर लिया। जूनागढ़, हैदराबाद और जम्मू और कश्मीर ने ऐसा नहीं किया। जूनागढ़ और हैदराबाद में पटेल ने सैन्य शक्ति क मदद ली। जम्मू और कश्मीर में ऐसी स्थितियाँ पैदा हुईं जिसके कारण वहाँ के शासक को भारत में विलय के लिए मजबूर होना पड़ा। इसके बाद पटेल ने वहाँ सेना भेजकर भारत की स्थिति मजबूत की।

यद्यपि पटेल ने गाँधी को अपना राजनीतिक गुरु मानते थे। लेकिन गाँधी की राजनीति के कई पहलुओं से उनका गहरा अलगाव भी था। मसलन, गाँधी सैन्य शक्ति और परमाणु बम के बिल्कुल ही खिलाफ़ थे, जबकि पटेल राष्ट्र की सुरक्षा के लिए उनका उपयोग करने को तैयार थे। नेहरू की तरह की पटेल भी गाँधी के *हिंद-स्वराज* में पेश किये गये आधुनिकता के विरोध की अवधारणा को नहीं मानते थे। एक राष्ट्र और राज्य निर्माता के तौर पर भारत विभाजन के समय उन्होंने भारत में रुकने वाले मुसलमानों को राष्ट्र के प्रति निष्ठा रखने का उपदेश लिया। उन्होंने मध्य युग में महमूद गजनवी द्वारा तोड़े गये सोमनाथ मंदिर का पुनर्निर्माण भी कराया। वे इसे भी राष्ट्रवाद से जोड़ कर देखते थे। उनके इन क़दमों का गाँधी की राजनीति और नेहरू की सेकुलरवादी राजनीति से गहरा विरोध था। 15 दिसम्बर, 1950 में अपनी मृत्यु तक वे एक मजबूत, समृद्ध और एकताबद्ध भारत के लिए काम करते रहे।

देखें : अबुल कलाम आज़ाद, उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन-1 से 3 तक, एलमकुलम मनक्कर शंकरन नम्बूद्रीपाद, कांशी राम, गोपाल कृष्ण गोखले, चरण सिंह, जवाहर लाल नेहरू, जय प्रकाश नारायण,

दादाभाई नौरोजी, नरेंद्र देव, बाल गंगाधर तिलक, मोहनदास कर्मचंद गाँधी-1 से 3 तक, राममनोहर लोहिया, विनायक दामोदर सावरकर, सहजानंद सरस्वती।

संदर्भ

1. पी.एन. चोपड़ा (1995), *द सरदार ऑफ़ इण्डिया*, एलाइड पब्लिशर्स, नयी दिल्ली.
2. पी.एन. चोपड़ा और प्रभा चोपड़ा (2002), *सरदार पटेल, नेहरू, गाँधी एंड सुभाष बोस*, कोणार्क पब्लिशर्स, नयी दिल्ली.
3. राजमोहन गाँधी (1990), *पटेल : अ लाइफ़*, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद.

— कमल नयन चौबे

वाचिकता

(Orality)

जब सम्प्रेषण का माध्यम केवल बोलने और सुनने तक सीमित हो, तो वह वाचिकता की स्थिति होती है। वाचिकता के दो प्रकार हैं। प्राथमिक वाचिकता उन संस्कृतियों और समुदायों की विशेषता रही है जो अपनी विश्व-दृष्टि, विमर्श, वक्तृता और मानस की रचना में साक्षरता की व्यापक अनुपस्थिति के लिए जाने जाते हैं। ये समाज वाचिक संस्कृति की श्रेणी में आते हैं। इनमें बोले गये और सुने गये शब्द और ध्वनि का सम्पूर्ण प्रभुत्व होता है। यहाँ तक कि कभी-कभी तो इन संस्कृतियों में वर्ण-विन्यास (मानकीय लेखन प्रणाली) भी नहीं होता। द्वितीयक वाचिकता आधुनिक संस्कृतियों और समाजों की परिघटना है। औपचारिक शिक्षा को सर्वोच्च मूल्य की तरह ग्रहण करने वाले इन समाजों में साक्षरता का विधिवत् और निरंतर प्रसार किया जाता है। लेकिन इन समाजों में भी वाचिकता मौजूद रहती है। उसकी मदद से नन्हें बच्चों को शुरुआती शिक्षा दी जाती है। रेडियो, टेलिविज़न, फ़िल्म और टेलिफ़ोन वगैरह माध्यमों में प्रौद्योगिकी के ज़रिये शब्दों और ध्वनियों का सम्प्रेषण किया जाता है। वैसे तो सुनने-बोलने-सुनने का समीकरण मानवीय जीवन में औपचारिक प्रशिक्षण के बिना ही विकसित हो जाता है, लेकिन आधुनिक समाजों में पढ़ने-लिखने की ही तरह वाचिक क्षमताएँ विकसित करने की बाकायदा ट्रेनिंग मिलती है। शिक्षाशास्त्रियों और अकादमीशियनों ने इसे ओरेसी या ओरेलसी का नाम दिया है। लिखित पाठ की मदद के बिना भाषण देने की कला (आर्ट ऑफ़ ओरेशन) राजनीति में

सफल होने के लिए बहुत जरूरी है। जिनके पास यह कला है, माना जाता है कि उनमें नेतृत्व के गुण हैं। सायास वाचिकता का यह उदाहरण भी द्वितीयक श्रेणी में आता है।

समाज-विज्ञान में वाचिकता की चर्चा दो तरह से आती है। वाचिक संस्कृति की अवधारणा के रूप में, और वाचिकता बनाम साक्षरता की बहस के रूप में। वाचिक संस्कृति की अवधारणा उन महत्वपूर्ण सांस्कृतिक आख्यानों के संदर्भ में विकसित की गयी थी जो अपने लिखे जाने से पहले केवल बोले गये रूपों में मौजूद थे। एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक इन आख्यानों का संचरण स्मृति और वाचिकता के संयोग से ही होता था। शुरुआती दौर में विद्वानों ने उनके लिखित रूपों में निहित उन आयामों को रेखांकित करने का प्रयास किया जिनमें बोला गया विमर्श झलकता था। आगे चल कर मनोवैज्ञानिकों, समाजशास्त्रियों, मानवशास्त्रियों, लोकगाथाओं और मिथकों के अध्येताओं ने अपने-अपने हस्तक्षेप से वाचिकता-अध्ययन को समृद्ध किया।

उन्होंने बाल्कन देशों, पूर्व सोवियत संघ के देशों, ऑस्ट्रेलिया, अफ्रीका और ऐसी ही अन्य जगहों में पहले और आज भी मौजूद रहे वाचिक-जगत पर गहरा अनुसंधान करके दिखाया कि वाचिकता की समझ के बिना साहित्यिक विश्लेषण किस तरह अधूरा रह जाता है।

वाचिकता और साक्षरता के बीच तुलनात्मक बहस की केंद्रीय विभूति वाल्टर जैक्सन ओंग हैं। 1982 में उनकी रचना *ओरलिटी एंड लिटरेसी* प्रकाशित हुई जिसने विभिन्न अनुशासनों को वाचिकता के बारे में सोचने के लिए मजबूर किया। साहित्यिक और समाज-वैज्ञानिक स्रोतों की मदद से ओंग ने दिखाया कि किस तरह साक्षरता का जन्म वाचिकता से हुआ है। ओंग ने यह दावा किया कि प्राथमिक वाचिक संस्कृतियों में बहस और विवादप्रियता के रुझान थे। इसके साथ ही ये संस्कृतियाँ वक्तृता के सामुदायिक रूपों को अपनाती थीं। अगर वाचिक संस्कृतियों के इन पहलुओं की तुलना साक्षर संस्कृतियों से करें, तो ओंग की यह दलील और स्पष्ट हो जाती है कि प्राथमिक क्रिस्म की वाचिकता सहभागिता और परानुभूति को प्रोत्साहित करती है। इस वाचिकता में दो पक्षों का आमने सामने होना जरूरी है। चुनौती और संघर्ष की भावना से किया गया मौखिक संवाद ऐसी स्थितियों में टकराव भी पैदा कर सकता है। इसके विपरीत आधुनिक समाज में द्वितीयक वाचिकता के लिए दोनों पक्षों का होना आवश्यक नहीं होता। मसलन, टेलिफोन के जरिये होने वाला संवाद, रेडियो-टीवी-फ़िल्म के जरिये

होने वाला संवाद। इस वाचिकता में सहभागिता, परानुभूति और जद्दोजहद की सम्भावना बहुत कम रह जाती है।

ओंग ने अपनी इस विख्यात रचना में यह भी कहा कि वाचिक संस्कृतियाँ कुछ ऐसे निर्देशक सिद्धांतों पर अमल करती थीं जो साक्षर संस्कृतियों में बेतुके लगते हैं। लेखन की ग़ैर-मौजूदगी समाज में स्मृति की हैसियत को एक अलग शकल दे देती है। इस संस्कृतियों में ऐसा कोई पाठ होता ही नहीं जिसे याद किया जा सके। इसलिए रटने जैसे किसी कृत्य का इन समाजों को पता ही नहीं होता। ऐसे समाज 'होमियोस्टेटिक' हो जाते हैं अर्थात् उनमें स्मृति हमेशा स्वाभाविक रूप से छँटाई के दौर से गुज़रती रहती है ताकि आगे के इस्तेमाल के लिए बौद्धिक गुंजाइश हमेशा बनी रहे। प्राथमिक वाचिकता में बहुत कम ही ऐसा होता है कि शब्दों के अर्थों की कई परतें हों। चूँकि ऐसी संस्कृतियों में शब्दों का भण्डारण शब्दकोशों में नहीं होता इसलिए उन्हें दोबारा प्राप्त करना, या उनका जीर्णोद्धार करना या उनका अर्थ-विस्तार करना मुमकिन नहीं होता।

ओंग यह भी कहते हैं कि साक्षर संस्कृतियों में नये विचारों का आगमन अपेक्षाकृत कम जोखिम भरा होता है, क्योंकि पुराने विचार अपनी लिखित मौजूदगी के कारण हमेशा हाथ भर की दूरी पर उपलब्ध रहते हैं। जबकि वाचिक संस्कृति में पारम्परिक आस्थाएँ और आचरण लम्बे अरसे तक जारी रहते हैं क्योंकि उन संस्कृतियों के वासियों को नये विचारों पर आधारित प्रयोगों में जोखिम प्रतीत होता है। एक प्रचलित जीवन-शैली से मिलने वाले आराम और स्थायित्व की गारंटी होती है, जबकि जीवन-शैली बदलने के प्रस्ताव से यह गारंटी अस्थिर हो जाती है।

जाहिर है कि ओंग के विचार में प्राथमिक क्रिस्म की वाचिकता परिस्थितिजन्य है। उसका अमूर्तन से वास्ता नहीं होता। इन संस्कृतियों में रहने वाले लोगों विचारों से ऐसे औज़ारों का काम लेते हैं जिनसे रोज़मर्रा की जरूरतें पूरी हो सकें और चुनौतियों का सामना किया जाता रहे। इसीलिए वाचिक महाकाव्यों में हर परिस्थिति का चित्रण अपने आप में एक सम्पूर्ण अनुभव की तरह उभर कर आता है। ओंग ने यह निष्कर्ष भी निकाला है कि इन्हीं वजहों से वाचिक संस्कृतियों को नफ़ीस क्रिस्म की गणितीय या तर्कशास्त्रीय प्रणालियों की आवश्यकता नहीं होती। न ही उन्हें अपने से बाहर झाँकना पड़ता है। वाचिक संस्कृतियों की दुनिया अपने तत्कालीन परिवेश और शारीरिक क्षमताओं से परे जाने में दिलचस्पी नहीं दिखाती। वह उस क्षण और उस जगह में ही



वाल्टर जैक्सन ओंग (1912-2003)

जीवित रहती है जिसमें उसका वास है।

ऐसी संस्कृतियों के मुकाबले औद्योगिक समाजों की साक्षर दुनिया अतीत और वर्तमान की अमूर्त कल्पनाओं में जीती है। वह प्रतीकों और चिह्नों के संसार में खोयी रहती है, इस क्रम में कि अक्सर प्रामाणिक अनुभव उसके पास से गुजर जाते हैं और उसे उनका एहसास भी नहीं होता। इसीलिए ऑग ने इन संस्कृतियों में मिलने वाली वाचिकता को द्वितीयक करार दिया है। यह वाचिकता प्राथमिक वाचिकता की नकल करती है। इसका आधार दरअसल लिखित या पाठ्य होता है, चाहे वह प्रौद्योगिकी के किसी भी रूप द्वारा प्रसारित हो रहा हो। जो पढ़ा जाता है, वह भी लिखित पाठ को रट कर याद कर लिया जाता है। चाहे नाटकों की वाचिकता हो या फ़िल्मों या रेडियो की, उसके पीछे लिखित पटकथा का नियंत्रण मौजूद रहता है।

ऑग के सूत्रीकरणों पर काफी बहस हुई है। मसलन, कुछ सिद्धांतकार कहते हैं कि वाचिकता और साक्षरता की तुलना दरअसल साक्षरता के आइने में देख कर की जा रही है। इसके कारण वाचिक संस्कृतियाँ कमतर लगने लगती हैं। उन पर प्राक्-साक्षर जैसे लकब चस्पाँ किये जाते हैं। बजाय इसके कि साक्षरता बोले गये शब्द को संहिताबद्ध करने की प्रक्रिया की तरह देखी जाए, और बजाय इसके कि साक्षरता मानवीय भाषा की मौखिक बुनियाद की प्रतीक-चिह्नों के रूप में अभिव्यक्ति की तरह देखी जाए, उल्टी प्रक्रिया चलने लगती है। लिखित के जरिये मौखिक को वैध किया जाने लगता है। वाचिक साहित्य जैसी श्रेणियाँ बनायी जाने लगती हैं, जबकि साहित्य या लिटरेचर अपने आप में वाचिक संस्कृतियों से उपजने वाले आख्यानो की प्रकृति और महत्त्व का निषेध है। इसी प्रक्रिया में एक गलतफ़हमी और फैलती है। निरक्षरता को प्राथमिक वाचिकता समझा जाने लगता है। प्राथमिक वाचिक संस्कृतियों में तो निरक्षरता सम्भव ही नहीं है, क्योंकि उनके लिए तो साक्षरता का अस्तित्व ही नहीं है।

वाचिकता के अध्ययन की दूसरी आलोचना उस विडम्बना की तरफ़ इशारा करती है जिसके तहत हम वाचिकता के बारे में किताबों, लेखों, प्रतिलेखनों और रिकॉर्डिड सामग्री के जरिये जानने की कोशिश करते हैं। इस तरह प्राथमिक वाचिकता को द्वितीयक में बदल कर उसके बारे में लिखित भाष्य किया जाता है। इंटरनेट के उद्भव ने संचार की जिस तात्कालिकता को जन्म दिया है, उससे ओरलिटी का महत्त्व नये सिरे से रेखांकित हुआ है।

देखें : अभिजन, अभिरुचि, आत्महत्या, उन्मूलनवाद, एजेंसी, कर्मकाण्ड, कारागार, गोपनीयता, गृहविहीनता, जादू, जीवन-शैली, टेलरवाद, परम्परा, परस्पर विपरीत द्विभाजन, प्रति-(संस्कृति, विमर्श, इतिहास, वर्चस्व, स्मृति), प्राइवैसी, प्रौद्योगिकी, फुरसत, बचपन, बहुपत्नी प्रथा, बहुपति प्रथा, बुद्धिसंगत चयन का सिद्धांत, बुजुर्गियत का

समाजशास्त्र, बेगानगी, भीड़, भ्रष्टाचार का समाजशास्त्र-1 और 2, मानव-प्रकृति, मानवशास्त्र और मार्क्सवाद, मानवशास्त्र और संस्कृति की राजनीति, सेवानिवृत्ति, विचलन, ज्ञान का समाजशास्त्र।

संदर्भ

1. डब्ल्यू.जे. ऑग (1982), *ओरलिटी ऐंड लिटरेसी : द टेक्नोलॉजिजिंग ऑफ़ द वर्ड*, रॉटलेज, लंदन.
2. एम.जे. कलिंग्सवर्थ (1993), 'प्रोडक्ट ऐंड प्रोसेस, लिटरेसी ऐंड ओरलिटी : ऐन एसे ऑन कम्पोजीशन ऐंड कल्चर', *कॉलेज कम्पोजीशन ऐंड कम्प्युनिकेशन*, खण्ड 44, अंक 1.
3. ई.ए. हैवलोक (1986), *द म्यूज लर्न्स टु राइट : रिफ्लेक्शंस ऑन ओरलिटी ऐंड लिटरेसी ऐंड लिटरेसी फ्रॉम एंटीक्विटी टु द प्रजेंट*, येल युनिवर्सिटी प्रेस, न्यू हैविन
4. ओ. फ्रॉक्स (2009), 'ओरलिटी', जेकब एल. मे (सम्पा.), *कंसाइज़ इनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ प्रैग्मेटिक्स, एल्सेवियर, ऑक्सफर्ड*

— अभय कुमार दुबे

वात्स्यायन और कामसूत्र

(Vatsyayana and Kamsutra)

ऐंद्रिक प्रेम पर केंद्रस्थ आचार्य वात्स्यायन मल्लनाग रचित *कामसूत्र* को लगभग ढाई हजार साल पहले की कृति माना जाता है। जिस तरह कौटिल्य का *अर्थशास्त्र* राजनीति, प्रशासन, अर्थव्यवस्था और समाज-व्यवस्था का प्रावधान करने वाली एक विस्तृत संहिता है और जिस तरह भरत का *नाट्यशास्त्र* कला-कौशल और रस-सिद्धांत की तर्कपूर्ण निष्पत्ति करता है, उसी तरह वात्स्यायन का कामसूत्र भी यौनक्रिया, स्त्री-पुरुष संबंध और उनसे जुड़ी हुई सामाजिकता की सेकुलर आचार-संहिता के रूप में सामने आता है। भारतीय समाज-विज्ञान ने वात्स्यायन की इस विश्व-विख्यात रचना पर बहुत कम ध्यान दिया है। मनोशास्त्री सुधीर कक्कड़, वेंडी डोनिगर और कुमकुम राय आम तौर से की गयी इस उपेक्षा के अपवाद हैं।

कामसूत्र में सात अधिकरण, 36 अध्याय, 64 प्रकरण और 1250 सूत्र संकलित हैं। अपनी रचना के बारे में वात्स्यायन का कहना है कि उन्होंने समाज को जीवंत और जाग्रत बनाये रखने के लिए *कामसूत्र* की रचना की है, कामुकता के प्रचार के लिए नहीं। वे बताते हैं कि उन्होंने पूर्वाचार्यों के शास्त्रों को एकत्र कर उनका अध्ययन किया और उनके प्रयोगों का परीक्षण करके बड़े यत्न से संक्षेप में इसे रचा। वात्स्यायन का यह भी दावा है

कि इस कामशास्त्र के तत्त्व को भलीभाँति समझने वाला व्यक्ति धर्म, अर्थ, काम, आत्मविश्वास और लोकाचार को देखते-समझते हुए आगे बढ़ता है न कि राग या कामुकता से। सूत्रकार का कहना है कि इसमें प्रकरणवश अच्छी और बुरी सभी बातें दी गयी हैं लेकिन वे सभी प्रयोग के लिए नहीं हैं। शास्त्र का विषय व्यापक सार्वभौम होता है लेकिन प्रयोग देश-काल से बँधे होते हैं। अपनी कृति का प्रयोजन स्पष्ट करते हुए वात्स्यायन कहते हैं कि *कामसूत्र* की रचना अमोघ ब्रह्मचर्य और निर्विकल्प समाधि द्वारा लोक-व्यवहार को सुचारु-सफल बनाने के लिए की गयी है। इसका प्रयोजन और विधान रति-राग नहीं है और जो *कामसूत्र* का तत्त्वज्ञ है और धर्म, अर्थ और काम की स्थिति एवं अपने लोक-व्यवहार की रक्षा करता है। वह जितेंद्रिय होता है।

वात्स्यायन के जीवन-काल के बारे में तथ्यात्मक स्पष्टता नहीं है। म.म. हरप्रसाद शास्त्री उन्हें ईसा की पहली शताब्दी का मानते हैं। कुछ इतिहासकार उन्हें तीसरी का तो कुछ चौथी शती का मानते हैं। आचार्य सूर्यनारायण व्यास वात्स्यायन को ईसा पूर्व पहली शती का स्वीकारते हैं। हेमचंद्र, वैजयंती, त्रिकाण्ड शेष और नाममालिका कोशों में कौटिल्य और वात्स्यायन दोनों को एक ही बताया गया है। इसके अलावा चाणक्य, विष्णुगुप्त, मल्लनाग, पक्षिलस्वामी, द्रामिल या द्रोमिण, वररुचि मेयजित पुनर्वसु और अंगुल जैसे नाम भी कौटिल्य और वात्स्यायन के नाम बताये गये हैं। ऐसा लगता है कि किन्हीं परिस्थितियों में ये नाम परस्पर जोड़ दिये गये और यह त्रुटि उत्तरोत्तर दोहरायी जाती रही। हिंदी विश्वकोष के अनुसार *नीतिसार* के रचयिता कामन्दक चाणक्य अर्थात् कौटिल्य के प्रधान शिष्य थे। कुछ कोशकारों का मत है कि कामन्दक ही वात्स्यायन थे। कामन्दकीय *नीतिसार* की *उपाध्याय-निरपेक्षिणी टीका* के टीकाकार ने कौटिल्य को ही *न्यायभाष्य*, *कौटिल्य भाष्य* (अर्थशास्त्र), *वात्स्यायनभाष्य* और *गौतम स्मृतिभाष्य* का रचयिता बताया है। सुबंधुकृत *वासवदत्ता* में कामसूत्रकार का नाम मल्लनाग उल्लिखित है। *कामसूत्र* के प्रसिद्ध टीकाकार यशोधर ने भी वात्स्यायन का मूल नाम मल्लनाग माना है। इस प्रकार विभिन्न विद्वानों ने कौटिल्य, वररुचि और मल्लनाग तीनों वात्स्यायन के बारे में भी कोई एक राय नहीं बन पायी है कि दोनों के रचनाकार एक थे या अलग-अलग। आचार्य सूर्य नारायण व्यास ने दोनों को एक ही माना है। वात्स्यायन के जीवन पर *कामयोगी (एसेटिक ऑफ डिजायर)* शीर्षक से उपन्यास लिखने वाले सुधीर कक्कड़ भी कामसूत्रकार का पूरा नाम वात्स्यायन मल्लनाग ही स्वीकार करते हैं।

कामसूत्र की रचना की पृष्ठभूमिक स्वयं वात्स्यायन ने अपनी कृति के प्रारंभ में ही बतायी है। इसके अनुसार मानव-समाज को व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए ब्रह्मा ने एक

लाख अध्यायों में बहुआयामी जीवन-संदर्भों का समन्वयन एवं निरूपण किया। विभिन्न मनीषियों ने विषयानुसार इस ग्रंथ के अलग-अलग हिस्सों पर पुस्तकें लिखीं। मनु ने सामाजिक मूल्यों एवं नैतिक आचरण के व्यवस्थापन के लिए संहिता रची। आचार्य बृहस्पति ने उसमें से सत्ता संबंधी विषयों को लेकर *बार्हस्पत्यम् अर्थशास्त्र* की रचना की। इसके बाद आचार्य नंदी ने कामशास्त्र विषयक भाग लेकर क्ररीब एक हजार अध्यायों वाला एक विशाल ग्रंथ लिखा जिसे श्वेतकेतु औद्दालिक ने पाँच सौ अध्यायों में संक्षिप्त कर दिया। पाञ्चाल देश निवासी ब्राभव्य ने श्वेतकेतु कृत संस्करण को डेढ़ सौ अध्यायों वाले एक संक्षिप्त संस्करण में रचा। इसे सात भागों में बाँटा गया था। यहीं से कामशास्त्र की रचना-परम्परा की शुरुआत हुई।

कामशास्त्र को शास्त्रीय रूप-प्रदान करने का श्रेय बाभ्रव्य ऋषि को ही दिया जाता है। ब्राभव्य की रचना को मिली लोकप्रियता को देख कर पाटलिपुत्र की गणिकाओं के अनुरोध पर आचार्य दत्तक ने उसी को आधार-सामग्री के रूप में इस्तेमाल करते हुए उसके छोटे भाग के वैशिक नामक प्रकरण को अलग से सम्पादित किया। इसी प्रक्रिया में बाभ्रव्य के ही कामशास्त्र से आचार्य चारायण ने साधारण नामक अधिकरण, आचार्य सुवर्णनाभ ने साम्प्रयोगिक अधिकरण आचार्य घोटकमुख ने कन्यासम्प्रयुक्त अधिकरण, आचार्य गोनदीय ने भार्याधिकारिक अधिकरण, आचार्य गोणिकापुत्र ने पारदारिक अधिकरण और आचार्य कुचुमार ने औपनिषदिक नामक अधिकरण का प्रणयन किया। लेकिन ये कृतियाँ कामशास्त्र के पक्ष-विशेष पर ही केंद्रित थीं। अंत में एक सम्पूर्ण ग्रंथ की आवश्यकताओं को केंद्र में रखकर आचार्य वात्स्यायन ने इस समस्त ज्ञान को अपने *कामसूत्र* में समन्वित करते हुए 'ग्रन्थेन कामसूत्रमिदं प्रणीतम्' कहते हुए थोड़े में ही सभी प्रयोजनों का समावेश कर दिखाया।

वात्स्यायन ने अपनी रचना को अधिकरणों में तथा प्रत्येक अधिकरण को अध्यायों में बाँटा है। प्रत्येक अध्याय प्रकरणबद्ध है। प्रथम अधिकरण का प्रथम प्रकरण 'शास्त्र संग्रह' कहा गया है। यही प्रथम अधिकरण का पहला प्रकरण एवं पहला अध्याय भी है। कामसूत्र के प्रथम अधिकरण का नाम 'साधारण' है। इसमें ग्रंथगत सामान्य विषयों का परिचय है। इस अधिकरण में पाँच अध्याय और इतने ही प्रकरण हैं। विषय-विवेचन के आधार पर अध्यायों और प्रकरणों के नामकरण किये गये हैं। 'शास्त्रसंग्रह प्रकरण' में मंगलाचरण, कामशास्त्र का उद्भव और विकास तथा कामसूत्र की संक्षिप्त विषय सूची दी गयी है। प्रथम अधिकरण में मुख्य रूप से धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति के संदर्भ में चर्चा है। इसमें श्रुति, स्मृति, अर्थविद्या आदि के साथ ही कामशास्त्र के

अध्ययन की आवश्यकता पर बल दिया गया है। कामसूत्रकार का आग्रह है कि व्यक्ति पहले विद्या-अध्ययन करे, फिर अर्थोपार्जन और फिर विवाह करके गार्हस्थ्य जीवन में प्रवेश कर नागरिक के लिए उचित आचरण करे। वात्स्यायन की सलाह है कि विवाह से पूर्व किसी दूत या दूती की मदद से व्यक्ति अगर योग्य नायिका से परिचय प्राप्त कर प्रेम-संबंध क्रायम करके विवाह करता है तो गार्हस्थ्य जीवन सदैव सुखी और शान्तिपूर्ण रहने की सम्भावना होती है।

द्वितीय अधिकरण 'साम्प्रयोगिक' नाम से संयोजित है। सम्प्रयोग शब्द का सम्भोग के अर्थ में प्रयोग किया गया है। इसमें दस अध्याय एवं सत्रह प्रकरण हैं। इस अधिकरण में संभोग की विभिन्न अवस्थाओं और विभिन्न रूपों की चर्चा है। वात्स्यायन ने अर्थ, धर्म और काम की प्राप्ति के लिए स्त्री की आवश्यकता बतायी है। उनका कहना है कि पुरुष को त्रिवर्ग की समुचित प्राप्ति एवं आनंद के उपभोग के लिए सम्भोग कला का सम्यक् ज्ञान आवश्यक है।

तीसरे अधिकरण 'कन्यासम्प्रयुक्त' में बताया गया है कि किस प्रकार की कन्या से विवाह करना चाहिए। उससे किस प्रकार परिचय प्राप्त कर प्रेम-संबंध स्थापित किया जाना चाहिए ताकि उसे अपनी ओर आकृष्ट कर विवाह के उद्देश्य से उसका विश्वास जीता जा सके। इस अधिकरण में पाँच अध्याय और नौ प्रकरण हैं। कामसूत्रकार ने विवाह को धार्मिक बंधन और दो हृदयों का मिलन माना है। वात्स्यायन की मान्यता है कि दो हृदयों के बीच परस्पर प्रेम और विश्वास क्रायम होने के बाद ही विवाह करना चाहिए। यह अधिकरण सामाजिक और धार्मिक मर्यादाओं के दायरे में ही प्रेम संबंध की इजाजत देता है।

चौथा 'भार्याधिकारिक' अधिकरण है जिसमें दो अध्याय और आठ प्रकरण हैं। पहले अध्याय में दो प्रकरण (एकचारिणी वृत्त तथा प्रवासचर्या) प्रकरण दिये गये हैं। दूसरे अध्याय में सपत्नियों में ज्येष्ठावृत्त प्रकरण है। इसमें पत्नी और सौत के प्रति पति के अधिकार तथा दायित्वों का वर्णन किया है। इसी अध्याय में ज्येष्ठादिवृत्त प्रकरण के अंतर्गत वात्स्यायन ने मूर्खता, चरित्र-हीनता, दुर्भाग्य, संतानहीनता अथवा बार-बार लड़कियों के पैदा होने से अथवा पति की चंचल वृत्ति के कारण एक पत्नी रहते हुए दूसरे विवाह के लिए कहा है। उन्होंने पत्नी द्वारा सौत के प्रति बहन-सा व्यवहार करने तथा सौत की गलतियों को नज़रअंदाज़ करने की सलाह दी है। इसी अध्याय में स्त्रियों के लिए भी दूसरा विवाह करने के प्रावधान हैं।

पाँचवाँ 'पारदारिक अधिकरण' है। इस अधिकरण में छह अध्याय और दस प्रकरण हैं। परस्त्रीगमन पर केंद्रित इस

अधिकरण में परस्त्री एवं परपुरुष के बीच प्रेम-संबंध क्रायम होने की परिस्थितियों, उसकी प्रगाढ़ता एवं विच्छिन्नता पर चर्चा है। परस्त्री गमन राजा आदि के लिए निषिद्ध बताया गया है। कहा गया है कि राजाओं, मंत्रियों, बड़े लोगों को परस्त्री-गमन जैसे निंदनीय कार्य नहीं करने चाहिए। इसमें व्यभिचारियों से स्त्री-रक्षा के उपाय बताये गये हैं। वात्स्यायन ने एक जगह यह भी कहा है कि परायी स्त्रियों से संबंध बनाना दोनों लोकों को बिगाड़ता है। अतः बुद्धिमान पुरुषों को यह हानिकारक प्रवृत्ति शोभा नहीं देती।

छठे अधिकरण को 'वैशिक' कहा गया है। यह अधिकरण वेश्याओं के कर्तव्य, उनकी प्रवृत्तियों एवं चरित्र का सूक्ष्म विश्लेषण करता है। कामसूत्रकार ने वेश्यागमन को दुर्व्यसन मानते हुए कहा है कि यह शरीर व अर्थ दोनों के लिए हानिकारक है। कामसूत्र का अंतिम और सातवाँ अधिकरण 'औपनिषदिक' अधिकरण है जिसमें दो अध्याय और छह प्रकरण हैं। 'औपनिषदिक' का प्रयोग यहाँ 'टोटा' के अर्थ में हुआ है। नायक-नायिका का मंत्र, यंत्र, तंत्र, औषधि आदि प्रयोगों से एक-दूसरे का प्रेम प्राप्त करना, नष्टराग की पुनः स्थापना, रूप-सौंदर्य का संवर्द्धन एवं बाज़ीकरण आदि इसके प्रतिपाद्य विषय हैं। इस बात पर विवाद है कि यह सातवाँ अध्याय वास्तव में वात्स्यायन का ही लिखा हुआ है या नहीं। यशोधर की *जयमंगला टीका* भी छठे अधिकरण तक ही जाती है। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि वात्स्यायन ने *कामसूत्र* के सिर्फ छह अधिकरण ही लिखे थे, लेकिन कुछ का विचार है कि टीका सातवें अधिकरण की भी लिखी गयी होगी जो कालांतर में नष्ट हो गयी होगी। औपनिषदिक अधिकरण के प्रारम्भ में 'व्याख्यातं कामसूत्रम्' सूत्र से अनुमान किया जाता रहा है कि वात्स्यायन ने छठे अधिकरण तक ही *कामसूत्र* लिखा था इसलिए यशोधर ने वहीं तक टीका लिखी लेकिन 'औपनिषदिके विधिं वक्ष्यति' वाक्य से *कामसूत्र* का सातवाँ अधिकरण 'औपनिषदिक' होना तथा यशोधर द्वारा सातवें अधिकरण की टीका लिखा जाना भी प्रमाणित होता है।

देखें : आर्यभट्ट और *आर्यभटीय*, उपनिषद्, कपिल, *अर्थशास्त्र* और कौटिल्य, गोपीनाथ कविराज, गोविंद चंद्र पाण्डे, चैतन्य महाप्रभु, जैन दर्शन, न्याय दर्शन, दया कृष्ण, नागार्जुन, पतंजलि और *योगसूत्र*, पाणिनि और *अष्टाध्यायी*, पुराण, पूर्व-मीमांसा दर्शन, बदरी नाथ शुक्ल, बादरायण, बौद्ध दर्शन, *भगवद्गीता*, भरत और *नाट्यशास्त्र*, मुकुंद लाठ, *भागवत पुराण*, *महाभारत*, यशदेव शल्य, योग दर्शन, रामानुजाचार्य, राम अवतार शर्मा, लोकायत, वेदांत दर्शन, वैशेषिक दर्शन, शंकराचार्य, षड्-दर्शन-1 और 2, संस्कृत काव्यशास्त्र, स्मृति-साहित्य, सांख्य दर्शन-1 और 2, सिद्ध-नाथ परम्परा।

संदर्भ

1. वात्स्यायन मल्लनाग (2002), *कामसूत्र*, अनु. वेंडी डोनिगर और सुधीर कक्कड़ (यशोधर इंद्रपाद की टीका जयमंगला और देवदत्त शास्त्री की टीका जया के अंशों समेत), ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
2. कुमकुम राय (२००८), 'कामसूत्र पर नयी रोशनी', मैरी जॉन और जानकी नायर (सम्पा.), *कामसूत्र से कामसूत्र तक : आधुनिक भारत में सेक्शुअलिटी के सरोकार*, अनु. अभय कुमार दुबे, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.
2. वात्स्यायन मुनि (1964), *कामसूत्रम्*, हिंदी व्याख्याकार : देवदत्त शास्त्री, चौखंभा संस्कृत संस्थान, वाराणसी.
3. आचार्य बलदेव उपाध्याय (1999), *भारतीय दर्शन की रूपरेखा*, प्रकाशक: चौखंभा पब्लिशर्स, वाराणसी.
4. चंद्रधर शर्मा (1991), *भारतीय दर्शन : आलोचन और अनुशीलन*, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली.

— अजय कुमार पाण्डेय

वाम मोर्चा

(Left Front)

भारत की संसदीय राजनीति में मुख्य रूप तीन बड़े वामपंथी दल सक्रिय हैं : भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (भाकपा), दूसरा भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) यानी माकपा और तीसरा भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी-लेनिनवादी-लिबेरेशन) यानी भाकपा (माले-लिबेरेशन)। इन तीनों दलों में से दो दल भाकपा और माकपा ने मिलकर 1977 से एक वाम मोर्चा का गठन किया है, जबकि भाकपा (माले) स्वतंत्र रूप से अपनी अलग राजनीति करती है। वाम मोर्चा के साथ कई छोटे वामपंथी दल भी जुड़े हुए हैं। कम से कम तीन राज्यों (पश्चिम बंग, केरल और त्रिपुरा) की राजनीति में और केंद्रीय स्तर पर वाम मोर्चा ने महत्वपूर्ण और प्रासंगिक भूमिका निभायी है। इसने सबसे पहले प्रादेशिक स्तर पर गठबंधन की सरकारें सफलतापूर्वक चला कर दिखाई और साथ में उदाहरण पेश किया कि एक पार्टी को बहुमत मिलने के बावजूद गठबंधन के छोटे-बड़े सभी घटकों को उचित प्रतिनिधित्व और सम्मान मिलना चाहिए। वाम मोर्चे ने गैर-कांग्रेसी और गैर-भाजपाई राजनीतिक करके राष्ट्रीय स्तर पर सेकुलर और जनपक्षीय राजनीति को बढ़ावा देने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है।

1977 तक दोनों कम्युनिस्ट पार्टियों ने कभी भी संयुक्त रूप से मोर्चा बना कर राजनीति नहीं की। यहाँ तक कि

आपातकाल के दौरान भाकपा ने इंदिरा गाँधी की सरकार का समर्थन किया और माकपा ने उसका विरोध किया था। भाकपा और माकपा के बारे में रोचक तथ्य यह है कि एक राजनीतिक दल के रूप में भाकपा की मौजूदगी देश के बहुत से राज्यों में थोड़ी-थोड़ी रही, पर माकपा ने कम से कम तीन राज्यों में अपनी स्थिति काफ़ी मज़बूत बना ली। सत्तर के दशक के आखिरी वर्षों में और अस्सी के शुरुआती दशकों से माकपा पश्चिम बंगाल, केरल और त्रिपुरा में सत्ता की दावेदार बन कर उभरी। इन राज्यों में उसने यह सुनिश्चित करने की कोशिश की कि वह छोटे लेकिन वामपंथी रुझान वाले दलों के साथ गठजोड़ कायम करके वामपंथ का एक व्यापक समर्थन आधार तैयार किया जाए। उल्लेखनीय है कि केरल और पश्चिम बंग में सक्रिय वाम मोर्चे स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार कुछ अलग-अलग हैं। लेकिन एक बात समान है। मोर्चे की सबसे बड़ी पार्टी हर जगह माकपा ही है और विधान सभा में पूर्ण बहुमत की स्थिति रहते हुए भी वह पार्टी की सरकार बनाने के बजाय मोर्चे की सरकार बनाने को ही प्राथमिकता देती है।

1977 के चुनावों तक दोनों कम्युनिस्ट पार्टियों के नेताओं के बीच यह सहमति बनने लगी थी कि देश में वामपंथी राजनीति की मज़बूती के लिए वाम दलों में एकता आवश्यक है। 1977 के बाद पश्चिम बंगाल में वाम मोर्चे की सरकार बनी। माकपा के नेतृत्व वाली इस सरकार के मुख्यमंत्री ज्योति बसु ने यह सुनिश्चित करने की कोशिश की कि दूसरे वामपंथी दल भी इस सरकार के भागीदार बनें। बंगाल के वाम मोर्चे में माकपा के साथ भाकपा, रेवोल्यूशनरी सोशलिस्ट पार्टी, ऑल इण्डिया फ़ारवर्ड ब्लॉक, रेवोल्यूशनरी कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ़ इण्डिया, मार्क्सिस्ट फ़ारवर्ड ब्लॉक, डेमोक्रेटिक सोशलिस्ट पार्टी, विप्लवी बांग्ला कांग्रेस और वर्कर्स पार्टी ऑफ़ इण्डिया ने हिस्सेदारी की। बसु सरकार ने ऑपरेशन बर्गा द्वारा यह सुनिश्चित किया कि वास्तविक जोतदारों के पास ही ज़मीन रहे और उन्हें मनमाने तरीके से बेदखल न किया जाए। इसके अलावा ग्रामीण स्तर पर किये गये दूसरे कई सुधारों ने राज्य में वाम मोर्चे के आधार को विस्तार और गहरायी प्रदान की। इसी कारण ज्योति बसु लम्बे समय तक राज्य के मुख्यमंत्री (1977-2000) रह पाये। जब उन्होंने स्वास्थ्य के आधार पर मुख्यमंत्री पद छोड़ने का फैसला किया तो उनकी जगह बुद्धदेव भट्टाचार्य ने राज्य केवाम-मोर्चा सरकार की कमान संभाली। भट्टाचार्य के दूसरे शासनकाल (2006-2011) में वाम-मोर्चे की सरकार को कई मुश्किलों का सामना करना पड़ा। खास तौर पर नंदीग्राम और सिंगूर जैसे स्थानों पर उद्योग स्थापित करने के लिए किसानों से ज़मीन लेकर उद्योगपतियों को देने के राज्य सरकार के फैसलों का स्थानीय लोगों ने जम कर विरोध किया। राज्य सरकार ने इस विरोध को बलपूर्वक दबाने की



1977 में वामपंथी दलों ने मिल कर वाम मोर्चे का गठन किया।

कोशिश की। इसके कारण सरकार की काफी तीखी आलोचना हुई। यहाँ तक कि खुद कई वामपंथी बुद्धिजीवियों ने भी उसे आड़े हाथों लिया। यह आर्थिक नीतियों और निजी उद्यमियों के पूँजी निवेश के बारे में वाम मोर्चे की अस्पष्ट नीति का भी एक उदाहरण था। इस सबके कारण राज्य सरकार की छवि काफी खराब हुई और 2011 के विधानसभा चुनावों में उसे जबरदस्त हार का सामना करना पड़ा।

केरल में वाम मोर्च को लेफ्ट डेमोक्रेटिक फ्रंट (या एलडीएफ) के नाम से जाना जाता है। इसमें माकपा, भाकपा, रेवोल्यूशनरी सोशलिस्ट पार्टी, जनता दल (सेकुलर), नेशनलिस्ट कांग्रेस पार्टी, इण्डियन कांग्रेस (सोशलिस्ट) और केरल कांग्रेस (एँटी मरजर ग्रुप) जैसे राजनीतिक दल जुड़े हुए हैं। उल्लेखनीय है कि केरल में इस मोर्चे में मुख्य रूप से माकपा और कुछ हद तक भाकपा का ही प्रभाव है। 1980 के चुनावों के ठीक पहले माकपा के नेतृत्व में एलडीएफ और कांग्रेस के नेतृत्व में यूनाइटेड डेमोक्रेटिक फ्रंट (यूडीएफ) का गठन हुआ। उसके बाद से यहाँ की राजनीति इन्हीं दो गठबंधनों के आस-पास केंद्रित रही। केरल में एलडीएफ को पश्चिम बंगाल के वाम मोर्चे की सरकार की तरह लगातार शासन करने का मौक़ा नहीं मिला। अमूमन हर पाँच साल के बाद एलडीएफ और यूडीएफ के बीच सत्ता की अदला-बदली होती रही। मसलन, राज्य में 1980-1981, 1987-1991, 1996-2001, और 2006-2011 के बीच एलडीएफ की सरकार रही है। ई.के. नयनार 2001 तक बनी एलडीएफ सरकार में मुख्यमंत्री रहे। 2006-2011 के दौरान वी.एस. अच्युतानंदन ने एलडीएफ सरकार का नेतृत्व किया।

केरल में एलडीएफ सरकार की नियोजित विकास योजनाओं की खूब तारीफ़ हुई है। खासतौर पर, देश में उदारीकरण की नीति अपना लिए जाने के बाद के दौर भी एलडीएफ सरकार ने ऐसी नीतियों को बढ़ावा दिया जिसमें लोगों तक कल्याणकारी योजनाओं को पहुँचाने में राज्य के अंगों की सक्रिय भूमिका सुनिश्चित की गयी। पश्चिम बंगाल और त्रिपुरा की तुलना में केरल के वाम मोर्चे अर्थात्

एलडीएफ की मुख्य विशेषता यह रही है कि इसने कई मर्तबा राज्य में सक्रिय मुसलिम लीग के साथ भी गठजोड़ किया है। कई बार इसने ईसाई मतदाताओं को लुभाने के लिए उनकी धार्मिक आस्था को महत्त्व दिया है। वाम मोर्चे में देश के दूसरे भागों में इस तरह की धार्मिक पहचानों को इतने खुले रूप में स्वीकार नहीं किया है। यह उल्लेख करना भी जरूरी है कि एलडीएफ के गठन से पहले राज्य में भाकपा की भी अच्छी उपस्थिति थी। यहाँ तक कि इसके नेता राज्य के मुख्यमंत्री भी बने, लेकिन बाद में भाकपा का प्रभाव सीमित होता गया। अब यह एलडीएफ के अंतर्गत माकपा की छोटी सहयोगी पार्टी बनकर रह गयी है।

त्रिपुरा में तो वाम मोर्चा वहाँ की रजनीति की मुख्य धुरी बन कर उभरा है। 1977 के बाद बंगाल के साथ त्रिपुरा में भी वाम मोर्चे का गठन हुआ। यहाँ भी माकपा को आधार काफ़ी मज़बूत था। 1978 में इसकी सरकार बनी। यहाँ के मोर्चे में माकपा, भाकपा, रेवोल्यूशनरी सोशलिस्ट पार्टी और ऑल इण्डिया फ़ारवर्ड ब्लॉक शामिल हैं। 1978 से लेकर 1988 तक वाम मोर्चे की सरकार रही और माकपा नेता नृपेन चक्रवर्ती राज्य के मुख्यमंत्री रहे। इसके बाद 1993 में फिर से राज्य में वाम मोर्चे की सरकार बनी और अभी तक वहाँ वाम मोर्चे की ही सरकार है। 1993 से 1998 तक दशरथ देब इस सरकार में मुख्यमंत्री रहे और इसके बाद माणिक सरकार राज्य के मुख्यमंत्री बने। माणिक सरकार एक मुख्यमंत्री के रूप में अपने सकारात्मक प्रदर्शन के कारण काफ़ी चर्चित रहे हैं। उनके सादगीपूर्ण जीवन की चर्चा होती रही है। उनके नेतृत्व ने त्रिपुरा में वाम-मोर्चे की स्थिति काफ़ी मज़बूत कर दी है।

केंद्रीय स्तर पर भी वाम मोर्चा ने ग़ैर-कांग्रेसी और ग़ैर-भाजपाई दलों को एकजुट करने की कोशिश की। 1989 में विश्वनाथ प्रताप सिंह के नेतृत्व में बनी राष्ट्रीय मोर्चा सरकार, 1996-1997 के दौरान एच. डी. देवेगौड़ा और इंद्र कुमार गुजराल के नेतृत्व में बनी संयुक्त मोर्चा सरकारों में वाम मोर्चे ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। यहाँ तक 1996 में संयुक्त मोर्चा की ओर से ज्योति बसु को प्रधानमंत्री बनाने का प्रस्ताव भी आया था, जिसे उनकी पार्टी माकपा ने नकार दिया। बहरहाल, संयुक्त मोर्चा सरकारों की उल्लेखनीय बात यह थी कि इनमें पहली बार एक वामपंथी दल अर्थात् भाकपा सरकार में शामिल हुई। यह इस बात का भी प्रमाण है कि वाम मोर्चा के रूप में संयुक्त राजनीति करने के बावजूद इन दलों ने कई मसलों पर बिल्कुल अलग तरह से भी फ़ैसला किया। 1998-2004 के बीच वाम मोर्चा ने सक्रिय रूप से राजग सरकार की नीतियों का विरोध किया। 2004 के चुनावों के बाद इनसे कांग्रेस के नेतृत्व वाली संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन (संप्रग या यूपीए) की सरकार को अपना समर्थन प्रदान दिया। 2004-2008 के बीच वाम मोर्चे ने संप्रग सरकार

द्वारा कई प्रगतिशील कानून बनवाने और कार्यक्रम शुरू करवाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। लेकिन 2008 में इसने अमेरिका के साथ परमाणु करार के मुद्दे पर सम्प्रग से समर्थन वापस ले लिया। 2009 के चुनावों के बाद संसद में इसकी शक्ति में कमी आयी है।

वाम मोर्चा की राजनीति में कुछ बुनियादी कमियाँ भी रही हैं। पहली कमी तो यह है कि वाम मोर्चा नये क्षेत्रों में अपना विस्तार कर पाने में नाकाम रहा है। देश के महज तीन भागों में ही इसका प्रभाव है। दूसरे, इसमें माकपा का वर्चस्व बहुत ज्यादा है और कई मर्तबा ऐसा लगता है कि दूसरी पार्टियाँ, यहाँ तक भाकपा भी अपनी स्वतंत्र पहचान कायम रखने में सफल नहीं हो पा रही है। तीसरे, वाम मोर्चा आर्थिक नीतियों के संदर्भ में कोई ठोस वैकल्पिक नीति देने में नाकाम रहा है। यह नाकामी सिंगूर, नंदीग्राम जैसी घटनाओं से साफ़ तौर पर सामने आती है। चौथा, रैडिकल वामपंथी दलों, मसलन भाकपा (माले-लिबरेशन) या माओवादी-नक्सलवादी समूह वाम मोर्चे की राजनीति को सीमित और बूझा-रूपरेखा के भीतर राजनीति की संज्ञा देते हैं। संसदीय राजनीति में सक्रिय भाकपा (माले-लिबरेशन) का आरोप रहा है कि वाम मोर्चा का जुझारू और संघर्षशील राजनीति से बहुत कम जुड़ाव है।

देखें : अकाली दल, कांग्रेस 'प्रणाली', गैर-कांग्रेसवाद, गठजोड़ राजनीति, जनता दल और उसकी विरासत-1 और 2, तेलुगु देशम पार्टी, पार्टी-गठजोड़ की राजनीति, भारत में गठजोड़ राजनीति, भारतीय जनता पार्टी-1 और 2, भारत में मतदान-व्यवहार-1, 2, 3, 4, 5 और 6, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस-1 और 2, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठजोड़, वाम मोर्चा, शिव सेना, समाजवादी पार्टी, बहुजन समाज पार्टी-1 और 2, शिरोमणि अकाली दल, समाजवादी पार्टी, संयुक्त प्रगतिशील गठजोड़।

संदर्भ

1. मनोरंजन मोहंती (1986) 'आइडियालॉजी ऐंड स्ट्रैटजी ऑफ़ कम्युनिस्ट मूवमेंट इन इण्डिया', थॉमस पैथम और कैनेथ एल. ड्युश (सम्पा.), *पॉलिटिकल थॉट इन मॉडर्न इण्डिया*, सेज पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली.
2. दीपकर राय चौधरी और सत्या शिवारामन (2007), 'नंदीग्राम : सिक्स मंथ्स लेटर', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 42, अंक 41.
3. उत्सा पटनायक (2010), 'ज्योति बसु ऐंड बंगाल', *सोशल साइंटिस्ट*, खण्ड 38, अंक 7/8.
4. सुखेंदु देबरमा और मौसमी देबरमा (2009), 'फ़िफ़्थ विकटरी इन अ रो फ़ॉर सीपीआई (एम) इन त्रिपुरा', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 44, नंबर 39,.
5. जे. प्रभाष (2000), 'सीपीआई (एम) सा मुसलिम लीग डायलेमा', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 35, नंबर 34.

— कमल नयन चौबे

वासुदेव शरण अग्रवाल

(Vasudev Sharan Agrawal)

प्राच्यविद्या के अप्रतिम विद्वान और भारतविद् वासुदेव शरण अग्रवाल (1904-1966) की गिनती राष्ट्रवादी चेतना से लबरेज उन इतिहासकारों में होती है जिन्होंने संहिताओं, ब्राह्मणों, उपनिषदों और पुराणों जैसे साहित्यिक स्रोतों के साथ-साथ वास्तुशास्त्र, शिलालेख, पुरालिपि और पुरातत्त्व जैसी प्रामाणिक वैज्ञानिक विधाओं के संगम से भारतीय सभ्यता और संस्कृति की ऐतिहासिक संरचना प्रस्तुत की। उनका इतिहास पाश्चात्य विद्वानों की सतही, औपनिवेशिक उपयोगितावादी और विभेदकारी स्थापनाओं का खण्डन करता है। पारिवारिक पृष्ठभूमि से प्राप्त धार्मिक ग्रंथों के शुरुआती प्रशिक्षण और संस्कृत भाषा पर पकड़ ने वासुदेव शरण अग्रवाल को वैदिक संहिताओं से लेकर पौराणिक रचनाओं और साहित्यिक स्रोतों को समझने की कुंजी प्रदान की। इससे उन्हें प्राचीन भारत के इतिहास और संस्कृति पर प्रकाश डालने की देशज दृष्टि मिली। अपनी इसी देशज दृष्टि से उन्होंने खुद को स्थानीय लोक-संस्कृति से जोड़ा और पाया कि वैदिक रचनाओं और लोक-परम्पराओं में एक भाषाई और सांस्कृतिक निरंतरता विद्यमान है। इसे उन्होंने वैदिक साहित्य में भाषाशास्त्रीय हस्तक्षेप द्वारा सिद्ध किया और इसी उद्देश्य से उन्होंने चालीस के दशक में देवेंद्र सत्यार्थी और बनारसी दास चतुर्वेदी के साथ जनपदीय लोक-संस्कृति आंदोलन भी चलाया।

वासुदेव शरण अग्रवाल का जन्म 7 अगस्त, 1904 को तब के यूनाइटेड प्रोविंसेज ऑफ़ आगरा ऐंड अवध के मेरठ और आज के उत्तर प्रदेश के वर्तमान गाज़ियाबाद के पिलखुआ क्षेत्र के खेड़ा गाँव में हुआ था। यहीं उन्होंने अपने दादा लाला छब्बामल के सान्निध्य में प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त की। फिर वे लखनऊ आ गये जहाँ उनके पिता गोपीनाथ कार्यरत थे। लखनऊ के अमीनाबाद हाई स्कूल से उन्होंने मैट्रिक की परीक्षा पास की। स्थानीय ग्रामीण संस्कृति और संस्कृत की साहित्यिक परम्परा की दोहरी पृष्ठभूमि के साथ वासुदेव शरण अग्रवाल ने 1923 से 1927 तक के चार साल बनारस हिंदू विश्वविद्यालय में बिताये और वहाँ से इंटरमीडिएट और स्नातक किया। उसके बाद लखनऊ विश्वविद्यालय से राधाकुमुद मुखर्जी के निर्देशन और सान्निध्य में प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति विषय में परा-स्नातक की उपाधि प्राप्त की। इसी दौरान वैदिक विषय पर 'अद्वैतवाद' नामक लेख लिखकर, जो ख्यातिलब्ध हिंदी मासिक पत्रिका *माधुरी* में प्रकाशित हुआ, से चर्चा में आये। इसके लिए महावीर प्रसाद द्विवेदी ने उन्हें बधाई पत्र भेजा था।

पाणिनि कृत *अष्टाध्यायी* के सूत्रों में वर्णित भारतीय सभ्यता के बिखरे सूत्रों को इकट्ठा कर उन्होंने *इण्डिया ऐज नोन टु पाणिनि* (1941) की रचना की। इस शोध ने पाणिनिकालीन समाज की जिन मान्यताओं को रेखांकित किया उसने काल-निर्धारण की नयी परिपाटी अपनाने के लिए भारतविदों को प्रेरित किया। बाटा कृष्ण घोष जैसे विद्वानों ने जो पहले जर्मन जे. जॉली द्वारा निर्धारित कौटिल्य के *अर्थशास्त्र* का काल चौथी शताब्दी ईसवी से मानते थे, वे वासुदेव शरण अग्रवाल के शोधोपरांत इस निर्णय पर पहुँचे कि कौटिल्य का काल पाणिनि-काल के ज्यादा करीब बैठता है, और इसलिए कौटिल्य द्वारा वर्णित कालक्रम ईसा पूर्व चौथी शताब्दी के बाद नहीं रखा जा सकता। इस शोध ने *अर्थशास्त्र* के काल को आठ सौ साल पहले का सिद्ध कर दिया।

ऐतिहासिक स्रोतों की छानबीन और अतीत के पुनर्निर्माण के लिए आवश्यक आधुनिक विधाओं वास्तुशास्त्र, शिलालेखीय अध्ययन, पुरालिपि और पुरातत्त्व की तकनीकों के इस्तेमाल हेतु संस्कृत, अंग्रेजी और हिंदी में प्रवीणता ने वासुदेव शरण अग्रवाल को इस क्षेत्र में बढ़ने हेतु प्रेरित किया। मथुरा, लखनऊ और दिल्ली में संग्रहाध्यक्ष (क्यूरेटर) के रूप में कार्य करते हुए वासुदेव शरण अग्रवाल को भारत की समृद्ध वास्तुशास्त्रीय और पुरालेखीय विरासत के अध्ययन और पुनर्विवेचन करने का अवसर प्राप्त हुआ। अग्रवाल ने न केवल इन संग्रहालयों को पुनर्व्यवस्थित, वर्गीकृत और सूचीबद्ध किया वरन् संस्कृत साहित्य में टुकड़ों में बिखरी भारतीय कला परम्परा को सूत्रबद्ध भी किया। इस प्रक्रिया में अग्रवाल ने जिन कृतियों की रचना की उनमें प्रमुख हैं : *हैंडबुक टु द स्कल्पचर्स इन द कर्जन म्यूजियम ऑफ आर्कियोलॉजी, मथुरा* (1939); *मथुरा म्यूजियम कैटलॉग* (चार भाग); *अ गाइड टू प्रोविंशियल म्यूजियम, लखनऊ; गुप्ता आर्ट* (1947); *एक्जिबिशन ऑफ इण्डियन आर्ट : अ कैटलॉग* (1948); *इण्डियन मिनियेचर्स : ऐन एल्बम* (1961); *सारनाथ : अ गाइड* (1956), *स्टडीज इन इण्डियन आर्ट* (1965); *मास्टरपीस ऑफ मथुरा स्कल्पचर्स* (1965); *इण्डियन आर्ट- भाग-1* (1965); *इवोल्यूशन ऑफ द हिंदू टेम्पल ऐंड अदर एसेज* (1966); *चक्रध्वज ऑर द व्हील फ्लेम ऑफ इण्डिया* (1966)।

भारतीय कला और संग्रहालीय विज्ञान से इतर वासुदेव शरण अग्रवाल का रुझान शुरू से ही वेदों के अध्ययन और उसकी व्याख्या में था। इसे वे वेद-विद्या कहा करते थे। लखनऊ युनिवर्सिटी में विद्यार्थी जीवन में ही अपने पहले

निबंध 'अद्वैतवाद' से वेद-विद्या का अध्ययन जो उन्होंने शुरू किया, वह 1937 में *उरु-ज्योति* के नाम से पहले निबंध संग्रह के रूप में आगरा से प्रकाशित हुआ। मथुरा म्यूजियम में कार्य करने के दौरान अग्रवाल पण्डित मधुसूदन ओझा (1866-1939) के सम्पर्क में आये। पण्डित मधुसूदन ओझा ने पाश्चात्य वैदिक विद्वानों के विपरीत मूल संस्कृत स्रोतों तथा संहिताओं, ब्राह्मणों, उपनिषदों और पुराणों के अध्ययन में गहरे उतरकर वैदिक पाठों का मूल अर्थ जानने का प्रयास किया था। वे इस निर्णय पर पहुँचे थे कि वैदिक पाठ सृष्टि-विज्ञान (साइंस ऑफ कॉस्मोलॉजी) से जुड़े हैं। वासुदेव शरण अग्रवाल ने ओझा की रचनाओं को तीन ग्रंथों *ब्रह्म-सिद्धांत*, *रजोवडा* और *ब्रह्म-विनय* नाम से सम्पादित किया। पाश्चात्य विद्वानों द्वारा वैदिक व्याख्या के प्रस्तावों का खण्डन करते हुए अग्रवाल ने *ब्रह्म-सिद्धांत* (1961) की प्रस्तावना में लिखा कि वेदों को लेकर वर्तमान शोध की जो इमारत खड़ी की गयी है वह पिछले डेढ़ सौ साल के पाश्चात्य विद्वानों द्वारा वैदिक सूक्तों और ब्राह्मणों, उपनिषदों में वर्णित



वासुदेव शरण अग्रवाल (1904-1966)

पारम्परिक टीकाकारों और भाष्यकारों के निष्कर्षों की सतही धरपकड़ का नतीजा है। इसकी अभिव्यक्ति तुलनात्मक-धर्म, तुलनात्मक-संस्कृति और तुलनात्मक भाषाशास्त्र के रूप में हुई है। इसने बमुश्किल वैदिक व्याख्या की वास्तविक समस्या वैदिक तत्त्वमीमांसा और कॉस्मिक प्रतीकवाद के रहस्यों पर से पर्दा उठाने की कोशिश कर पायी है। ये विद्वान तत्त्व-मीमांसीय व्याख्या के अविरल तंत्र के निर्माण और वैदिक गुप्त ज्ञान के मायनों की गहरायी समझने में विफल रहे हैं। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि अकेली भाषाशास्त्रीय शोध-दृष्टि वैदिक पाठों को समझने के किये अपर्याप्त है। उसकी सही व्याख्या संहिताओं, ब्राह्मणों, उपनिषद् और पुराण सरीखे साहित्यिक स्रोतों की मदद से ही सम्भव है।

अग्रवाल ने अपने वेदशास्त्रीय अध्ययन को *कल्प-वृक्ष* नाम से हिंदी में लिखे गये अपने निबंधों को 1953 में प्रकाशित कराया। 1962 में प्रकाशित *स्पार्क्स फ्रॉम द वैदिक फायर* द्वारा अग्रवाल ने वैदिक शब्दों और पारिभाषिक शब्दावलियों के पीछे छुपे प्रतीकवाद का विश्लेषण किया। इसकी प्रस्तावना में वे लिखते हैं कि ऋग्वेद में वर्णित विचार प्रतीकों के साँचे में ढाले गये हैं। इसलिए प्रतीकवादी दृष्टिकोण वैदिक व्याख्या और समझ का द्वार खोलते हैं और वही अर्थों की समझ को अपूर्व समृद्धि प्रदान करते हैं। वास्तव में प्रतीकवाद का यह प्राचीन पारम्परिक तरीका ब्राह्मण ग्रंथों से ही लिया गया है। 1963 में अग्रवाल ने ऋग्वेद

के कुछ सूक्तों पर *नारदीय सूक्त* और *अस्य वामीय सूक्त* नाम से टीका लिखी। वेदों के अलावा अग्रवाल ने संस्कृत और प्राकृत साहित्यों में प्रतीकवादी दृष्टिकोण का इस्तेमाल किया। 1950 से महाभारत पर शुरू किये गये अपने पंद्रह वर्षीय अध्ययन के उपरांत उन्होंने इसके 24 हजार श्लोकों पर *भारत-सावित्री* नाम से तीन भागों में टीका लिखी। 1964 में *भगवद्गीता* पर *गीता नवनीत* नाम से एक टीका रची। भारतीय सभ्यता और इतिहास के बिखरे तत्त्वों को इकट्ठा करने की जिस प्रक्रिया की शुरुआत अग्रवाल ने *इण्डिया एज नोन टु पाणिनि* से की थी, उसे उन्होंने सातवीं सदी के बाणभट्ट कृत *हर्षचरित* और *कादंबरी*; कालिदास के *मेघदूत*, मलिक मुहम्मद जायसी कृत *पद्मावत* और मैथिल कवि विद्यापति के *क्रीतिलता* में वर्णित इतिहास के सांस्कृतिक अध्ययन के मार्फत आगे बढ़ाया।

वेद-विद्या और उसकी व्याख्या में रुचि ने विस्तृत किंतु उपेक्षित पुराण साहित्य की ओर अग्रवाल का ध्यान आकर्षित किया। उन्हीं के प्रयासों से रामनगर, वाराणसी में स्थापित आल-इण्डिया काशिराज ट्रस्ट ने पुराणों के अध्ययन को बढ़ावा दिया। इसी ट्रस्ट से 1959 एक अर्धवार्षिक पत्रिका *पुराणम* का प्रकाशन शुरू किया गया। अग्रवाल ने पुराणों पर आधारित अनेक ग्रंथों की रचना की— *मार्कंडेय-पुराण : एक अध्ययन*, *मत्स्य-पुराण : अ स्टडी*, *वामन पुराण : अ स्टडी*, *देवी-महात्म्य (1963)*, *सोलर सिम्बॉलिज़म ऑफ द बोअर (1963)*, *शिव महादेव : द ग्रेट गॉड (1966)*। अपने अध्ययनों से उन्होंने बताया कि वैदिक प्रतीकवाद मिथकीय रूप में पुराणों के माध्यम से ही आम जन के पास पहुँच पाया। पुराणों ने प्राचीन वैदिक विचार प्रक्रिया को क्रिस्सागोई के इन्हीं रुचिकर तरीकों से आमजन को शिक्षित किया।

भारतीय भाषा और संस्कृति में उनकी अगाध श्रद्धा थी। 1962 के भाषा एक्ट द्वारा अंग्रेज़ी शिक्षा के दबाव का राम मनोहर लोहिया के साथ उन्होंने भी विरोध किया। वे भारतीय भाषाओं को ही भारतीय संस्कृति की चालक शक्ति मानने के पैरोकार थे। 1921 से ही स्वतंत्रता की चाह रखने वाले योद्धा की तरह अग्रवाल ने भारतीय राष्ट्र की एकता और नैतिकता को प्रभावित करने वाले हर सूत्र के प्रति सजग पर एक लक्ष्यबद्ध विद्वान की भूमिका का हमेशा खयाल रखा। अध्ययन क्षेत्र की अपनी विविधता के स्पष्टीकरण के तौर पर बनारसी दास चतुर्वेदी को लिखे एक पत्र में बकौल खुद अग्रवाल ने लिखा था कि मेरा मस्तिष्क ज्ञान-कक्षों के कई खण्डों में विभाजित है और मेरा मस्तिष्क एक कक्ष से दूसरे कक्ष में लगातार विचरण करता रहता है। प्राच्य विद्या के विभिन्न क्षेत्रों में एक साथ कई रंगतों में वासुदेव शरण अग्रवाल की उपस्थिति इसी विचरण का परिणाम है।

अग्रवाल ने 1931-1941 तक दस साल मथुरा संग्रहालय में, 1941 से 1946 तक लखनऊ संग्रहालय में क्यूरेटर के तौर पर कार्य किया। 1946 से 1951 तक वे तत्कालीन नवनिर्मित राष्ट्रीय संग्रहालय दिल्ली में एशियन एंटीक्विटीज़ डिपार्टमेंट के अध्यक्ष रहे जिसके पहले निदेशक मार्टिनर व्हीलर थे। मथुरा संग्रहालय में कार्य करने के दौरान उन्होंने ब्रज भाषा और धार्मिक मान्यताओं से सम्बद्ध प्राचीन सांस्कृतिक, साहित्यिक और पुरातात्विक स्रोतों को इकट्ठा किया। यहीं उन्होंने वैदिक विषय पर आधारित *उरु-ज्योति* की रचना की। 1951 में वे बनारस हिंदू विश्वविद्यालय में भारतविद्या के अध्ययन हेतु नव-स्थापित कॉलेज ऑफ इंडोलॉजी से सम्बद्ध हुए और अंतिम पंद्रह साल अकादमिक और शैक्षणिक जीवन व्यतीत किया। 1960 में निदेशक के तौर पर अग्रवाल ने बनारस हिंदू विश्वविद्यालय में स्कूल ऑफ वैदिक स्टडीज़ की स्थापना की, जिसमें छुट्टियों के दौरान ग्रीष्म शिविर का आयोजन होता था जहाँ प्रबुद्ध वैदिक विद्वान अपने विचारों के प्रस्तुतीकरण के लिए आमंत्रित किये जाते थे।

मधुमेह से पीड़ित होने के कारण वासुदेव शरण अग्रवाल का 26 जुलाई, 1966 को वाराणसी में देहांत हुआ।

देखें : आनंद केंटिश कुमारस्वामी, आर्य-अवधारणा, आर्थर लेवेलिन बाशम, एडवर्ड विलियम सईद, काशी प्रसाद जायसवाल, बिपन चंद्र-1 और 2, भारतीय इतिहास-लेखन-1 से 4 तक, दामोदर धर्मानंद कोसम्बी-1 और 2, प्राच्यवाद, रमेश चंद्र दत्त, रमेश चंद्र मजूमदार, रणजीत गुहा, रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर, रामशरण शर्मा, रोमिला थापर, पांडुरंग वामन काणे, विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े, सखाराम गणेश देउस्कर, सामंतवाद : एक बहस।

संदर्भ

1. क्लाज के. क्लोस्टरमायर (2007), 'त्रिमार्ग : द श्री हिंदू पाथ्स टू लिबरेशन', *अ सर्वे ऑफ हिंदुइज़म*, स्टेट युनिवर्सिटी ऑफ न्यूयॉर्क प्रेस, अल्बेनी.
2. वासुदेव शरण अग्रवाल (सम्पा.)(1961), *ब्रह्म-सिद्धांत*, देखें, 'प्रस्तावना', बनारस हिंदू युनिवर्सिटी प्रेस, वाराणसी.
3. वासुदेव शरण अग्रवाल (1949), *मदर अर्थ*, नेहरू अभिनंदन ग्रंथ, नेहरू अभिनंदन ग्रंथ कमेटी.
4. रामशरण शर्मा (1983), *मैटेरियल कल्चर ऐंड सोशल फार्मेशन इन एंशियंट इण्डिया*, मैकमिलन, नयी दिल्ली.

— निर्मल कुमार पाण्डेय

वि-उपनिवेशीकरण

(Decolonisation)

उपनिवेशित समाजों द्वारा संवैधानिक राजनीतिक स्वतंत्रता और सम्प्रभुता प्राप्त करने की प्रक्रिया वि-उपनिवेशीकरण कहलाती है। अवधि के लिहाज से इसकी भूमिका प्रथम विश्व-युद्ध के बाद ही बननी शुरू हो गयी थी। बोल्शेविक क्रांति की पहली रात (सात-आठ नवम्बर, 1917) सेंट पीटर्सबर्ग के एक मकान के छज्जे पर खड़े हो कर लेनिन डिक्री ऑन पीस नाम फ़रमान जारी किया था जिसमें युद्धरत शक्तियों से तुरंत लड़ाई बंद करने और गुलाम देशों को आजाद करने की अपील की गयी थी। इसके पीछे उनके द्वारा प्रतिपादित राष्ट्रीयताओं के आत्मनिर्णय का ऐतिहासिक सिद्धांत था। यह डिक्री आगे चल कर सोवियत विदेश नीति का मुख्य घटक बनी। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद जब वर्साई संधि हुई तो इसी सोवियत नीति के प्रभाव में अमेरिकी राष्ट्रपति वुड्रो विल्सन द्वारा चौदह सूत्रीय चार्टर पेश किया गया जिसके परिणामस्वरूप लीग ऑफ़ नेशन गठित हुआ। लेनिन ने इस संस्था को लीग अगेन्स्ट नेशंस करार दिया, क्योंकि उन्हें साफ़ दिख रहा था कि विजयी राष्ट्र पराजित राष्ट्रों के उपनिवेश हड़प रहे हैं। यह बंदरबाँट सबसे ज़्यादा अफ्रीका में हुई। द्वितीय विश्व-युद्ध के खात्मे अर्थात् 1945 के बाद का दौर वि-उपनिवेशीकरण का माना जाता है जो अभी तक जारी है। इस युद्ध में सोवियत संघ की विजय, पूर्वी युरोप में वामपंथी सत्ता-संरचनाओं का उदय और चीनी क्रांति ने वि-उपनिवेशीकरण को अग्रगति दी। राष्ट्रवाद और आत्म-निर्णय की दावेदारियाँ इस प्रक्रिया के केंद्र में मानी जाती हैं।

वि-उपनिवेशीकरण का सिलसिला सभी जगह एक सा नहीं चला। औपनिवेशिक ताकतों के रवैये पर उसकी गति और तीव्रता निर्भर रही। कहीं-कहीं उपनिवेशों को आजादी तेज़ी से मिली और कहीं स्व-शासन के लिए उन्हें लम्बी जद्दोजहद चलानी पड़ी। स्वतंत्रता की गोलबंदी के लिए अपनायी गयी रणनीतियाँ भी परिस्थिति के अनुसार काफ़ी अलग-अलग थीं। मसलन, भारत में यही आंदोलन पहले संवैधानिक सुधारों की राजनीति और बाद में जनांदोलनों की अहिंसक राजनीति के तहत चला। लेकिन वियतनाम में हो ची मिन्ह और कम्युनिस्टों को पहले फ्रांसीसियों और फिर अमेरिकियों के खिलाफ़ लम्बा छापामार युद्ध करना पड़ा। फ़िलिस्तीनियों ने अंतर्राष्ट्रीय आतंकवाद को औज़ार की तरह इस्तेमाल किया। दूसरे, उपनिवेशवादियों के चले जाने के बाद कई देशों को भीषण गृह युद्धों का सामना करना पड़ा। उनका नया प्रभु वर्ग देश में शांति और एकता स्थापित करने में नाकाम रहा। उनकी

स्थानीय अर्थव्यवस्था नयी ज़िम्मेदारियों का बोझ नहीं उठा पायी और उनके बाज़ार तितर-बितर हो गये।

ज़ाहिर है कि वि-उपनिवेशवाद किसी भी तरह से सहज साबित नहीं हुआ। कई बार उपनिवेशवादियों को उसे नियंत्रित करने का मौक़ा भी मिला। ब्रिटिश उपनिवेशवादी अपने ज़्यादातर उपनिवेशों में एडमण्ड बर्क द्वारा प्रतिपादित संविधानवाद के तहत इस प्रक्रिया को नियंत्रित करने और उसके इच्छित परिणाम प्राप्त करने में कामयाब रहे। उन्होंने राष्ट्रवादी आंदोलन के रैडिकल तत्त्वों को दरकिनार करने की राजनीति खेली और अंत में सत्ता की बागडोर राष्ट्रवादियों के उस हिस्से को सौंपी जो उनका पसंदीदा था। अंग्रेज़ों का विचार था कि वि-उपनिवेशीकरण के बाद होने वाली अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में उन्हें नव-स्वतंत्र देशों के इस उदीयमान प्रभु वर्ग का सहयोग मिलता रहेगा और वे अपने पूर्व-उपनिवेशों की अपने प्रभाव वाले क्षेत्रों के रूप में गिनती कर पाएँगे। फ्रांसीसी उपनिवेशवाद का सोच भिन्न था। उन्होंने राष्ट्रवादी आंदोलनों का सख्ती से दमन किया और आख़िरी दम तक उनकी सत्ता नहीं छोड़ी। वे अपने उपनिवेशों के फ्रांसीसी राष्ट्र में सम्पूर्ण आत्मसातीकरण के पक्ष में थे, जबकि अंग्रेज़ स्थानीय राजनीति और सामाजिक संरचनाओं में बिना कोई हस्तक्षेप किये केवल व्यापार, प्रतिरक्षा और विदेश नीति के पहलू ही नियंत्रित करना चाहते थे। जिन उपनिवेशों में बर्क द्वारा तजवीज़ किया गया संवैधानिक सुधारों का रास्ता नहीं अपनाया गया वहाँ काफ़ी हिंसा हुई। फ्रेंच फ़ानो द्वारा सूत्रबद्ध किये गये 'उपचारात्मक हिंसा' के उपनिवेशवाद विरोधी सिद्धांत को इस रोशनी में समझा जा सकता है।

प्रथम विश्व-युद्ध के बाद साम्राज्यवाद का प्रभाव तेज़ी से घटने की परिघटना और वि-उपनिवेशीकरण के बीच गहरा संबंध है। दूसरे विश्व-युद्ध के खात्मे के बाद से स्पष्ट हो गया कि अंतर्राष्ट्रीय समुदाय पर उपनिवेशवाद विरोधी रुझान हावी हो चुके हैं। इस विश्व-युद्ध में जापानी, इतालवी और जर्मन आक्रमण पराजित ज़रूर हो गया था, पर इसने पुराने युरोपीय साम्राज्यों की बढ़ती हुई दुर्बलता स्पष्ट कर दी। इस बड़ी लड़ाई में उपनिवेशवादी ताकतों को उपनिवेशित समाजों की मदद लेनी पड़ी। बहुत बड़ी संख्या में अफ्रीकी, एशियाई और कैरीबियायी योद्धाओं ने ब्रिटेन, फ्रांस और अमेरिका की तरफ़ से मोर्चा सँभाला। समझा जाता है कि इस घटनाक्रम ने भी उपनिवेशों के राष्ट्रवादियों को यक़ीन दिला दिया कि अब उनके लिए विजातीय हुकूमत से छुटकारा प्राप्त करने के दिन आ गये हैं। 1942 में भारत में चले 'अंग्रेज़ो भारत छोड़ो' और 1945 में मैनचेस्टर में हुई पैन-अफ्रीकी कांग्रेस द्वारा राजनीतिक आजादी की माँग ने वि-उपनिवेशीकरण के विचार को और मज़बूत किया। भारत को आजादी मिलने से साल भर पहले अमेरिका ने अपने उपनिवेश फ़िलीपीन को

आजाद कर दिया। युरोप की हालत इस समय तक पतली हो चुकी थी। वह दूर-दराज क्षेत्रों में फैले हुए उपनिवेशों की आर्थिक लागत उठाने की हालत में नहीं था। युरोपीय देशों के भीतर भी जनमत का एक प्रभावशाली हिस्सा उपनिवेशवाद को नापसंद करने लगा था। नतीजे के तौर पर 1947 से 1980 के बीच में ब्रिटेन को क्रमशः भारत, बर्मा, घाना, मलाया और ज़िम्बाब्वे का क्रब्जा छोड़ना पड़ा। इसी सिलसिले में आगे डच साम्राज्यवादियों को 1949 में इण्डोनेशिया से जाना पड़ा और अफ्रीका में आखिरी औपनिवेशिक ताकत के रूप में पुर्तगाल ने अपने उपनिवेशों को 1974-75 में आजाद कर दिया। 1954 में इंडो-चीन क्षेत्र और 1962 में अल्जीरिया के रक्तरंजित संघर्ष के सामने फ्रांस को घुटने टेकने पड़े। साठ के दशक में ही भारत के प्रांत गोवा से पुर्तगाल ने अपना बोरिया-बिस्तर समेटा। 1980 से 1985 के बीच ज़िम्बाब्वे, बेलीज़, एंटीगा और ब्रुनेई को ब्रिटेन से आजादी मिली। इंडोनेशिया के औपनिवेशिक क्रब्जे से ईस्ट तिमूर को हाल ही में मुक्ति मिली है।

उपनिवेशवादियों का रवैया जो भी रहा हो, इन देशों को राजनीतिक आजादी आसानी से नहीं मिली। भारत में 1940 से 47 के बीच बेहद पेचीदा राजनीति हुई जिसका नतीजा भारतीय उपमहाद्वीप के दुखद बँटवारे में निकला। इंडो-चीन क्षेत्र में फ्रांस 1946 से 54 तक फँसा रहा। अल्जीरिया को स्वतंत्रता देने के प्रश्न ने तो फ्रांसीसी राजनीति में ही दरारें पैदा कर दीं। डच उपनिवेशवादियों ने इंडोनेशिया में 1945 से 49 तक और बेल्जियम ने कोंगो में 1959 से 60 तक वि-उपनिवेशीकरण को टालने की कोशिश की। संयुक्त राष्ट्र ने भी उपनिवेशों में चल रहे राष्ट्रवादी आंदोलनों के प्रभाव में वि-उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया को प्रोत्साहित करते हुए 1960 में उसके पक्ष में उद्घोषणा पारित की।

उपनिवेशवाद के आलोचकों की मान्यता है कि केवल विदेशी शासकों की जगह देशी शासकों के हाथ में सत्ता की बागडोर आ जाने भर को सम्पूर्ण वि-उपनिवेशीकरण की संज्ञा देना जल्दबाजी होगी। उपनिवेशित समाजों और व्यक्तियों के मानस, उन देशों के पर्यावरण और संस्कृति पर उपनिवेशवाद के प्रभाव बहुत गहरे साबित हुए हैं। इस लिहाज़ से यह कहना मुश्किल है कि किसी देश के लिए वि-उपनिवेशीकरण का क्रम कब शुरू और कब खत्म होता है। इस प्रश्न पर समाज-विज्ञान में मतैक्य नहीं है कि उपनिवेशवादियों की सत्ता के खिलाफ़ गोलबंदी शुरू होने को ही इस प्रक्रिया की शुरुआत माना जा सकता है या उपनिवेशवादियों के चले जाने के बाद राजनीतिक-आर्थिक समायोजन की लम्बी अवधि को भी इसमें शामिल किया जाना चाहिए। वि-उपनिवेशीकरण का अनूठा अध्ययन करने वाले आशिस नंदी ने अपनी विख्यात रचना *द इंडीमेट एनेमी* में दिखाया है कि उपनिवेशवाद के

खिलाफ़ संघर्ष करने वाली ताकतें किस तरह एक अन्य नज़रिये से उसी की हमशक्ल बनती चली जाती हैं।

दूसरे, वि-उपनिवेशीकरण को राष्ट्रीय प्रभुसत्ता में विदेशी हस्तक्षेप के लाजमी अंत के तौर पर नहीं पढ़ा जा सकता। अंतर्राष्ट्रीय और भूमण्डलीय पैमाने पर ताकतवर शक्तियाँ अपने प्रभाव-क्षेत्रों को कायम रखने के लिए आर्थिक रिश्तों का इस्तेमाल करती हैं। ब्रेटन वुड्स संस्थाओं (आईएमएफ़ और विश्व बैंक) के दबाव में अर्थनीतियों को बदलवाया जाता है और बहुराष्ट्रीय निगमों के ज़रिये किसी धरती पर क्रब्जा किये बिना नव-उपनिवेशवाद के कभी छिपे और कभी खुले रूपों का इस्तेमाल किया जाता है।

देखें : आदर्शवाद, आतंकवाद, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, इमैनुएल कांट, इतिहास का अंत, एडवर्ड हैलेट कार, जाति-संहार, पृथकतावाद, तृतीय विश्व, द्वितीय विश्व-युद्ध, नस्लवाद, नव-उपनिवेशवाद, निर्भरता सिद्धांत, निरस्त्रीकरण, पेटेंट।

संदर्भ

1. एफ़. रेमण्ड बेट्स (1998), *डिकोलोनाइज़ेशन*, रॉटलेज, लंदन और न्यूयॉर्क.
2. रूफ़्ट इमर्सन (1960), *फ़्रॉम एम्पायर टु नेशन : द राइज़ टु सेल्फ़ एसर्शन ऑफ़ एशियन ऐंड अफ़्रीकन पीपुल*, हार्वर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज, एमए.
3. जॉन सिंग्रहल (2001), *डिकोलोनाइज़ेशन सिंस 1945 : द कॅलेप्स ऑफ़ युरोपियन ओवरसीज़ एम्पायर्स*, पालग्रेव, हाउंड्समिल, यूके और न्यूयॉर्क.
4. थॉमस ग्लैडविन और अहमद सिआदिन (1980), *स्लेवज़ ऑफ़ द व्हाइट मिथ : द साइकलॉजी ऑफ़ न्यू कोलोनिअलिज़म*, ह्यूमेनिटीज़ प्रेस, अटलांटिक हाइलैण्ड, एनजे.

— अभय कुमार दुबे

विक्रम साराभाई

(Vikram Sarabhai)

स्वतंत्र भारत के प्रमुख वैज्ञानिक, अंतरिक्ष अनुसंधान के पितामह एवं संस्थान-निर्माताओं में से एक विक्रम साराभाई (1919-1971) को यक्रीन था कि वैज्ञानिक शोध के ज़रिये भारत के आम लोगों के विकास की प्रक्रिया में योगदान किया जा सकता है। वे चाहते थे कि वैज्ञानिक शोध-अनुसंधान को भारत में सामाजिक, आर्थिक और शैक्षणिक परिवर्तन लाने के लिए इस्तेमाल किया जाए। उपग्रह टेलिविज़न द्वारा दूरस्थ क्षेत्रों में पड़े हुए साधनहीन बच्चों को आधुनिक शिक्षा देने का स्वप्न



विक्रम साराभाई (1919-1971)

देखने वाले पहले भारतीय साराभाई ही थे। केवल 28 वर्ष की आयु में अपने संसाधनों से उन्होंने भारत में पहली फ़िज़िकल रिसर्च लेबोरेटरी की स्थापना की। इसके बाद उनके प्रयासों से संस्थान निर्माण का एक बेहतरीन सिलसिला शुरू हुआ जो 1971 तक चलता रहा। इस प्रक्रिया ने आधुनिक भारत में लोकतांत्रिक राज्य के तहत संस्थानीकरण की प्रक्रिया में अभूतपूर्व योगदान किया। अपने जीवन में विक्रम साराभाई ने 35 वैज्ञानिक, औद्योगिक, शैक्षणिक और सांस्कृतिक संस्थानों की नींव डाली। उन्होंने न केवल संस्थानों की स्थापना की, वरन उनका सफल भविष्य सुनिश्चित करने के लिए उचित नेतृत्व की तलाश भी करते थे। एक कपड़ा उद्योगपति के रूप में उन्होंने इस उद्योग में नवीनतम अनुसंधान करने के लिए 1949 में अहमदाबाद टेक्स्टाइल इंडस्ट्री रिसर्च एसोसियेशन स्थापित की। वे भारत में उच्च स्तरीय प्रबंधन की शिक्षा एवं प्रशिक्षण के हिमायती थे। प्रबंधन-शिक्षा के प्रचार हेतु उन्होंने 1957 में अहमदाबाद मैनेजमेंट एसोसिएशन की स्थापना की थी। 1960 में उत्पादन प्रक्रिया में गुणवत्ता-सुधार हेतु सांख्यिकी के प्रयोग के लिए बने ऑपरेशन रिसर्च ग्रुप (ओआरजी) की स्थापना भी उन्हीं की देन थी। भारत में पेशेवर प्रबंधन के शिक्षण व अनुसंधान के लिए 1962 में शुरू हुए अहमदाबाद स्थित भारतीय प्रबंधन संस्थान (आईआईएम) को स्थापित करने में विक्रम साराभाई अग्रणी थे। स्थापना के बाद से 1965 तक वे इस संस्थान के मानद निदेशक भी रहे।

विक्रम साराभाई का विचार था कि उत्कृष्ट नेतृत्व के बिना किसी भी संस्थान का दीर्घायु और लाभदायक होना असम्भव है, इसलिए उन्होंने बहुत गम्भीरता व तत्परता से अपने संस्थानों के लिए योग्य व सक्षम नेतृत्व की खोज की। शीर्ष नेतृत्व के चयन के प्रति उनकी गम्भीरता इसी बात से

सिद्ध होती है कि अपनी व्यस्तताओं, जैसे अपने निजी उद्यमों, व्यवसायों, वैज्ञानिक शोध तथा अन्य संस्थानों की देख-रेख के बावजूद उन्होंने संस्थान का शीर्ष नेतृत्व तब तक अपने पास रखा जब तक कि समुचित विकल्प उनके हाथ नहीं लग गया। 1949 में अहमदाबाद टेक्स्टाइल इंडस्ट्री रिसर्च एसोसियेशन की स्थापना के बाद से सन् 1956 तक वे इस संस्थान के मानद निदेशक बने रहे। इसी तरह आईआईएम, अहमदाबाद में विक्रम साराभाई तब तक इसके मानद निदेशक बने रहे जब तक उन्हें रवि मथायी के रूप में अपने से बेहतर विकल्प नहीं मिल गया। निदेशक पद हेतु 38 वर्षीय रवि मथाई का चुनाव तब एक बहुत चौंकाने वाला निर्णय था। दरअसल, रवि मथाई के पास अध्यापन का विशेष अनुभव या बड़ी अकादमिक उपाधि नहीं थी, पर रवि मथाई को आज तक आईआईएम, अहमदाबाद का सबसे प्रतिभाशाली निदेशक माना जाता है।

अहमदाबाद में फ़िज़िकल रिसर्च लेबोरेटरी और अहमदाबाद टेक्स्टाइल इंडस्ट्री रिसर्च एसोसियेशन की स्थापना के पीछे एक नयी और व्यावहारिक सोच थी। द्वितीय विश्व-युद्ध ख़त्म होने के बाद केम्ब्रिज विश्वविद्यालय से 1947 में पीएचडी करके लौटे साराभाई अपनी रिसर्च लेबोरेटरी में ब्रह्माण्डीय किरणों की विविधता पर काम करते थे, जबकि अनुभवी मौसम विज्ञानी के.आर. रामनाथन के पास उच्च वायुमण्डलीय भौतिकी पर अनुसंधान का जिम्मा था। टेक्स्टाइल इंडस्ट्री रिसर्च एसोसियेशन के लिए अहमदाबाद उस समय सबसे उपयुक्त स्थान था। एक कपड़ा उद्योगपति के रूप में साराभाई इस पुरातनपंथी उद्योग में नवीनतम तकनीक लाने की प्रेरणा के स्रोत बने। 1956 में जब साराभाई ने अहमदाबाद मैनेजमेंट एसोसियेशन की स्थापना की, तो उस समय भारत में प्रबंधन की पढ़ाई के बारे में कहीं कोई चर्चा भी नहीं थी। दवा निर्माण उद्योग में विक्रम साराभाई ने पहली बार गुणवत्ता और उत्पादकता में सुधार के लिए आपरेशन रिसर्च जैसी नयी तकनीक का प्रयोग किया और इसके विकास तथा शोध के लिए बड़ौदा में आपरेशन रिसर्च ग्रुप और साराभाई रिसर्च सेंटर की स्थापना भी की।

विक्रम साराभाई ने संस्थानों में अध्ययन, शोध व अकादमिक गतिविधियों में होने वाली नियुक्तियों पर बहुत ध्यान दिया। वे जानते थे कि यही लोग किसी भी संस्थान की आत्मा हैं। साराभाई इन नियुक्तियों के लिए अर्जित की जा चुकी उपलब्धियों से कहीं ज़्यादा भविष्य में सम्भावित योगदान को अहमियत देते थे। आईआईएम, अहमदाबाद के शुरू के दिनों में तो कई विषयों की कक्षाओं में छात्रों के साथ ही उनके अध्यापक भी विद्या अर्जन करते थे। साराभाई के इन संस्थानों ने कर्मचारी-अधिकारी नहीं, बल्कि विचारकों और मार्गदर्शकों की रचना की परम्परा डाली। साराभाई की मान्यता थी कि संस्थान प्रमुख का मुख्य योगदान उस संस्थान

में ऐसी कार्य-संस्कृति का सृजन करना है जो उस वहाँ कार्यरत लोगों की आकांक्षाओं एवं प्रवृत्तियों के अनुरूप हो। उनके लिए कार्य-संस्कृति का अर्थ सिर्फ एक कठोर प्रशासनिक नियमावली न था। वे किसी भी संस्था में सख्त नियमों व नियंत्रण के खिलाफ थे। अपने समय में विक्रम साराभाई ने संस्थान-प्रबंधन की जो शैली अपनायी उसे कहीं बहुत बाद में मैनेजमेंट गुरु पीटर ड्रेकर ने लक्ष्यों तथा आत्म नियंत्रण द्वारा प्रबंधन का नाम दिया।

विक्रम साराभाई ने अपने संस्थानों के लिए उस समय के सबसे प्रतिष्ठित विद्वानों को संरक्षक के रूप में जोड़ा। स्थापना और संचालन के लिए उन्होंने आंतरिक व बाह्य संगठनों के बीच अद्भुत तारतम्य स्थापित किया था। इसी तरह आईआईएम को मुम्बई से अहमदाबाद लाने, आईआईएम की स्थापना और इसके आरम्भिक दिनों में इसके आंतरिक व बाह्य संगठनों के बीच अनूठी जुगलबंदी बनाने का श्रेय साराभाई को ही जाता है। यह सामंजस्य बनाने के लिए ही आईआईएम में अध्यापकों को पढ़ाने के साथ ही निजी स्तर पर बाहर का काम करने या कंसल्टेंसी करने की स्वतंत्रता दी गयी थी।

1950 से 1960 के बीच एक प्रगतिशील उद्यमी के रूप में विक्रम साराभाई ने बड़ौदा में कैमिकल, ग्लास, औषधि के अनेक औद्योगिक संयंत्र स्थापित किये जिनमें नवीनतम तकनीक व मशीनों का प्रयोग किया गया। मुम्बई की स्वस्तिक ऑयल मिल्स को अपने नियंत्रण में लेकर साराभाई ने तेल निष्कर्षण और सिंथेटिक डिटर्जेंट और सौंदर्य प्रसाधनों के निर्माण में नयी तकनीक की शुरुआत की। कोलकाता में स्टैंडर्ड फ़ार्मास्युटिकल्स लिमिटेड में विक्रम साराभाई ने पेनिसिलिन के उत्पादन को कई गुना बढ़ाया और अनेक नयी दवाओं का भारत में पहली बार निर्माण किया। 1960 में उन्होंने प्राकृतिक और सिंथेटिक औषधीय उत्पादों की जाँच के लिए बड़ौदा में साराभाई रिसर्च सेंटर स्थापित किया।

1962 में डॉ. साराभाई भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान की राष्ट्रीय समिति के अध्यक्ष बनाये गये और उन्होंने भारत में अंतरिक्ष अनुसंधान का दायित्व अपने ऊपर लिया। साराभाई के पर्यवेक्षण में ही थुम्बा इक्वेटोरियल रॉकेट स्टेशन का आरम्भ हुआ और भारत में रॉकेट निर्माण का कार्यक्रम शुरू हुआ। इसके तहत थुम्बा में रोहिणी और मेनका नामक रॉकेट बनाये गये। डॉ. होमी जहाँगीर भाभा की आकस्मिक मृत्यु के बाद 1966 में विक्रम साराभाई को भारतीय परमाणु ऊर्जा आयोग का अध्यक्ष बनाया गया। 1965 में बच्चों में विज्ञान की शिक्षा और वैज्ञानिक दृष्टिकोण के प्रसार के लिए विक्रम साराभाई ने एक संस्था सामुदायिक विज्ञान केंद्र, अहमदाबाद की स्थापना की ताकि विज्ञान-शिक्षा के क्षेत्र में नये विचारों को आम लोगों तक पहुँचाया जा सके। विक्रम साराभाई केवल एक वैज्ञानिक नहीं थे, बल्कि उन्होंने 1948 में अपनी

पत्नी मृणालिनी साराभाई के साथ मिल कर भारतीय कला व प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रचार-प्रसार के लिए एक सांस्कृतिक संस्था दर्पण की स्थापना की ताकि कलाकारों को उनके काम की स्वतंत्रता और नृत्य और नाटक में नये प्रयोगों के लिए पूरी गुंजाइश मिल सके।

विक्रम साराभाई का जन्म अहमदाबाद के एक अत्यंत सम्पन्न व प्रतिष्ठित परिवार में हुआ था। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा उनके अपने घर पर ही हुई जहाँ साराभाई परिवार मॉटेसरी पद्धति पर आधारित एक स्कूल चलाता था। गुजरात कॉलेज से इंटर की पढ़ाई पूरी करने के बाद उच्च शिक्षा के लिए विक्रम साराभाई केम्ब्रिज विश्वविद्यालय गये और 1940 में ट्राईपोस परीक्षा उत्तीर्ण की। द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान विक्रम साराभाई वापस भारत आ गये और भारतीय विज्ञान संस्थान बंगलौर में सी.वी. रमन के सहयोग से कॉस्मिक रेज (अंतरिक्ष या ब्रह्माण्डीय) किरणों पर अनुसंधान किया। इस दौरान साराभाई ने इन ब्रह्माण्डीय किरणों के वितरण तथा व्यवहार को समझने के लिए बंगलूर, पुणे एवं हिमालय में कई उपकरण भी स्थापित किये। साराभाई ने पूरे विश्व में पहली बार ब्रह्माण्डीय किरणों पर इतना विस्तृत अध्ययन ही नहीं किया बल्कि विज्ञान अकादमी में अपना शोध पत्र भी प्रस्तुत किया। अपने बंगलूर प्रवास के दौरान ही विक्रम साराभाई ने 1942 में मृणालिनी स्वामीनाथन से विवाह किया। विक्रम और मृणालिनी साराभाई के एक पुत्र कार्तिकेय और पुत्री मशहूर नृत्यांगना मल्लिका साराभाई हैं। 30 दिसंबर, 1971 को जब केरल के कोवलम में विक्रम साराभाई का नींद में दिल का दौरा पड़ने से निधन हुआ तो भी उनके शरीर पर एक अधखुली किताब पड़ी हुई थी, मानो अंतिम समय में भी वे कुछ नया सीखने को तैयार हों।

देखें : अब्दुल हमीद, आर.के. तलवार, इला भट्ट, एलाट्टुवलापिल श्रीधरन, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, कमला देवी चट्टोपाध्याय, गिजुभाई बधेका, पी.एस. वारियर, देवकी जैन, धोंडो केशव कर्वे, नीरा देसाई, भारतीय लोकतंत्र का संस्थानीकरण-1, 2 और 3, राज कुमार तलवार, वी.के.आर.वी. राव, विद्याबेन शाह, संस्था, संस्थान और संस्थानीकरण।

संदर्भ

1. अमृता शाह (2007), *विक्रम साराभाई : अ लाइफ*, पेंगुइन-वाइकिंग प्रेस, नयी दिल्ली.
2. के.आर. रामनाथन (सम्पा.) (1970), *सिलेक्टेड साइंटिफिक पेपर्स ऑफ विक्रम साराभाई*, फ़िजिकल रिसर्च लेबोरेटरी, अहमदाबाद.
3. कमला चौधरी (सम्पा.) (1974), *मैनेजमेंट फ़ॉर डिवेलपमेंट : अ क्लेक्शन ऑफ पेपर्स विक्रम साराभाई*, विकास पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.

—रवि दत्त वाजपेयी

विचलन

(Deviance)

सामाजिक विचलन का सिद्धांत समाजशास्त्र में केंद्रीय महत्त्व रखता है। विचलन को ऐसा व्यवहार, आचरण या जीवन-शैली माना जाता है जो कि समाज की अपेक्षाओं, नियम, आचार-प्रथाओं तथा परम्पराओं आदि का उल्लंघन करता हो। विचलन को सकारात्मक या नकारात्मक, दोनों ही रूपों में देखा जाता है। जैसे कि युद्ध क्षेत्र में सामान्य अपेक्षाओं के विपरीत जाकर भी कोई व्यक्ति जान की बाज़ी लगा सकता है, या प्रचलित वैज्ञानिक सिद्धांतों पर प्रश्न-चिह्न लगा कर नये सिद्धांतों का आविष्कार कर सकता है। मनोवैज्ञानिकों, जीव-वैज्ञानिकों तथा व्यक्तिवादियों के विपरीत समाजशास्त्र में विचलन की अवधारणा को सामाजिक मूल्य-प्रतिमान तथा सामाजिक संरचना के संदर्भ में व्याख्यायित किया जाता है जिसके दायरे में केवल नियम या परम्परा के उल्लंघन को ही नहीं बल्कि नियम-परम्परा के निर्माण, उन्हें लागू करने एवं उनके प्रसार की प्रक्रियाएँ भी आती हैं। विचलन क्या है, क्या नहीं, इसके बारे में भी कोई आम सहमति बनना मुश्किल है क्योंकि इसका निर्धारण संस्कृति एवं सामाजिक मूल्यों के सापेक्ष होता है। समाजशास्त्रियों का मत है कि विचलन का निर्धारण तथा इसके बारे में सामाजिक प्रतिक्रिया का अध्ययन बगैर सामाजिक संदर्भ या सामाजिक उद्देश्यों का पता लगाये नहीं हो सकता है।

फ्रांसीसी समाजशास्त्री एमील दुर्खाइम ने माना है कि अपराध (इसी के अंतर्गत विचलन भी) पूरी तरह से सामाजिक व्यवस्था के लिहाज से प्रकार्यात्मक (फ़ंक्शनल) तथा सामान्य होते हैं। सामूहिक चेतना को झकझोर देने के कारण वे उसे सुदृढ़ होने का मौक़ा प्रदान करते हैं और इस प्रकार सामाजिक समूह के मूल्यों तथा आचारों को पुनः लागू होने का मौक़ा मिलता है। दुर्खाइम द्वारा प्रवर्तित प्रतिमानहीनता (एनामी) की धारणा, जो कि विचलन के स्रोत को परिभाषित करती है। इसका प्रयोग तथा विकास दूसरे समाजशास्त्रियों ने किया। राबर्ट मर्टन ने कहा कि विचलन केवल व्याधकीय व्यक्तित्व (पैथॉलॉजीकल पर्सनैलिटी) से नहीं पैदा होता है बल्कि इसकी जड़ें संस्कृति तथा सामाजिक संरचना में मौजूद होती हैं। उनका मानना है कि समाज मूल्य-सहमति पर टिका होता है, लेकिन सामाजिक संरचना में समाज के सदस्य भिन्न-भिन्न स्थितियों में होते हैं, जैसे कि अलग-अलग वर्गों की सदस्यता होना, इसलिए वे साझे उद्देश्यों को एक साथ हासिल करने में असमर्थ होते हैं। इस प्रसंग में मर्टन ने अमेरिकी समाज का उदाहरण दिया जहाँ सम्पत्ति तथा भौतिक संसाधन जुटाना हर व्यक्ति के जीवन का

उद्देश्य है। इस उद्देश्य को हासिल करने के लिए कुछ संस्थागत साधन तथा मूल्य होते हैं। पर उन साधनों-मूल्यों के स्थान पर किसी भी प्रकार से सफलता प्राप्त करना अहम हो जाता है। यानी नियम-क्रायदे ताक़ पर रखकर सफल होना ही सबसे बड़ा लक्ष्य बन जाता है। इससे समाज में विचलन तथा प्रतिमानहीनता बढ़ती है। इस तरह मर्टन ने भी विचलन को व्यक्ति की प्रकृति के स्थान पर समाज की प्रकृति के संदर्भ में व्याख्यायित किया।

बाद में राबर्ट मर्टन की विचलन संबंधी व्याख्या की एक अन्य समाजशास्त्री अलबर्ट कोहेन ने आलोचना की। उन्होंने कहा कि मर्टन केवल व्यक्ति को केंद्र में रखकर विचलन की व्याख्या करते हैं जबकि कई बार लोग सामूहिक रूप से सामाजिक मान्यताओं-नियमों का उल्लंघन करते हैं। कई ऐसे अपराध होते हैं जिनका सामाजिक सफलता प्राप्त करने के उपायों से कोई संबंध नहीं होता। जैसे कि तोड़फोड़, हिंसा या तेज गति से मोटर चलाना आदि। कोहेन ने पूछा कि क्या इन विचलनों का सफलता प्राप्त करने के मुख्यधारा के उद्देश्यों से कोई संबंध है या नहीं। कोहेन ने विचलन की व्याख्या करते हुए बताया कि सामाजिक स्तरीकरण के कारण एक बड़ा समूह सफलता संबंधी मुख्यधारा के उद्देश्यों को प्राप्त नहीं कर सकता है। इस कारण वह अपने वैकल्पिक उद्देश्यों को ही गढ़ लेता है और उसमें तरह-तरह से सफलता प्राप्त करने की चेष्टा करता है। इसी कारण से एक विचलनकारी उपसंस्कृति का विकास होता है। निम्न वर्ग के युवा इससे खास प्रभावित होते हैं जो सफलता संबंधी मुख्यधारा की परिभाषाओं को नकार देते हैं जो उनके द्वारा सामूहिक समस्या का सामूहिक निदान होता है।

विचलन की व्याख्या करने के लिए 1920 के दशक में कुछ समाजशास्त्रियों ने सामाजिक जीवन की भौगोलिक-जलवायुपरक व्याख्या की जिसे शिकागो स्कूल के नाम से जाना गया। उन्होंने शहर को कई क्षेत्रों में विभाजित किया और अपराध, हिंसा तथा अनाचार के आँकड़े एकत्र कर नतीजा निकाला कि शहर के जिस केंद्रीय क्षेत्र में सबसे अधिक जनसंख्या का स्थानांतरण होता है और जहाँ व्यवसाय केंद्रित होते हैं वहाँ कोई समुदाय स्थायी रूप से नहीं बस पाता और सामाजिक विखण्डन के हालात पैदा हो जाते हैं। इससे सामाजिक विचलन भी अधिक मात्रा में इन इलाकों में पाया जाता है। जैसे-जैसे शहर के केंद्रीय क्षेत्र से शहर की परिधि पर बढ़ते हैं, अपराध तथा संघर्ष में कमी आती जाती है।

1960-70 के दशक तक आते-आते संरचनात्मक-प्रकार्यवादी एवं आरम्भिक उपसंस्कृतिवादी (सब-कल्चरिस्ट) दृष्टिकोण को चुनौती मिलने लगी। समाजशास्त्र एवं अपराधशास्त्र में विचलन की व्याख्या ज़्यादा ठोस एवं वस्तुगत ढंग से करने पर जोर दिया जाने लगा। इस दौर में विचलन को

सापेक्षता एवं संदर्भगत स्थितियों से जोड़कर देखा जाने लगा। प्रतीकात्मक अंतःक्रियावादियों (सिम्बॉलिक-इंटरएक्शनिस्ट) ने विचलनकारी व्यवहार एवं गतिविधियों की व्याख्या तथा परिवर्तन के लिए सामाजिक प्रतिक्रिया, दर्शक समूह और सामाजिक अर्थों के महत्त्व पर जोर दिया। अपराधविदों ने विचलन के विवेचन के लिए शक्ति-संरचना एवं राज्य से उसके संबंध को समझने की कोशिश की और नव-मार्क्सवादी सिद्धांतों तथा कॉम्प्लेक्ट थियरीज़ का समन्वय करने का प्रयास किया। इसी प्रकार युवा-संस्कृति के विश्लेषकों ने अधीनस्थता के ख़िलाफ़ विद्रोह व्यक्त करने के लिए विचलनकारी आचरण के अंतर्गत प्रतीकों एवं कुछ ख़ास घटनाओं का युवाओं द्वारा सहारा लिए जाने की व्याख्या की। इसी तरह अश्वेतों के विचलनकारी आचरण जैसे हिंसा, मादक पदार्थों के सेवन तथा अपराध आदि की व्याख्या समाज में मौजूद नस्लवाद तथा वर्ग-विषमता के माध्यम से करने के प्रयास किये गये।

अपराध की नारीवादी व्याख्या प्रस्तुत करने वाली चिंतकों ने मुख्यधारा के विचलनों और उससे संबंधित यौन-पूर्वग्रहों की आलोचना प्रस्तुत की। पुरुषवादी संस्कृति-सत्ता में स्त्रियों के बेहद सामान्य व्यवहार भी परम्परा-संस्कृति के अपमान के रूप में आसानी से देख लिए जाते हैं। समाज में लैंगिक विभाजन तथा अपराध के बीच के संबंधों पर ध्यान देने की सिफ़ारिश भी की गयी। अंतःक्रियावादियों में विचलन की सबसे प्रामाणिक व्याख्या हावर्ड एस. बेकर ने अपनी लेबलिंग थियरी के अंतर्गत प्रस्तुत की। बेकर के अनुसार-सामाजिक समूह नियमों का निर्माण करके विचलन को पैदा करते हैं क्योंकि कई परिस्थितियाँ में उन नियमों की अवहेलना करना आवश्यक हो जाता है। उन्हीं नियमों की कसौटी के आधार पर कुछ लोगों को बाहरी, असामान्य या समाज-विरोधी घोषित कर दिया जाता है। बेकर ने इसे स्पष्ट करने के लिए युवाओं के बीच होने वाली झड़प तथा हिंसा का उदाहरण दिया। उन्होंने बताया कि इस तरह की गतिविधियाँ जब ग़रीब लोगों के इलाकों में होती हैं तो इसे अपराध की श्रेणी में रखा जाता है, जबकि उच्चवर्गीय लोगों के इलाकों में इसे युवाओं के अदम्य जोश तथा उत्साह का प्रमाण माना जाता है। यानी व्यक्ति को एक ख़ास ख़ाँचे में रखना भी विचलन के घटित होने को पुष्ट करता है। अगर किसी पर अपराधी, मनोरोगी या समलैंगिक का ठप्पा लगा दिया जाए तो पिता, कर्मचारी, पड़ोसी या मित्र जैसी उसकी दूसरी हैसियतें गौण हो जाती हैं। अन्य लोग भी उसके ऊपर लगे ठप्पे या उसकी निर्मित की गयी छवि के अनुसार उसके साथ व्यवहार करते हैं और मान लेते हैं कि वह बुनियादी तौर पर कुछ नकारात्मक गुणों से ग्रस्त है।

विचलन के बारे में मार्क्सवादी नज़रिये के अंतर्गत भी समाज की वर्ग-स्थिति, शासकवर्गीय विचारधारा एवं क्रानून

आदि को विचलन से जोड़ कर देखा जाता है। उन्होंने मार्क्सवादी विचारधारा की आधार-अधिरचना संबंधी अवधारणा की सहायता लेते हुए इस पर बल दिया कि क्रानून, स्कूल तथा सामाजिक नियंत्रण की अन्य संस्थाएँ अधिरचना के रूप में समाज के आर्थिक आधार का परिणाम होती हैं। यह अधिरचना समाज के शासकवर्ग की इच्छाओं को पूरा करती है और जो लोग सम्पत्तिहीन एवं दरिद्र होते हैं, उनका नियंत्रण अधिरचना के इन्हीं अंगों के माध्यम से किया जाता है। राज्य की मदद से ऐसे क्रानून बनाये जाते हैं जो सम्पत्तिशाली एवं प्रभुत्वशाली वर्गों के हित में होते हैं। वे क्रानून समाज की मूल्य-सहमति पैदा करने के स्थान पर अल्पसंख्यक शासकों की मदद करते हैं और उनके द्वारा शक्ति प्रयोग को जायज़ ठहराते हैं।

अपराध की वर्गीय व्याख्या प्रस्तुत करते हुए फ्रैंक पियर्स जैसे अध्येता अपनी पुस्तक *क्राइम्स ऑफ़ द पावरफुल* में इस नतीजे पर भी पहुँचे कि समाज के ग़रीब, साधनहीन एवं श्रमिक वर्ग की तुलना में कॉरपोरेट जगत में अपराध अधिक हैं पर प्रायः उन्हें विचलन की श्रेणी में न रख कर कॉरपोरेट संस्कृति का सामान्य हिस्सा मान लिया जाता है। उनका कहना है कि अमेरिकी समाज में वहाँ के कॉरपोरेट जगत द्वारा सुनियोजित ढंग से संगठित अपराध को प्रोत्साहित किया जाता है या उसके दमन को रोका जाता है। इस प्रकार मार्क्सवादी विवेचन के अंतर्गत अपराध का मुख्य संबंध उत्पादन के साधनों एवं पूँजी के निजी स्वामित्व से जुड़ा हुआ है। अपराध की यह विचारधारात्मक व्याख्या अस्सी के दशक तक काफ़ी लोकप्रिय रही, हालाँकि इसके माध्यम से कम्युनिस्ट देशों में होने वाले विभिन्न क्रिस्म के अपराधों की संतोषजनक व्याख्या नहीं की जा सकी।

देखें : अर्थव्यवस्था का समाजशास्त्र, अभिजन, अभिरुचि, आत्महत्या, उन्मूलनवाद, एजेंसी, कर्मकाण्ड, कारागार, गोपनीयता, गृहविहीनता, जादू, जीवन-शैली, टेलरवाद, धर्म, प्राइवैसी, फुरसत, बचपन, बुजुर्गियत का समाजशास्त्र, बेगानापन, भीड़, भ्रष्टाचार का समाजशास्त्र-1 और 2, ज्ञान का समाजशास्त्र।

संदर्भ

1. हावर्ड बेकर (1963), *आउटसाइडर्स*, फ्री प्रेस, न्यूयॉर्क.
2. डेविड डाउंस और पाल रॉक (2003), *अंडरस्टैंडिंग डेविऐंस : अ गाइड टू द सोसियोलॉजी ऑफ़ क्राइम ऐंड रूल ब्रेकिंग*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.
3. डेविड माट्जा (1969), *बिक्रिमिंग डेविऐंट*, प्रेंटिस-हॉल, एंगलवुड क्लिफ्स, एनजे.
4. कोलिन समनर (1994), *कोलिन : द सोसियोलॉजी ऑफ़ डेविऐंस* : एन ओबिचुअरी, ओपन यूनिवर्सिटी प्रेस, बकिंगम.

विचारधारा और सिनेमा

संदर्भ : हिंदी फ़िल्में

(Ideology and Cinema)

सिनेमा एक ऐसा माध्यम है जिसकी बुनियादी संरचना में ही विचारधारात्मक पक्षधरता अंतर्निहित है। फ़िल्में एक ऐसी प्रौद्योगिकी की उपज होती हैं जिसके माध्यम से कोई भी परिस्थिति, दृश्य या कथानक रुपहले पर्दे पर बिना किसी जोड़ या सीवन के पेश किया जा सकता है। उसकी इस प्रवाहपूर्ण संधिहीनता के कारण दर्शकों की नज़र से वह तरक्रीब छिप जाती है जिसका इस्तेमाल करके फ़िल्म का अर्थ पैदा होता है। तात्पर्य-निरूपण की विधि अदृश्य कर देने के कारण दर्शक तात्पर्य को कुछ इस प्रकार ग्रहण करता है जैसे वह उसके लिए स्वाभाविक हो। इसीलिए माना जाता है कि सिनेमा विचारधारात्मक प्रचार का सबसे ताक़तवर माध्यम है। सोवियत संघ में अक्टूबर क्रांति के तुरंत बाद गृह-युद्ध के दौरान और फिर समाजवादी समाज की रचना के लिए इस माध्यम का घोषित और नियोजित इस्तेमाल किया गया था। लेकिन अगर घोषणा न भी की जाए तो भी सिनेमा किसी न किसी विचारधारा का ही निरूपण करता है। मसलन, सेक्शुअलिटी-अध्ययन के विद्वानों ने ध्यान दिलाया है कि किसी विचारधारा का अनुयायी न होने का दावा करने वाले व्यावसायिक सिनेमा के लगभग हर प्रकार की इबारत पर इतरलैंगिकता के आग्रह उत्कीर्ण होते हैं। इसके अलावा निरूपण के क्षेत्र में वर्ग, नस्ल, जेंडर और आयु से संबंधित आग्रहों का बोलबाला देखा जा सकता है। सिनेमा के विविध प्रकार पूँजीवादी व्यवस्था को बनाये रखने और मज़बूत करने की भूमिका निभाते हैं। वे पेचीदा से पेचीदा समस्याओं का भाष्य कुछ इस विधि से करते हैं कि अंत में एक आसान सा समाधान परोस दिया जाता है ताकि कठिनाइयों के निरूपण से पैदा होने वाला असंतोष और क्षोभ पृष्ठभूमि में धकेला जा सके।

सिनेमा-प्रौद्योगिकी की इस विचारधारात्मक प्रकृति का दूसरा पहलू यह है कि वह जिन हकीकतों को छिपाने का प्रयास करता है वे अपनी अनुपस्थिति के जरिये दर्शकों का ध्यान अपनी ओर खींच लेती हैं। भारतीय फ़िल्मों के संदर्भ में इसका एक उदाहरण रिचर्ड एटनबरो निर्मित 'गाँधी' है। गाँधी को इतिहास से परे एक मिथक के रूप में स्थापित करने का प्रयास करने वाली यह फ़िल्म जिन्ना को छोड़ कर कांग्रेस के भीतर और बाहर गाँधी के लगभग सभी विरोधियों (आम्बेडकर, सावरकर और सुभाष बोस) का वजूद तक नहीं स्वीकारती। इन चरित्रों की ग़ैर-मौजूदगी आज्ञादी से

पहले की राजनीति में सामान्य सी दिलचस्पी भी रखने वाले दर्शक को उनके प्रति कहीं ज़्यादा सचेत कर देती है। इसी तरह मेलोड्रामा और स्त्री-फ़िल्मों की श्रेणी में आने वाले सिनेमा में रोमानी प्रेम, परिवार और मातृत्व के मूल्यों को प्राथमिकता दी जाती है। लेकिन नारीवादी विद्वानों ने बताया है कि पितृसत्तात्मक विचारधारा की प्रच्छन्नता किस तरह उसकी ताक़त का प्रमाण बन कर उभरती है।

भारतीय सिनेमा अपने जन्म से ही विचारधाराओं का वाहक रहा है। पहली भारतीय फ़िल्म बनाने वाले दादा साहेब फ़ालके फ़िल्म-निर्माण को एक 'राष्ट्रीय' या 'स्वदेशी' उद्यम के रूप में ग्रहण करते थे। इसके बाद सांस्कृतिक, राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्रों के प्रतिनिधियों ने सिनेमा-प्रौद्योगिकी को अपने-अपने मक़सदों से इस्तेमाल किया। यह अलग बात है कि यह प्रौद्योगिकी अपने-आप में एक तटस्थ औज़ार नहीं थी इसलिए उसका उपयोग उन सांस्कृतिक-राजनीतिक दायरों के लिए ठीक वैसा नहीं निकला जिसकी उम्मीद की गयी थी। राष्ट्रवादी परियोजना चाहती थी कि सिनेमा एक ऐसे आधुनिक सौंदर्यशास्त्र का प्रतिनिधित्व करे जिससे उदीयमान भारतीय राष्ट्र का वैकासिक तर्क उत्तरोत्तर पुष्ट होता चला जाए।

सिनेमा को अपने काम में लगाने के लिए ज़रूरी था कि भारतीय राज्य उसे हॉलीवुड के वर्चस्व से बचाने की शर्त का पालन करता। युरोपीय देशों ने यह काम सरकारी पैसे से बनाये गये 'राष्ट्रीय सिनेमा' के जरिये किया था जो दरअसल कभी मज़बूती से अपने क़दम नहीं जमा पाया। भारतीय राज्य ने आयात और सेंसर संबंधी क़ानूनी पाबंदियों का इस्तेमाल करके हॉलीवुड के व्यापक प्रसार को रोक दिया। उसने सरकारी निवेश के आधार पर एक ख़ास तरह के सिनेमा को प्रोत्साहित करने की नीति भी अपनायी, लेकिन कुल मिला कर वह इस क्षेत्र को अपने-आप पनपने देने के ही पक्ष में रहा। इस तरह मोटे तौर पर भारत का व्यावसायिक सिनेमा ही अपने-आप में राष्ट्रीय सिनेमा का रूप ग्रहण करता चला गया जिसमें हिंदी-सिनेमा की भागीदारी सबसे बड़ी और प्रबल थी।

सरकारी मदद के बिना विकसित हुए हिंदी सिनेमा के विशाल संसार ने राष्ट्र-निर्माण के उद्यम में अपनी तरह से भागीदारी की। यह मानना ग़लत होगा कि केवल प्रकट राष्ट्रीय विषय-वस्तु वाली फ़िल्मों ने (जैसे, जागृति, शहीद, उपकार, पूरब और पश्चिम, आदि) ही यह कार्यभार उठाया। भारतीय फ़िल्म-अध्ययन के विद्वानों ने स्पष्ट रूप से दिखाया है कि किस तरह नाच-गाने, मारपीट, मेलोड्रामा और रंगीन मनोरंजन से भरी फ़ार्मूला फ़िल्मों को भी इस श्रेणी से अलग नहीं रखा जा सकता। दरअसल, भारतीय राज्य की सामाजिक-राजनीतिक संरचना का सांस्कृतिक उत्पादन के

सभी प्रकारों गहरा प्रभाव था जिससे व्यावसायिक फ़िल्में नहीं बच सकती थीं। दूसरी तरफ़ से भूमण्डलीय पूँजीवादी संरचनाएँ (जिनमें हॉलीवुड भी एक था : उसकी फ़िल्मों का प्रसार रोका जा सकता था पर भारतीय फ़िल्मों पर उसका असर प्रतिबंधित करना नामुमकिन था) भी एक साथ भारतीय राज्य और सांस्कृतिक उत्पादन के भारतीय मुकामों पर अपना असर डाल रही थीं।

व्यावसायिक हिंदी-सिनेमा ने आधुनिकता और परम्परा की उसी द्विभाजनकारी बहस को अपना केंद्रीय विषय बनाया जो आधुनिक होते हुए भारत की सामाजिक संरचनाओं के केंद्र में थी। एक तरफ़ ऐसी सामाजिक संरचना थी जिसमें ऊँची-नीची उत्पादन विधियाँ पूँजी की औपचारिक-अनौपचारिक मातहत में कार्यरत थीं। इस संरचना में राजनीतिक सत्ता शहरी बूज्वा, गाँवों के प्रभुत्वशाली सरबराहों और नौकरशाह प्रभुओं के हाथ में थी। दूसरी तरफ़ हिंदी-सिनेमा था जिसकी कथाभूमि 'कल्याणकारी' और 'चिरंतन' पारम्परिक मूल्यों को 'विघटनकारी' और 'संकीर्ण' आधुनिक मूल्यों पर प्राथमिकता देता नज़र आता था। लेकिन यही सिनेमा आधुनिक विकास की विचारधारा का तिरस्कार करने के लिए तैयार नहीं था। उसने चेतना के धरातल पर परम्परा और भौतिक धरातल पर आधुनिक विकास के संयोग से सिनेमाई लोकलुभावनवाद का शीराजा खड़ा करने का प्रयास किया। जाहिर है कि यह एक असहज कोशिश थी, जिसे नब्बे के दशक तक हिंदी सिनेमा ने अपनी फ़िल्मों के लगभग सभी प्रकारों में निभाया।

नब्बे के दशक में भारतीय राज्य ने भूमण्डलीय संरचनाओं के साथ अपना रिश्ता बदलने की शुरुआत की। यह 'नेशनल' और 'ग्लोबल' के बीच अंतर्विरोधों को सहज बनाने का प्रक्रम भी था। इसी के साथ हिंदी फ़िल्मों ने भी परम्परा और आधुनिकता के द्विभाजन को एक नयी दृष्टि से व्याख्यायित करना शुरू कर दिया। सिनेमाई राष्ट्रीय उद्यम के पहले दौर में अगर आधुनिकता को परम्परा की कसौटी पर खरा उतरना पड़ता था, तो दूसरे दौर में परम्परा को बार-बार आधुनिकता की कसौटी पर खरा उतरने के लिए मजबूर किया गया। अर्थात् हिंदी-फ़िल्मों की बुनियादी ज़मीन परम्परा से आधुनिकता की तरफ़ स्थानांतरित हो गयी। साथ में उसकी स्थानिकता में भी ग्रामीण के बजाय शहरी भावभूमि प्राथमिकता प्राप्त करती चली गयी।

दिलचस्प बात यह है कि आधुनिकता को उसके वैकासिक प्रोजेक्ट के साथ-साथ उसकी मूल्य-प्रणाली को भी स्वीकार करने वाले इस दौर में अब सत्तर और अस्सी के दशक की भाँति की तरह देशभक्ति और राष्ट्रवाद का आह्वान करने वाली फ़िल्में नहीं बनतीं। हिंदी-फ़िल्मों का यह प्रकार

एक-दो अपवादों को छोड़ कर व्यावसायिक रूप से विफल मान लिया गया है। अब हिंदी-फ़िल्में राष्ट्रीय परियोजना के संकटग्रस्त पहलुओं पर रोशनी डालती हैं और इस लिहाज़ से वे सत्तर और अस्सी के दशक की अपेक्षाकृत ग़ैर-व्यावसायिक फ़िल्मों का मुहावरा अपना रही हैं जिनमें यही बात व्यवस्था के खिलाफ़ विद्रोह के विमर्श के तौर पर सामने आयी थी।

हिंदी-फ़िल्मों की विचारधारा का ऐतिहासिक आख्यान पेश करते हुए एम. माधव प्रसाद ने आधुनिक/परम्परा संबंधी द्विभाजन के पहले दौर को 'औपचारिक सन्निवेश की विचारधारा' करार दिया है। उनकी मान्यता है कि भारतीय राज्य के स्वरूप को लेकर होने वाली जद्दोजहद हिंदी-सिनेमा के केंद्र में है। उसके लिए भारतीय राज्य केवल एक प्रशासनिक शै नहीं है। भारतीय राज्य की राजनीतिक अंतर्वस्तु उसके लिए अधिक महत्वपूर्ण है जिसमें होने वाले परिवर्तनों की झलक तो हिंदी का रुपहला पर्दा देता ही है, उस राज्य को एक खास तरह से गढ़ने की विचारधारात्मक कोशिश भी उसके उद्यम का हिस्सा है।

देखें : अतिनाटकीयता, अनुपस्थिति-उपस्थिति, कला सिनेमा, अवाँगार्ड और प्रति-सिनेमा, टीवी और समाचार, टीवी और सेक्शुअलिटी, टीवी और टीवी-अध्ययन, तीसरा सिनेमा, तीसरी दुनिया का सिनेमा, दक्षिण भारतीय सिनेमा और राजनीति, नारीवादी फ़िल्म-सिद्धांत, फ़िल्म और सेक्शुअलिटी, फ़िल्म और टीवी सेंसरशिप, फ़िल्मांतरण, फ़िल्म-सिद्धांत, फ़्लैश-बैक, भारतीय सिनेमा-1, 2 और 3, भारतीय फ़िल्म-अध्ययन, भारतीय स्टार सिस्टम, रियलिटी टीवी, वृत्त-चित्र, सेलेब्रिटी, सोप ओपेरा, सिनेमाई यथार्थवाद, नव-यथार्थवाद, सोवियत सिनेमा, स्टार, हिंदी सिनेमा का समाजशास्त्र।

संदर्भ

1. रवि वासुदेवन (2010), *द मेलोड्रैमैटिक पब्लिक : फ़िल्म फ़ॉर्म ऐंड स्पेक्टेटरशिप इन इण्डियन सिनेमा*, परमानेंट ब्लैक, नयी दिल्ली.
2. एम. माधव प्रसाद (1998), 'इंट्रोडक्शन : द आइडियालॉजी ऑफ़ फ़ॉर्मल सबसम्पशन', *आइडियालॉजी ऑफ़ हिंदी फ़िल्म : अ हिस्टोरिकल कंस्ट्रक्शन*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1998, नयी दिल्ली.
3. सुमिता एस. चक्रवर्ती (1993), *नेशनल आइडेंटिटी इन इण्डियन पाप्युलर सिनेमा, 1947-1987*, युनिवर्सिटी ऑफ़ टेक्सास प्रेस, ऑस्टिन.
4. के.एम. गोकुल सिंह और डब्ल्यू. दिसानायके (1999), *इण्डियन पाप्युलर सिनेमा : अ नैरेटिव ऑफ़ कल्चरल चेंज*, ट्रैथमबुक्स, स्टैफ़र्डशायर.

— अभय कुमार दुबे

विजयदेव नारायण साही

(Vijaydev Narayan Sahi)

हिंदी में नयी कविता-आंदोलन के प्रमुख सिद्धांतकार विजयदेव नारायण साही (1927-1982) पारम्परिक सैद्धांतिकता के अनुसरण में आस्था से अधिक नये सिद्धांतों की खोज और उनके विमर्श में विश्वास रखते थे। उनकी मान्यता थी कि नवीन चिंतन और सृजन नयी वैचारिक भूमि से ही उपजते हैं। वे यह भी जरूरी मानते थे कि पुराने सिद्धांतों के विश्लेषण में नयी समझ को जोड़ते चलना जरूरी है। 1959 में प्रकाशित अपनी कृति *जायसी* के माध्यम से उन्होंने समसामयिक आलोचना को गहरायी से प्रभावित किया। साही ने 'लघु मानव के बहाने हिंदी कविता पर बहस' शीर्षक से लिखे गये एक लम्बे निबंध में आलोचना के सरोकारों पर प्रकाश डालते हुए कहा कि आलोचना का काम साहित्यिक कृति की संवेदना को जबरदस्ती खींच कर पाठक तक पहुँचाना नहीं है। आलोचना पाठक को उसके वैचारिक और धारणात्मक पूर्वग्रहों के बावजूद उचित तत्परता की अवस्था में पहुँचाने का काम करती है ताकि वह उस ओर उन्मुख हो सके जहाँ से काव्य का 'प्रभाव' प्रवाहित हो रहा है। इस निबंध में लघुमानव-सिद्धांत की महत्त्व-प्रतिष्ठा करते हुए साही ने 'परम्परा' की नये ढंग से व्याख्या की। साही का कहना था कि 'आलोचना साहित्य का दर्शनशास्त्र है और उसका एक काम यह है कि वह संश्लिष्ट उत्तर का विश्लेषण करके उसकी सीमा रेखा को सुस्पष्ट और तीक्ष्ण बनाये।' अज्ञेय द्वारा सम्पादित *तीसरा सप्तक* (1959) के महत्त्वपूर्ण कवि और गाँधी-लोहिया विचार से प्रभावित विजयदेव नारायण साही इलाहाबाद में सक्रिय साहित्यकारों के परिमल समूह के प्रमुख सदस्य थे। उन्होंने 'मार्क्सवादी समीक्षा और उसकी कम्युनिस्ट परिणति' पर विचार करके हिंदी में प्रगतिशीलता के स्वरूप को प्रश्नांकित किया। साही के वैचारिक निबंधों, जैसे 'साहित्य और राजनीति', 'साहित्य में गतिरोध', 'साहित्यकार और उसका परिवेश', 'नितांत समसामयिकता का आग्रह' ने विचारोत्तेजन के लिए नयी पीढ़ी को काफ़ी सामग्री दी।

साही ने अपनी पुस्तक *जायसी* में जो स्थापनाएँ कीं, उन्हें कई आलोचकों ने 'अप्रत्याशित' माना। साही ने कहा *पद्मावत* सूफी ग्रंथ नहीं है, भले ही उसमें सूफीमत के तत्त्व कथा के प्रधान अंग के रूप में हैं। साही की निगाह में जायसी तो सूफी कवि थे, सूफी सिद्धांतकार नहीं। जायसी की मूल सर्जनात्मक वृत्ति के उद्घाटन के लिए साही ने 'पारदर्शी निर्वैयक्तिकता' जैसे नये प्रत्यय गढ़े हैं। उन्हें लगा कि जायसी 'अध्यात्मवादियों के बीच भौतिकवादी और भौतिकवादियों के

बीच अध्यात्मवादी' हैं। इस तरह साही ने वह उद्घाटित किया है जो रामचंद्र शुक्ल और वासुदेवशरण अग्रवाल की 'दृष्टि से अलक्षित' रह गया था। उन्होंने प्रमाण देकर सिद्ध किया कि कैसे जायसी में अवधी पहली बार हिंदी भाषा के सहज काव्य-प्रवाह में बहने लगती है। इसलिए एक खास अर्थ में जायसी हिंदी के पहले विधिवत् कवि हैं। साही ने कहा कि कबीर कवि नहीं थे, संत अधिक थे। जायसी सूफी संत नहीं हैं, कुजात सूफी हैं। इसीलिए सम्पूर्ण *पद्मावत* की सूफी व्याख्या असम्भव है।

साही ने जायसी के सिंहल द्वीप को 'यूटोपिया' मानते हुए उसे उनके मूल्यबोध का महत्त्वपूर्ण अंग माना है। जायसी का सिंहल-द्वीप आधा स्वप्न, आधी वास्तविकता है। जायसी की समस्या है दो तरह की पौराणिकताओं का निषेध करके केवल विध्वंस को जन्म देना। इसी से समस्या को 'ट्रेजिक विज्ञान' मिलता है— जिसे साही 'विषादयोग' नाम दिया है। उनके अनुसार हठयोग की स्थापना भी जायसी की प्रमुख साधना नहीं है। रामचंद्र शुक्ल ने *पद्मावत* को भागवत प्रतीक के रूप में देखा और वासुदेव शरण अग्रवाल ने बिम्ब-प्रतिबिम्बवाद के रूप में या प्रतीकवाद के रूप में। साही ने 'पद्मावत का विश्लेषण' में कहा कि आलोचक का यह कर्तव्य होता है कि वह कलाकृति को सम्पूर्ण इकाई के रूप में देखकर 'पाठ विश्लेषण' करे। खण्डित दृष्टिवालों ने *पद्मावत* को तसव्वुफ के रूप में देखा तथा कृति के उत्तरार्द्ध को भुला दिया। यह भी भुला दिया कि फ़ारसी या उर्दू में मसनवी प्रबंध काव्य की कोई शैली नहीं है। जायसी ने पद्मिनी और गौरा-बादल की कथा इतिहास से न ले कर लोक से ली है। जायसी का युग इस्लामी सामंतवाद की रस्साकशी का युग है— लेकिन काव्य का रूप इस युग में यूनानी त्रासदी जैसा नहीं है। पद्मावती संस्कृति का एक प्रश्न है जिसका रूप-रंग भारतीय है।

'लघुमानव के बहाने हिंदी कविता पर एक बहस' में साही ने कहा कि पाठक रचना के पाठ में प्रवेश करके उसके 'प्रभाव' को जीता है किंतु रचना का सत्य रचना में ही निवास करता है। इस 'काव्य के प्रभाव' को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने यंत्र-जगत की एक उपमा का प्रयोग किया : 'यंत्र जगत की एक स्थूल उपमा द्वारा हम यों कह सकते हैं कि रेडियो की सुई को उचित लहरमान पर ला कर लगा भर देना आलोचना का काम है, बाकी ट्रांसमीटर से आता हुआ गायन तो रेडियो सेट स्वयं पकड़ेगा। अब अगर कहीं से गायन आ ही न रहा हो या आवाज़ में गड़बड़ी हो, तो आलोचक गाने वाले के स्वर से स्वर मिलाकर गा नहीं सकता।' मार्क्सवादी आग्रहों पर टिप्पणी करते हुए साही ने मान्यता व्यक्त की कि 'सहज मनुष्य' की परिभाषा वैज्ञानिक न होकर सर्जनात्मक ही होगी। लेकिन इसका मतलब यह भी नहीं है कि परिभाषा की

ही न जाए। असीम होना हमारी विवशता है, लेकिन असीम को सीमा में लाकर विचार करना हमारी दृष्टि है। साहित्य कभी सहज मनुष्य को नहीं पकड़ता - उस केंद्रित कालबद्ध मनुष्य पर जाल फेंकता है जो सहज आभासित होता है। इसलिए 'लघुमानव' को 'सहज मानव' का विरोधी होना कुछ जँचता नहीं है। 'लघु मानव' के प्रति एक आपत्ति यह रही है कि यह कल्पना मनुष्य की महत्ता या महानता का निषेध करती है— मनुष्य में जो श्रेष्ठ एवं विराट है उसके संबंध को तोड़ देती है। जयशंकर प्रसाद का उदाहरण देते हुए साही ने माना कि वे यथार्थ को लघु से और आदर्श को महत् से जोड़ देते हैं। प्रसाद ही क्यों, सारे छायावाद की कोशिश इस भेद को मिटाने की रही। इसी वज्रन पर 'यथार्थोन्मुख आदर्शवाद' और 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' की गढ़त हुई है। दरअसल, लघु की कल्पना महत् का निषेध नहीं करती।

साही ने 'शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट' पर मौलिक चिंतन किया। इस निबंध का हिंदी आलोचना में अविस्मरणीय महत्त्व है। इसका मूल विचार यह है कि कविता में जब बदलाव आता है तब उसका फ़ॉर्म ही नहीं बदलता, अनुभूति (कंटेंट) भी बदलती है। साही के मुताबिक 'नयी कविता की बहसों में यह मान्यता अंतर्भूत रही है कि न सिर्फ कविता का ऊपरी कलेवर बदला है या नये प्रतीकों, या बिम्बों या शब्दावली की तलाश हुई है, बल्कि गहरे स्तर पर काव्यानुभूति की बनावट में ही परिवर्तन आ गया है। लेकिन बहस में इस पर बल कम दिया गया है। चेतना के जो तत्त्व काव्यानुभूति के आवश्यक अंग दिखते थे, उनमें से कुछ अनुपयोगी या असार्थक दिखने लगे, कुछ अन्य जो पहले अनावश्यक या विरोधी लगते थे, काव्यानुभूति के केंद्र में आ गये। कुल मिलाकर काव्यानुभूति और जीवन की काव्येतर अनुभूतियों में जो रिश्ता दिखता था, वह रिश्ता भी बदल गया।' साही के अनुसार शमशेर बहादुर सिंह ने वक्तव्य 'सारे प्रगतिवाद के पक्ष में दिये हैं, कविताएँ उन्होंने बराबर वह लिखीं जो प्रगतिवाद की कसौटी पर खरी नहीं उतरतीं। इसलिए 'शमशेर की कविता के प्रतिमान की ज़रूरत नहीं है, बल्कि कविता के नये प्रतिमान की ज़रूरत है'।

साही ने अज्ञेय को प्रसाद की परम्परा से जोड़ते हुए कहा कि 'यदि परम्परा हमेशा परिवर्तन और वैपरीत्य की दिशाओं में फूटती हुई चलती है, तो अज्ञेय, आगे के इतिहासकार को प्रसाद की 'परम्परा' में ही दिखलायी पड़ेंगे।' प्रसाद और अज्ञेय की समानताएँ उन्हें चकित करती हैं। अज्ञेय की व्याख्या करते हुए साही ने लिखा कि 'प्राकृतिक गति, मानवीय संकल्प, वर्जित स्पर्श और अनुभूति की अर्थवत्ता आदि के संदर्भ में अज्ञेय मनुष्य की एक ऐसी तस्वीर प्रस्तुत करते हैं जो प्रसाद के पैटर्न के बहुत निकट होती हुई भी बहुत भिन्न है। अनुभूति और दर्शन के संबंध का अनुसंधान अज्ञेय का भी उद्देश्य है। लेकिन इसके लिए वे प्रसाद के रास्ते को

बिल्कुल उलट देते हैं और एक नयी राह निकालते हैं। यह उलटना बच्चन से भिन्न ढंग का है। यदि हम हीगेलवादी शब्दावली का उपयोग करें तो यों कह सकते हैं कि, छायावाद और बच्चन आदि के मानवीय रूपों की थीसिस, एंटीथीसिस की सिंथीसिस अज्ञेय की चेतना में प्रकट हो रही है। यों वैपरीत्य भी एक प्रकार का साधर्म्य है। प्रसाद जी का सत्य एक दार्शनिक सत्य है जो 'मान्य' अथवा 'आस्था सम्मत' मूल्यों के समान हमारे मानस में सूक्ष्म रूप से वर्तमान रहता है। अज्ञेय का सत्य साक्षात्कार का एक क्षण है - एक द्वीप है जिसे हम भीतर के जड़ और चेतन के संकल्पित संयोग से अनुभूत करते हैं। इस प्रकार *क्रामायनी* में जो अनुभूति दर्शन में परिवर्तित हो जाती थी- उसे अज्ञेय फिर दर्शन से अनुभूति में परिवर्तित करते हैं। कविता संबंधी हमारी धारणाओं में इससे गहन परिवर्तन हो जाता है— विशेषतया अनुभूति की सार्वजनिकता को लेकर।'

साही ने यह विचार भी उठाया कि चूँकि सभी रचनाकारों की मनोभूमि एक सी नहीं होती, इसलिए मनोभूमि की अभिव्यक्ति भी एक जैसी नहीं होती। उनके अनुसार 'छायावाद की मनोभूमि के कवि, प्रगतिवाद की मनोभूमि से अलग तरह के हैं। छायावादी 'परिवर्तनवादी' हैं, लेकिन मेटाफ़िज़िक्स के साथ। जबकि मेटाफ़िज़िक्स उतनी अनुभव की विद्या नहीं है जितनी काव्यात्मक मुद्रा। छायावादी कवियों को लगता है कि मेटाफ़िज़िक्स होना ही भारतीय संस्कृति परम्परा से जुड़ जाना है। आश्चर्य की स्थिति यह है कि छायावाद के वाद का न सिर्फ बहिर्जगत अध्यात्मविहीन है, बल्कि अंतर्जगत भी आध्यात्मिक नहीं है। हिंदुस्तान के इतिहास में पहली बार यह हुआ कि भीतर पैठने पर 'आत्मा' के दर्शन नहीं हुए। नयी कविता की आध्यात्मिकता उस अर्थ में आध्यात्मिक नहीं है जिस अर्थ में छायावाद की 'आंतरिकता'। प्रश्न उठता है कि इस आध्यात्मिक मुद्रा का विनाश किसने किया? पहले पापियों में आज के कवि-कथाकार नहीं आयेंगे। 'जड़ खोदने का काम तो दिनकर, बच्चन, भगवतीचरण वर्मा आदि ने ही शुरू किया था। अज्ञेय या उनके साथ या बादवालों ने तो सिर्फ मट्टा ही डाला।'

साही कहते हैं कि मेटाफ़िज़िकल तत्त्व गाँधी के चिंतन की शैली में विद्यमान हैं। सत्याग्रह युग के दो विशाल आच्छादन हैं— गाँधी और रवींद्रनाथ। दोनों उस मनोभूमि के निर्माता हैं जहाँ सत्त्व और सत्य तक पहुँचने का रास्ता एक सा है। उपन्यासकार की कलाकृति की तरह गाँधी का मनुष्य इतिहास के भीतर भी है और कालबद्ध भी, कालातीत भी। सत्य को अंतर्ध्वनित होते हुए पकड़ना— यह शैली गाँधी की है। छायावाद की चर्चा में अक्सर युरोपीय रोमांटिसिज़म का नाम चिपका दिया जाता है। पर साही ने हिंदी के सत्याग्रह युग पर रोमांटिक विशेषण लगाने से परहेज़ किया है।

साही की दो पुस्तकों *लोकतंत्र की कसौटियाँ* तथा

वर्धमान और पतनशील ने लोकतंत्र को साहित्य-चिंतन में स्थापित किया है। उनकी लिखी क्रानून की पुस्तकें पढ़ कर महिला बुनकरों और मजदूरों की लड़ायी सुप्रीम कोर्ट तक लड़ी जाती रही। सोशलिस्ट पार्टी के शिक्षण-शिविरों में उनके भाषण होते थे। नरेंद्र देव के चिंतन से प्रेरणा पाकर साही जी ने समता और स्वतंत्रता की मूल्य-चेतना के अनेक पक्षों पर पहली बार हिंदी आलोचना में अपने देशी तर्कों से विचार किया। लोहिया-जयप्रकाश नारायण पर दिये गये उनके भाषण नयी पीढ़ी के लिए प्रेरणा के स्रोत रहे हैं। अंग्रेजी के प्रोफेसर साही ने आलोचना तथा नयी कविता का कुछ समय तक सम्पादन भी किया। उनके दो काव्य-संग्रह *मछली घर* तथा *साखी* बहुचर्चित हुए। उन्होंने 'सेकुलर ऐंड नॉनसेकुलर ट्रेडस इन नार्थ इण्डियन लिटरेचर' तथा 'वेस्टर्नज्म ऐंड कल्चरल चेंज इन इण्डिया' जैसी रचनाएँ भी कीं।

देखें : अष्टछाप, 'अंग्रेजी हटाओ' आंदोलन, गजानन माधव मुक्तिबोध-1 और 2, छायावाद, डायग्लोसिया, नंद दुलारे वाजपेयी, नगेंद्र और सैद्धांतिक समीक्षा, नयी कविता, नामवर सिंह, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, प्रेमचंद, प्रयोगवाद, प्रगतिवाद, भक्ति आंदोलन-1 और 2, भक्ति-काव्य-1 और 2, भारतेंदु हरिश्चंद्र, भारतेंदु युग-1 और 2, भाषा नियोजन-1 से 4 तक, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, महादेवी वर्मा, महावीर प्रसाद द्विवेदी, मीराबाई और प्रेमाभक्ति, राहुल सांकृत्यायन, रामानुजाचार्य, रामानंद, रामचंद्र शुक्ल-1 और 2, रामविलास शर्मा, राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता, रीतिकाल-1 और 2, वैष्णव धर्म, श्याम सुंदर दास, सम्पर्क भाषा-1 से 4 तक, सगुण और निर्गुण-1 और 2, संस्कृत काव्यशास्त्र, संविधान सभा में भाषा-विवाद-1, 2 और 3, संत-काव्य, सिद्ध-नाथ परम्परा, सूफीयत और प्रेमाख्यान, हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिंदी विरोधी आंदोलन, हिंदी जाति-1 से 3 तक, हिंदी साहित्य का आदिकाल, हिंदी साहित्य का इतिहास, हिंदी साहित्य का इतिहास : नये परिप्रेक्ष्य, हिंदी-पद्य में इतिहास, हिंदी-जगत और 'लोकप्रिय'-1 और 2, हिंदी नवजागरण, हिंदी-संस्थाएँ।

संदर्भ

1. रामस्वरूप चतुर्वेदी (1993), *हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास*, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.
2. विजयदेव नारायण साही (1987), *छठवाँ दशक*, हिंदुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद.
3. विजयदेव नारायण साही (1983), *जायसी*, हिंदुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद.
4. विजयदेव नारायण साही (1991), *लोकतंत्र की कसौटियाँ*, हिंदुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद.
5. विजयदेव नारायण साही (1991), *वर्धमान और पतनशील*, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.
6. विजयदेव नारायण साही (1993), *साखी*, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.

— कृष्णादत्त पालीवाल

विजयलक्ष्मी पण्डित

(Vijaylakshmi Pandit)

स्वाधीनता सेनानी, राजनेता और राजनयिक विजयलक्ष्मी पण्डित (1900-1990) झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई से प्रेरित और सरोजिनी नायडू से प्रभावित हो कर असहयोग आंदोलन में कूदीं। 1932 में एक साल तक अंग्रेज हुकूमत द्वारा दिया गया कठोर कारावास भुगतने के बाद वे 1940 में और फिर 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन में अपनी भागीदारी के चलते जेल गयीं। संयुक्त राष्ट्र महासभा की पहली महिला अध्यक्ष के पद पर सुशोभित होने वाली विजयलक्ष्मी पण्डित ने सैन फ्रांसिस्को में हुई संयुक्त राष्ट्र की पहली बैठक में भी भाग लिया। इण्डियन काँग्रेस ऑफ़ वर्ल्ड एफ़ैयर्स के प्रतिनिधिमण्डल की नेता के रूप में विजयलक्ष्मी ने अमेरिका के हॉट स्प्रिंग्स में आयोजित पेंसिल्वेनिया रिश्शंस कांफ्रेंस में भी हिस्सा लिया। मोतीलाल नेहरू की बेटी और जवाहरलाल नेहरू की बहिन होने के बावजूद विजयलक्ष्मी ने अपने विख्यात पिता और भाई की छत्रछाया से अलग अपने व्यक्तित्व की रचना की। वे 1936 और 1946 में संयुक्त प्रांत की विधानसभा के लिए चुनी जा कर मंत्रिपद पाने वाली पहली महिला बनीं। आज़ादी के बाद वे राजनयिक सेवा की सदस्य बनीं और कई देशों (सोवियत संघ, अमेरिका, मैक्सिको, आयरलैण्ड और स्पेन) में भारत के राजदूत की भूमिका निभायी। महाराष्ट्र की राज्यपाल रहने के बाद विजयलक्ष्मी पण्डित ने संसद का चुनाव भी जीता। वे अपनी भांजी और प्रधानमंत्री इंदिरा गाँधी की नीतियों की कठोर आलोचक थीं।

विजयलक्ष्मी के पिता और उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन की प्रमुख हस्ती मोतीलाल नेहरू के परिवार में वैभव और ऐश्वर्य की कोई कमी नहीं थी। मोतीलाल स्वयं भी ब्रिटिश व्यवस्था, रहन-सहन व खान-पान के घोर समर्थक थे। लेकिन जवाहरलाल नेहरू द्वारा गाँधी के सम्पर्क में आने के बाद पूरे परिवार ने स्वाधीनता आंदोलन में भरपूर योगदान दिया। अपने आधुनिक दृष्टिकोण और राष्ट्रीयता के प्रति प्रतिबद्धता के कारण इस परिवार की स्त्रियों ने भी स्वाधीनता आंदोलन में हिस्सा लिया। जवाहरलाल नेहरू की माता स्वरूप रानी, बहनें विजय लक्ष्मी और कृष्णा, पत्नी कमला और बेटी इंदिरा ने आंदोलन में कोई न कोई भूमिका निभायी।

18 अगस्त, 1900 को इलाहाबाद में जन्म के समय विजयलक्ष्मी का नाम स्वरूप कुमारी था जो विवाह के समय बदल कर विजयलक्ष्मी हो गया। विजयलक्ष्मी का बचपन



विजयलक्ष्मी पण्डित (1900-1990)

पाश्चात्य संस्कृति और अनुशासन के समर्थक पिता और भारतीय संस्कृति व धार्मिकता से जुड़ी माँ के बीच में रह कर बड़े गुज़ारने का मौक़ा मिला। मोतीलाल नेहरू ने अपनी लड़कियों की पाश्चात्य तरीक़े की देखभाल और शिक्षा के लिए अपने घर पर एक युरोपियन गवर्नेस रखी हुई थी। उन्होंने अपनी बेटियों को अंग्रेज़ी के अलावा घुड़सवारी और खेलकूद में भी भाग लेने किया उत्साहित किया। घर पर ही उनके संस्कृत व हिंदी के अध्ययन के व्यवस्था भी की। मोतीलाल के इलाहाबाद स्थित घर आनंद भवन में उस समय के ब्रिटिश अधिकारियों के अलवा दिग्गज भारतीय राजनीतिक नेता भी नियमित रूप से आते रहते थे। उनकी चर्चाओं का विजयलक्ष्मी पर भी काफ़ी असर पड़ा। 1917 में ब्रिटिश प्रशासन ने जब एनी बेसेंट को नज़रबंद कर दिया तो मोतीलाल नेहरू एवं जवाहरलाल नेहरू ने इस क़दम का खुल कर विरोध किया। जवाहरलाल नेहरू इलाहाबाद में होम रूल लीग के संस्थापक सचिव बने। उस समय मात्र 16 वर्ष की आयु में विजयलक्ष्मी भी इस लीग की सदस्य बनना चाहती थीं लेकिन कम उम्र के कारण उन्हें एक स्वयंसेवक के रूप में लीग के कार्यालय में चिट्ठियों पर पते लिखने और लोगों के संदेश लेने का काम दिया गया। इसी साल विजयलक्ष्मी की चचेरी बहन रामेश्वरी नेहरू ने इलाहाबाद विश्वविद्यालय में एक राजनीतिक सभा का आयोजन किया जिसमें भारतीय मूल के मज़दूरों के साथ दक्षिण अफ़्रीका में हो रहे अत्याचारों का विरोध किया गया था। विजयलक्ष्मी को एक स्वयंसेवक के रूप में इस सभा में भाग लेने का अवसर मिला। 1919 में

अमृतसर के जलियाँवाला बाग में प्रदर्शनकारी भारतीयों पर सैनिकों की गोलीबारी के बाद हुए राष्ट्रीय आंदोलन में गाँधी और नेहरू परिवार के बीच सम्पर्क बढ़ा। इसके साथ ही अपने बाक़ी परिवार की तरह विजयलक्ष्मी ने भी वैभवशाली जीवन-शैली के स्थान पर सादगीपूर्ण जीवन अपनाने का निर्णय किया।

1921 में विजयलक्ष्मी ने पोरबंदर के एक बैरिस्टर और महात्मा गाँधी के अनुयायी रंजीत सीताराम पण्डित से विवाह किया। विवाह के बाद पति-पत्नी ने संयुक्त रूप से स्वतंत्रता आंदोलन में हिस्सा लेना शुरू कर दिया और असहयोग आंदोलन, स्वदेशी आंदोलन और विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार जैसे अभियानों में भागीदारी की। स्वतंत्रता संग्राम के दौरान सविनय अवज्ञा आंदोलन में भाग लेने के कारण 1931 में विजय लक्ष्मी पण्डित को 18 महीने के लिए जेल की सज़ा दी गयी थी। जेल से छूट कर उन्होंने इलाहाबाद नगर पालिका का चुनाव लड़ा और भारी बहुमत से जीत कर नगर पालिका शिक्षा समिति की अध्यक्ष नामांकित हुईं। उन्होंने शहर में शिक्षा के प्रसार के लिए अनेक नये कार्यक्रमों की शुरुआत की। 1937 में विजयलक्ष्मी ने संयुक्त प्रांत (उत्तर प्रदेश) में कानपुर शहर से विधानसभा का चुनाव जीता और उन्हें स्वास्थ्य और लोक-प्रशासन विभाग का मंत्री नियुक्त किया गया। विजय लक्ष्मी भारत में मंत्रीपद सँभालने वाली पहली महिला थी। स्वास्थ्य मंत्री के रूप में उन्होंने सारे प्रदेश के ग्रामीण क्षेत्रों में जन-स्वास्थ्य के लिए नये उपायों की शुरुआत की और लोक-प्रशासन मंत्री के रूप में भारत में पहली बार विधायिका में पंचायती राज्य अधिनियम प्रस्तुत किया। 1940 से 1942 के दौरान विजयलक्ष्मी अखिल भारतीय महिला सम्मलेन की अध्यक्ष भी रहीं। 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन में भाग लेने के कारण उन्हें गिरफ़्तार करके नैनी जेल भेज दिया गया। ख़राब स्वास्थ्य के चलते विजयलक्ष्मी को नौ माह के बाद जेल से छोड़ दिया गया। छूटने के तुरंत बाद ख़राब स्वास्थ्य के बावजूद उन्होंने 1943 के बंगाल के भीषण अकाल में राहत कार्यों में भाग लिया और अखिल भारतीय महिला सम्मलेन के तत्वावधान में बच्चों को बचाने के लिए एक सहयोग निधि की स्थापना भी की।

1944 में विजयलक्ष्मी के पति का असामयिक निधन हो गया। विजयलक्ष्मी पर अपनी तीनों बेटियों की देखभाल की ज़िम्मेदारी पहले से ही थी जिसे वे अपने राजनीतिक-सामाजिक दायित्वों के साथ ही निभा रही थीं। रंजीत सीताराम पण्डित ने क्रान्ती वसीयत नहीं छोड़ी थी और उनके केवल तीन बेटियाँ ही थीं। अतः रंजीत पण्डित की सारी सम्पत्ति हिंदू संयुक्त परिवार के नियमों के अंतर्गत उनके भाई को मिल गयी। विजयलक्ष्मी और उनकी बेटियों

को कुछ भी नहीं दिया गया। विजयलक्ष्मी के लिए यह बेहद कठिन समय था। उनके भाई और मार्गदर्शक जवाहरलाल नेहरू भी उस समय कैद में थे और पिता मोतीलाल नेहरू का पहले ही निधन हो चुका था। विजयलक्ष्मी पण्डित ने अपने प्रयासों और भारतीय महिला सम्मलेन के माध्यम से हिंदू उत्तराधिकार क़ानून में परिवर्तन की माँग उठायी जो बहुत समय बाद हिंदू कोड बिल के रूप में सामने आयी।

विजयलक्ष्मी पारम्परिक भारतीय विधवा जैसा जीवन नहीं स्वीकार किया। वे सार्वजनिक कार्यों में अपना योगदान करती रहीं। गाँधी के निर्देश पर तेज बहादुर सप्रू के नेतृत्व में गठित वैश्विक मामलों की भारतीय परिषद के साथ वे अमेरिका की यात्रा पर गयीं और वर्जिनिया में प्रशांत क्षेत्रीय सम्मलेन में भारतीय स्वतंत्रता का पक्ष प्रस्तुत किया। अमेरिका के अपने इस दौर में विजयलक्ष्मी पण्डित ने सैन फ्रांसिस्को में आयोजित संयुक्त राष्ट्र का चार्टर बनाने हेतु दक्षिण एशिया का प्रतिनिधित्व किया और भारत में औपनिवेशिक शासन और इसके रंगभेदी आचरण को नये विश्व संगठन और सभ्य समाज के लिए एक नैतिक चुनौती बताया। अमेरिका से वापसी के बाद विजयलक्ष्मी पण्डित भारत के नये संविधान की रचना के लिए गठित संविधान सभा के लिए संयुक्त प्रदेश से सदस्य चुनी गयीं। 1946-47 के दौरान वे एक बार फिर इसी प्रांत की स्वास्थ्य तथा लोक-प्रशासन विभाग की मंत्री बनायी गयीं।

स्वतंत्र भारत में विजयलक्ष्मी ने एक कुशल राजनायिक की भूमिका निभायी, अंतर्राष्ट्रीय संगठनों और विदेशों में भारत का प्रतिनिधित्व किया, राजदूत के रूप में उन्होंने भारत के अत्यंत प्रमुख साझीदारों जैसे सोवियत रूस, अमेरिका, मैक्सिको, आयरलैण्ड, इंग्लैण्ड और स्पेन में भारतीय विदेश नीति के अनुरूप योगदान दिया। सोवियत रूस में विजयलक्ष्मी पण्डित के कार्यकाल को साधारण ही माना जाता है, क्योंकि कठोर व नियंत्रित स्तालिनवादी व्यवस्था में विजय लक्ष्मी पण्डित के मुक्त और आज्ञादा विचारों के बीच समन्वय असम्भव था। 1952 में भारत के पहले आम चुनावों में विजय लक्ष्मी पण्डित को लोक सभा का सदस्य निर्वाचित किया गया। 1953 में विजयलक्ष्मी को संयुक्त राष्ट्र की आम सभा का अध्यक्ष नियुक्त किया गया। वे यह गौरव प्राप्त करने वाली विश्व की पहली महिला और पहली एशियाई थीं। संयुक्त राष्ट्र में विजयलक्ष्मी ने मानवाधिकारों की सुरक्षा के लिए बेहद गम्भीर रुख अपनाया और दक्षिण अफ्रीका की रंगभेदी नीतियों का तीव्र विरोध किया।

ऐसा समझा जाता था कि अपनी कूटनीतिक ज़िम्मेदारियों के बाद भारत लौटने पर उन्हें उप-राष्ट्रपति नियुक्त किया जाएगा लेकिन कांग्रेस के आंतरिक

राजनीतिक समीकरणों के चलते उन्हें महाराष्ट्र का राज्यपाल नियुक्त किया गया। 1964 में जवाहरलाल नेहरू के निधन से रिक्त हुए फूलपुर लोकसभा क्षेत्र से विजयलक्ष्मी पण्डित ने चुनाव जीता और 1964 से 68 तक लोकसभा की सदस्य रहीं। नेहरू के बाद प्रधानमंत्री बने लाल बहादुर शास्त्री ने इंदिरा गाँधी को अपने मंत्रिमण्डल में शामिल होने का न्यौता दिया तो इंदिरा गाँधी ने शास्त्री के तहत काम करने से मना कर दिया। लेकिन जब शास्त्री ने अपने मंत्रिमण्डल में विजयलक्ष्मी को शामिल करने की योजना बनायी तो इंदिरा गाँधी फ़ौरन मंत्रिमण्डल में आने के लिए राजी हो गयीं। 1968 के बाद बदले हुए राजनीतिक परिवेश में विजय लक्ष्मी पण्डित ने सार्वजनिक जीवन से अवकाश ले लिया और देहरादून में रहने लगीं। 1975 में जब इंदिरा गाँधी ने देश में आपातकाल लागू करके सारे नागरिक अधिकारों को निलंबित कर दिया तो विजयलक्ष्मी पण्डित ने अपने अपनी भतीजी का सार्वजनिक रूप से विरोध किया। 1977 के आम चुनावों में विजयलक्ष्मी पण्डित ने इंदिरा गाँधी के ख़िलाफ़ पूरी ताकत से चुनाव प्रचार में हिस्सा लिया। लेकिन विजयी जनता पार्टी सरकार में उन्होंने कोई पद, सम्मान या लाभ स्वीकार नहीं किया। एक दिसम्बर, 1990 को उनका देहरादून में निधन हुआ।

देखें : अरुणा आसफ़ अली, आनंदीबाई जोशी, उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन में स्त्री-नेतृत्व-1 और 2, कमला देवी चट्टोपाध्याय, दलित-नारीवाद, पण्डिता रमाबाई सरस्वती, महादेवी वर्मा, दुर्गाबाई देशमुख, रमाबाई रानाडे, संतोष कुमारी देवी।

संदर्भ

1. विजय लक्ष्मी पण्डित (1979), *द स्कोप ऑफ़ हैप्पीनेस : अ पर्सनल मेमॉयर*, वाईडेनफ़ैल्ड एवं निकलसन, लंदन.
2. एंड्रूज रोबर्ट हार्वी (1967), *अ लैप फ़ॉर इण्डिया : द स्टोरी ऑफ़ मैडेम पण्डित*, बार्कर, लंदन.
3. वेरा ब्रिटेन (1965), *एन्वोय एक्स्ट्रा आर्डिनरी : अ स्टडी ऑफ़ विजय लक्ष्मी पण्डित ऐंड हर कॉन्ट्रिब्यूशंस टू मॉडर्न इण्डिया*, एलन एवं उनविन, लंदन.

— रवि दत्त वाजपेयी

वितरणमूलक न्याय

(Distributive Justice)

वितरणमूलक न्याय का सिद्धांत माँग करता है कि समाज में धन-सम्पत्ति, सुविधाओं और वस्तुओं का आबंटन समता के आग्रह की रोशनी में करने से ही न्याय की शर्तें पूरी हो सकती हैं। इस लिहाज से वितरणमूलक न्याय के पैरोकार जीवन-स्तर और सम्पत्ति के स्वामित्व की विषमता जैसे पहलुओं पर गौर करते हुए उन्हें मानवाधिकारों, मानवीय गरिमा और सर्वसाधारण के हितों की पूर्ति के साथ जोड़ते हैं। यह सिद्धांत तर्क देता है कि राज्य और समाज का समुद्धि हिस्सा जरूरतमंद लोगों की मदद करने की जिम्मेदारी से मुँह नहीं मोड़ सकता। उनकी अपील होती है कि सरकारें अधिक आमदनी पर अधिक टैक्स लगाएँ और इस जरिये मिले राजस्व को लोक-कल्याण के कार्यक्रमों पर खर्च करें। इस सिद्धांत के कई पहलु हैं जिन पर गौर करना जरूरी है। जैसे, जिन वस्तुओं का वितरण किया जाना है वे कौन सी हैं, जिन लोगों को उनका वितरण किया जाना है वे कौन हैं, और वे कौन-कौन से आधार हैं जिनकी बिना पर वितरण किया जाना चाहिए। आम तौर पर जिनका वितरण किया जाता है उन्हें आमदनी, सम्पत्ति और अवसरों के रूप में परिभाषित किया जाता है। जिन्हें वितरण किया जाना है वे व्यक्ति और समुदाय भी हो सकते हैं, संस्थाएँ भी और राज्य भी। वितरण का आधार समता हो सकती है, संघवाद हो सकता है और बाजार का तंत्र भी हो सकता है। उदारतावादी चिंतक जॉन रॉल्स ने वितरणमूलक न्याय के प्रश्न पर गम्भीरता से गौर करके उसका सकारात्मक सूत्रीकरण किया है। लेकिन, स्वतंत्रतावादी चिंतक, अनुदारवादी सिद्धांतकार और बाजारवादी अर्थशास्त्रियों ने वितरणमूलक न्याय की कड़ी आलोचना की है।

चाहे पूँजीवाद हो, समाजवाद हो या कोई और आर्थिक प्रणाली हो, तक्ररीबन सभी व्यवस्थाओं में किसी न किसी प्रकार सम्पत्ति के एक हाथ से दूसरे हाथ में स्थानांतरण का प्रावधान होता है। अर्थात् हर व्यवस्था वितरण की किसी न किसी योजना पर चलती है। व्यवस्था का चरित्र इस बात से तय होता है कि वितरण के दौरान किससे ले कर किससे दिया जा रहा है। वितरणमूलक न्याय के पक्ष में सर्वाधिक सहज तर्क सामाजिक और आर्थिक समता के पैरोकारों का है। इस दलील के मुताबिक उसूलन हर व्यक्ति के पास वस्तुओं और सेवाओं का समान स्तर होना चाहिए। सभी समान आदर के अधिकारी हैं और यह शर्त पूरी करने के लिए जरूरी है कि उनके पास स्वामित्व और अवसरों की संख्या और मात्रा समान हो।

इस सिलसिले में पिगू-डाल्टन सिद्धांत उल्लेखनीय

है। इसके अनुसार अमीर से लेकर गरीब को देने से विषमता घटती है बशर्ते अमीर व्यक्ति गरीब का स्थान लेने के लिए मजबूर न हो और गरीब का स्तर बेहतर हो जाए। यह सिद्धांत यह नहीं मानता कि सम्पत्ति के पुनर्वितरण से आर्थिक प्रगति पर विपरीत असर ही पड़ेगा। ह्यू डाल्टन कहते हैं कि दोनों तरह के प्रभाव पड़ सकते हैं, लेकिन हर हालत में सामूहिक कल्याण की स्थिति बेहतर ही होगी।

वितरणमूलक न्याय के कुछ पैरोकारों की मान्यता है कि इसके जरिये घटने वाली विषमताओं से कुल मिला कर दूरगामी तौर पर आर्थिक संकट के अंदेरे घटते हैं जिसका परिणाम अर्थव्यवस्था में अधिक सार्वजनिक आस्था में निकलता है। कींसियन अर्थशास्त्रियों और कुछ मार्क्सवादी अर्थशास्त्रियों ने भी वितरणमूलक न्याय के पक्ष में इसी तरह के तर्क दिये हैं।

राजनीतिक सिद्धांत के क्षेत्र में समता के उसूल का बेहद परिष्कृत सूत्रीकरण करते हुए जॉन रॉल्स ने अपनी पुस्तक *ए थियरी ऑफ जस्टिस* में एक ऐसी परिस्थिति कल्पित की है जिसमें हर व्यक्ति स्वतंत्रता के सर्वाधिक विस्तृत उस स्वरूप को चुनेगा जो दूसरों की स्वतंत्रता के पूरी तरह से अनुकूल हो। रॉल्स के मुताबिक ऐसे लोग सामाजिक और आर्थिक विषमताओं का विन्यास इस प्रकार करेंगे कि सबसे कम लाभान्वित होने वाले को सर्वाधिक लाभ हो सके, और निष्पक्ष समानता व अवसर की परिस्थितियों के तहत सभी के लिए पद और हैसियत प्राप्त करने के मौके खुले रहें।

न्याय का यह सिद्धांत काफ़ी-कुछ भारतीय संविधान द्वारा अपनाये गये न्याय के सिद्धांत से मेल खाता है। हमारा संविधान इस बुनियादी अवधारणा को मान कर चलता है कि अगर समाज के सबसे ज्यादा कमजोर लोगों के लिए न्याय हासिल करना है तो समानता के कुछ मानकों से हटने के सुचिंतित उपाय करने पड़ेंगे। इस लिहाज से संविधान में औपचारिक समानता के कुछ पहलुओं को छोड़ने वाले प्रावधान किये गये हैं ताकि ऐतिहासिक रूप से वंचित समूहों को लाभान्वित करने की परिस्थितियाँ पैदा की जा सकें। आरक्षण की नीति एक ऐसा ही उपाय है।

वितरणमूलक न्याय का एक और प्रचलित आधार लोक-कल्याण है। इसका मुख्य तर्क उपयोगितावादी सिद्धांत से निकलता है। यह दर्शन कल्याण की समता पर विचार करता है। इसके प्रतिपादक जेरेमी बेंथम कल्याण को सुख के रूप में देखते हैं जो किसी के जीवन में पीड़ा के ऊपर आनंद के अधिशेष के रूप में परिभाषित होता है।

लेकिन उपयोगितावाद के आलोचकों का कहना है कि आजकल सुख की परिभाषा नये तरीके से दी जाने लगी है। इसके मुताबिक हर किसी के जीवन पर कल्याण का कम या

ज्यादा प्रभाव होता है, और उसी के मुताबिक उसकी कामनाएँ और प्राथमिकताएँ संतुष्ट हो पाती हैं। उसी हिसाब से वह अपने जीवन को बेहतर और कमतर मानता है। इस लिहाज से जो समाज कल्याण के समान वितरण में यकीन करेगा, वह इस बात की चिंता नहीं करेगा कि व्यक्तिगत रूप से लोगों को कितने संसाधन मिल रहे हैं और उनके आधार पर लोग अपनी प्राथमिकताओं की कितनी पूर्ति कर पा रहे हैं। लेकिन, अगर कल्याण को प्राथमिकताओं का पर्याय मान लिया जाएगा तो उस लिहाज से किया गया वितरण संसाधनों की विषमता को जन्म देगा। ऐसा समाज मानेगा कि महँगी कार चलाने वाले और साइकिल पर चलने वाले का कल्याण समान रूप से हो रहा है। परिणामस्वरूप विवाद पैदा होगा कि महँगी कार का शौक रखने वाले का खर्च समाज को क्यों उठाना चाहिए? इसी तरह समाज के संसाधनों को एक जुआरी के जोखिम की भरपाई करने का आश्वासन क्यों देना चाहिए, और कार मैकेनिक बनने की इच्छा रखने वाले के प्रशिक्षण पर होने वाला अपेक्षाकृत कम खर्च उठाने पर जोर क्यों नहीं देना चाहिए? जाहिर है कि इस प्रकार के कल्याण की समता न्याय, आत्म-सम्मान और भाईचारे की नैतिक कसौटियों पर खरी नहीं उतर सकती। कई उदारतावादियों ने इस पर आपत्ति की है। वे इसके आधार पर सामाजिक-आर्थिक नीतियाँ बनाने के पक्ष में नहीं हैं।

योग्यता को वितरण का आधार बनाने की तजवीज भी की गयी है। इस प्रस्ताव के मोटे तौर पर तीन पहलू हैं : लोगों को अधिक आबंटन का पुरस्कार सामाजिक उत्पादन में उनके योगदान के मूल्य के आधार पर दिया जाना चाहिए, लोगों को उनके प्रयास के आधार पर पुरस्कृत किया जाना चाहिए, और श्रम करते समय लगने वाली लागत के आधार पर आबंटन तय किया जाना चाहिए। जाहिर है कि वितरणमूलक न्याय का यह प्रस्ताव अपने तीनों आयामों में इस बात पर निर्भर करता है कि लोगों के योगदान, प्रयास और लागत को कैसे नापा जाए।

उपयोगितावाद के संदर्भ से कुछ-कुछ स्पष्ट हो जाता है कि अनुदारवादी, स्वतंत्रतावादी और नियोजितवादी अर्थशास्त्र के समर्थक वितरणमूलक सिद्धांत को नापसंद करते हैं। उनकी निगाह में अमीर से लेकर गरीब को देने की प्रक्रिया न्याय न हो कर वैध तरीकों से हासिल की गयी सम्पत्ति की चोरी है। इसी तरह पब्लिक च्वायस थियरी का दावा है कि वितरणमूलक न्याय का असली लाभ वे समुदाय और हित-समूह उठाते हैं जिनके पास राजनीतिक ताकत आ जाती है। वे सरकारी खर्च और नीतियों को अपने पक्ष में मोड़ लेते हैं और असली ज़रूरतमंदों तक उन्हें नहीं पहुँचाने देते।

वितरणमूलक न्याय के खिलाफ पीओयूएम हायपोथैसिस (प्रॉस्पेक्ट्स ऑफ अपवार्ड मोबिलिटी) भी पेश

की गयी है। इसके मुताबिक औसत से कम आमदनी वाले लोग भी लोक-कल्याण के नाम पर लगाये गये टैक्सों को नापसंद करते हैं। इन टैक्सों से उनकी अपने प्रगति करने की क्षमता पर विपरीत असर पड़ता है।

देखें : अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफ़लातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, उपयोगितावाद, एडमण्ड बर्क, क्रांति, ज्यों जाक रूसो, जॉन लॉक, जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, न्याय, न्याय : नारीवादी आलोचना, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, राजनीति में व्यक्ति की भूमिका, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, प्रतिनिधित्व, प्रगति, प्रगति : आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य, प्रशासन, फ़ासीवाद, फ्रेड्रिख वॉन हायक, बहुसंस्कृतिवाद, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, बुद्धिवाद, माइकेल जोसेफ़ ओकशॉट, माइकिल वाल्ज़र, मिशेल पॉल फ़ूको-1 और 2, यूटोपिया, राजनीतिक और राजनीति, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम-1 और 2, राजनीतिक मनोविज्ञान, राजनीतिक समाजशास्त्र, राज्य-1 और 2, रॉबर्ट नॉज़िक, राज्य-1 और 2, राष्ट्र-राज्य, राष्ट्र : सांस्कृतिक या राजनीतिक, राष्ट्रवाद, राष्ट्रवाद का इतिहास, लोकतंत्र, लोकतंत्र की आलोचनाएँ, व्यक्तिवाद, व्यवहारवाद, विल किमलिका, सविनय अवज्ञा, स्वतंत्रतावाद, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकारियत, सामाजिक समझौता, हेनरी डेविड थोरो।

संदर्भ

1. सेमूल मेलमान (सम्पा.) (1958), *इंस्पेक्शन फ़ॉर डिसआर्मामेंट*, कोलंबिया युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क.
2. अल्वा मिर्डाल (1978), *द गेम ऑफ़ डिसआर्मामेंट : हाउ द यूनाइटेड स्टेट्स एंड रशिया रन द आर्म्स रेस*, पेंथियन, न्यूयॉर्क.

— अभय कुमार दुबे

विदेशी-द्वेष

(Xenophobia)

इस अवधारणा का सीधा ताल्लुक यूनानी इतिहास से है। यूनानी भाषा में जेनोस शब्द का मतलब है 'अजनबी' या 'विदेशी' और फ़ोबोस का मतलब है 'डर'। यूनानी किसी भी तरह के ग़ैर-यूनानियों को विदेशी-द्वेष के तहत अर्धमानव के रूप में चित्रित करते थे। यह प्रवृत्ति यूनानियों के बीच उस ज़माने में पनपी जब उनकी संस्कृति और सभ्यता ने ग़ैर-यूनानी समाजों को प्रभावित करना शुरू किया। इसी दौर में ग़ैर-यूनानियों के साथ होने वाली अन्योन्यक्रिया के कारण उन्हें अपनी संस्कृति को विदेशी प्रभाव से सुरक्षित रखने की ज़रूरत महसूस हुई जिसका परिणाम जेनोफ़ोबिया में

निकला। वैसे तो फ़ोबिया का अर्थ है भीति या डर, पर ज़ेनोफ़ोबिया के संदर्भ में फ़ोबिया भीति से अधिक घृणा का अर्थ देता है। किसी भी तरह से बाहरी, विदेशी, विजातीय या 'अन्य' समझे जाने वाले लोगों के प्रति स्थानीय वासियों की अरुचि और घृणा को विदेशी-द्वेष की संज्ञा दी जाती है। ज़ेनोफ़ोबिया के एहसास के तहत 'अन्य' की श्रेणी में आने वालों को स्थानीय समाज में भागीदारी देने से इनकार किया जाता है। ज़ेनोफ़ोबिया का निशाना बाहर से आने वाले सैलानी नहीं बनते, क्योंकि वे कुछ दिनों बाद लौट जाते हैं। विदेशी-द्वेष के प्रमाण प्राचीन संस्कृतियों में भी मिलते हैं। यूनान का उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है। विदेशी-द्वेष की अनुभूति उन हमलावरों के प्रति भी पैदा होती है जो विजित प्रदेशों में बस कर वहीं के समाज में भागीदारी की कोशिश करते हैं। भारतीय समाज में विदेशी आक्रांताओं को 'म्लेच्छ' के रूप में चिह्नित करने को इसके एक उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है।

मनोविज्ञान ज़ेनोफ़ोबिया को 'पोस्ट ट्रॉमेटिक डिस्ट्रेस डिसऑर्डर' के रूप में परिभाषित करता है। इसके लिए दो उदाहरण दिये जाते हैं : एक गौरांग महिला पर एक काला व्यक्ति हमला करता है जिसके कारण उसकी रीढ़ की हड्डी में चोट लग जाती है। इसके बाद वह महिला सड़क पर जब भी किसी काले व्यक्ति को देखती है उस पर घबराहट का दौरा पड़ता है। वह वहीं फुटपाथ पर गिर कर गुड़ी-मुड़ी हो जाती है। वियतनाम युद्ध में लड़ने गया एक सिपाही वियेतकांग गुरिल्लों के हाथों अपने एक साथी की निर्मम हत्या देखता है। इसके बाद वह जब भी किसी मंगोल नस्ल के व्यक्ति को देखता है तो उसे नफ़रत के दौरे पड़ने लगते हैं। दोनों ही उदाहरणों में विदेशियों के प्रति डर और नफ़रत की अनुभूति किसी भी तरह से तर्कसंगत नहीं है।

आधुनिक युग में आबादियों द्वारा बड़े पैमाने पर एक भौगोलिक और सांस्कृतिक क्षेत्र से दूसरे सांस्कृतिक क्षेत्र में जीवन-अवसरों की तलाश में आवाजाही करने और सम्भावना वाले इलाकों में स्थायी रूप से बस जाने की प्रतिक्रिया विदेशी-द्वेष के रूप में होती है। विदेशी-द्वेष किसी न किसी रूप में समुदायों और समाजों के मानस का अंग रहा है। इस लिहाज़ से यह उदारतावाद और समाजवाद जैसी सार्वभौम विचारधाराओं के लिए हमेशा चुनौती की तरह उभरता है। पिछली दो सौ सालों में उपनिवेशवाद, नस्लवाद और राष्ट्रवाद की राजनीतिक परिघटनाओं ने भी ज़ेनोफ़ोबिया को बल दिया है। जिन समाजों में पारम्परिक संरचनाएँ भंग हो जाती हैं, वहाँ विदेशी-द्वेष की प्रवृत्तियाँ आसानी से पनपने लगती हैं। जर्मनी में 1918 के बाद और पूर्वी युरोप में नब्बे के दशक में कम्युनिज़म के पराभव के बाद ज़ेनोफ़ोबिया के प्रभाव की शिनाख़्त की गयी थी।

ज़ेनोफ़ोबिया की संरचनाओं को समझने के लिए ज़रूरी है कि उससे मिलती-जुलती समझी जाने वाली अन्य संरचनाओं से उसके फ़र्क की शिनाख़्त कर ली जाए। फ़्रांसीसी भाषा के शब्द शावनिज़म और अंग्रेज़ी के शब्द जिंगोइज़म अत्यधिक देशभक्ति या राष्ट्रीय गौरव की उग्र भावना के द्योतक हैं। इस लिहाज़ से इन नकारात्मक संरचनाओं के पास कुछ सकारात्मक आधार भी माना जा सकता है। पर विदेशी-द्वेष पूरी तरह नकारात्मक है। दूसरी तरफ़ ज़ेनोसेंट्रिज़म ज़ेनोफ़ोबिया का विलोम है। ज़ेनोसेंट्रिज़म (विदेश-केंद्रितता) सांस्कृतिक आधार पर बनी हुई एक ऐसी प्रवृत्ति है जिसके तहत लोग विदेशी संस्कृतियों को अपनी संस्कृति के मुकाबले अधिक महत्त्व देने लगते हैं। विदेश-केंद्रितता की धारणा लोगों में इस यक्रीन को जन्म देती है कि जो कुछ विदेशी है वही बेहतर है। अपने समाज, जीवन-शैली, उत्पाद, विचार और प्रौद्योगिकी को कमतर समझा जाने लगता है। तीसरी दुनिया के विकासशील देशों में अक्सर मध्यवर्ग के कुछ बेचैन तत्त्व अगर ज़ेनोफ़ोबिया के शिकार रहते हैं तो कुछ दूसरे तत्त्व ज़ेनोसेंट्रिज़म के। इसी तरह विदेशी-द्वेष नस्लवाद भी नहीं है। अगर कोई भिन्न नस्ल का है, तो ज़रूरी नहीं कि उसकी गिनती विजातीय के रूप में की जाए। नस्लवादी घृणा की संरचना विदेशी-द्वेष से अलग होती है। एक ही नस्ल के लोग एक-दूसरे के प्रति विदेशी-द्वेष से पीड़ित हो सकते हैं। मसलन, भारत में महाराष्ट्रियायी और उत्तर भारतीयों में प्रजातीय तौर पर कोई फ़र्क नहीं है। पर उत्तर भारतीयों के खिलाफ़ मुम्बई में विदेशी-द्वेष की स्पष्ट झलक देने वाली मुहिमें चलायी जाती रहती हैं।

संयुक्त राज्य अमेरिका के इतिहास में विदेशी-द्वेष के प्रचुर उदाहरण उपलब्ध हैं। चूँकि अमेरिकी समाज की संरचना ही तरह-तरह के आप्रवासी समूहों से हुई है इसलिए वहाँ अट्टारहवीं सदी में आयरलैण्डवासियों के खिलाफ़, उन्नीसवीं सदी में एशियावासियों के खिलाफ़, बीसवीं सदी में लातीनी अमेरिका के वासियों और जापानियों के खिलाफ़ विदेशी-द्वेष भरी मुहिमें चलती रही हैं।

विदेशी-द्वेष का सबसे घिनौना उदाहरण युरोप का है जहाँ यहूदियों को इस अनुभूति के तहत बुरी तरह सताया गया। एंटी-सेमेटिज़म के आग्रहों के कारण उन्हें मानवाधिकारों से वंचित किया गया और फ़्रांसिस्टों ने उन्हें जाति-संहार का शिकार भी बनाया जिसे 'होलोकास्ट' के नाम से जाना जाता है। 1989 में बर्लिन दीवार के गिरने के बाद भी जर्मनी में विदेशी-द्वेष के कई प्रकरण हो चुके हैं। आप्रवासी समूहों को जर्मनों की तरफ़ से हिंसक हमलों का सामना करना पड़ा है। ऑस्ट्रेलिया में भारत से पढ़ाई करने जाने वाले छात्र भी विदेशी-द्वेष से फ़ूटने वाली हिंसा का शिकार बने हैं।

उपनिवेशवाद से पीड़ित समाजों के लोग उपनिवेशित करने वालों के प्रति विदेशी-द्वेष की अनुभूतियाँ बना लेते हैं। भारत में गोरों को फ़िरंगी (फ़िरंग रोग से ग्रस्त) कहना इसका प्रमाण है। उन्नीसवीं सदी के शुरू में लातीनी अमेरिका में स्पैनियों और पुर्तगालियों के प्रति घृणा पायी जाती थी। इस भावना का उपयोग राष्ट्रीय एकीकरण और नये राष्ट्रों में राष्ट्रवाद की भावना सुदृढ़ करने में भी किया गया। मैक्सिको में स्पैनिशियों पर दंगाई भीड़ हमले करती रही है, उनकी सम्पत्ति लूटी जाती रही है। कई जगह पूर्व उपनिवेशों से स्पेनियों को निष्कासित भी किया गया है। ब्राजील में पुर्तगालियों को स्थानीय वासियों द्वारा सताये जाने के प्रकरण प्रकाश में आये हैं। खास तौर से आजादी मिलने के बाद पहले दशक में पुर्तगालियों के राजनीतिक प्रभाव से पैदा होने वाली चिढ़ की इस विदेशी-द्वेष में भूमिका थी। उन्नीसवीं सदी और बीसवीं सदी के शुरुआती सालों में पुर्तगाल से ब्राजील की तरफ़ होने वाले सतत आब्रजन ने भी इस विदेशी-द्वेष को बढ़ावा दिया था।

देखें : अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफ़लातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, उपयोगितावाद, एडमण्ड बर्क, क्रांति, ज्यॉं जाक रूसो, जॉन लॉक, जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, न्याय, न्याय : नारीवादी आलोचना, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, राजनीति में व्यक्ति की भूमिका, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, प्रतिनिधित्व, प्रगति, प्रगति : आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य, प्रशासन, फ़्रांसीवाद, फ़्रेड्रिख वॉन हायक, बहुसंस्कृतिवाद, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, बुद्धिवाद, माइकेल जोसेफ़ ओकशाट, माइकिल वाल्ज़र, मिशेल पॉल फ़ूको-1 और 2, यूटोपिया, राजनीतिक और राजनीति, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम-1 और 2, राजनीतिक मनोविज्ञान, राजनीतिक समाजशास्त्र, राज्य-1 और 2, रॉबर्ट नॉज़िक, राज्य-1 और 2, राष्ट्र-राज्य, राष्ट्र : सांस्कृतिक या राजनीतिक, राष्ट्रवाद, राष्ट्रवाद का इतिहास, लोकतंत्र, लोकतंत्र की आलोचनाएँ, व्यक्तिवाद, व्यवहारवाद, विल किमलिका, वितरणमूलक न्याय, सविनय अवज्ञा, स्वतंत्रतावाद, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकारियत, सामाजिक समझौता, हेनरी डेविड थोरो।

संदर्भ

1. डेल टी. नोबेल (1996), *अमेरिका फ़ॉर द अमेरिकंस: द नेटिविस्ट मूवमेंट इन द यूनाइटेड स्टेट्स*, ट्वाइन, न्यूयॉर्क, 1996
2. दीपंकर गुप्ता (1982), *नेटिविज़म इन मेट्रोपोलिस*, मनोहर पब्लिशर्स, नयी दिल्ली.
3. जॉन चार्ल्स चेस्टीन (2000), *बोर्न इन ब्लड एंड फ़ायर : अ कंसाइज़ हिस्ट्री ऑफ़ लैटिन अमेरिका*, डब्ल्यू.डब्ल्यू. नॉर्टन, न्यूयॉर्क, 2000

— अभय कुमार दुबे

विद्याबेन शाह

(Vidyaben Shah)

विद्याबेन शाह (1922-) को बाल कल्याण और स्त्री-अधिकारों के क्षेत्र में अभिनव प्रयोगों एवं संस्थानीकरण में अपने अनूठे योगदान के लिए जाना जाता है। बहिनजी के सम्बोधन से परिचित विद्याबेन ने परिवार कल्याण, नागरिक प्रशासन, ललित कला और संस्कृति, विकलांग, वरिष्ठ नागरिकों के कल्याण, पुनर्वास तथा राहत कार्य के लिए कार्यरत संगठनों के साथ आजीवन काम किया। उन्होंने सरकारी व निजी संस्थाओं और व्यक्तियों के बीच पारस्परिक सहयोग की एक ऐसी व्यवस्था बनायी जिससे पूरे देश में सामाजिक कार्यों के लिए नेतृत्व की एक प्रणाली विकसित की जा सके। 1948 में राजकोट में उन्हें बाल न्यायालय का मानद मजिस्ट्रेट नियुक्त किया गया। इस पद पर उन्होंने अगले आठ साल काम किया। इस कार्यकाल के दौरान उन्होंने बाल अपराधियों के प्रति एक सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण विकसित करके इन बच्चों के पुनर्वास और समुचित देखभाल के बारे में गम्भीरता से काम करना शुरू किया। इसका परिणाम विद्याबेन द्वारा 1958 में राजकोट में भारत के पहले बाल भवन की स्थापना के रूप में निकला। यह भारत में बाल भवन आंदोलन का अग्रदूत था।

1956 में जब मनुभाई शाह को केंद्रीय मंत्रिमण्डल में स्थान मिला तो विद्याबेन भी उनके साथ नयी दिल्ली आयीं जहाँ उनके सामाजिक कार्यों का और विस्तार हुआ। 1954 में इंदिरा गाँधी ने नयी दिल्ली में असहाय, अनाथ और उपेक्षित बच्चों को समुचित सुरक्षा व देखभाल के उद्देश्य से बाल सहयोग संस्था स्थापित की थी। भारत के प्रधानमंत्री इस संस्था के पदेन संरक्षक बनाये गये थे। नयी दिल्ली आने के साथ ही विद्याबेन शाह बाल सहयोग से जुड़ गयीं। इस संस्था का मुख्य कार्य उन किशोर अपराधियों का पुनर्वास था जो नयी दिल्ली के गरीब इलाकों से आते थे और अस्वस्थ सामाजिक परिवेश और अशांत पारिवारिक वातावरण के कारण अपराधी बनते जा रहे थे। बाल सहयोग ऐसे बच्चों को एक नया वातावरण देने के उद्देश्य से बनाये गये एक घर की तरह था जहाँ हर बच्चे को सुरक्षित बचपन देकर उनकी बौद्धिक, व्यावहारिक और आध्यात्मिक क्षमताओं को विकसित किया जाना था ताकि वे एक सार्थक वयस्क जीवन जीते हुए राष्ट्र-निर्माण में योगदान कर सकें। विद्याबेन की देख-रेख में न केवल बाल सहयोग संस्था का विकास हुआ बल्कि इसकी गतिविधियों से अनेक बच्चों को अपना जीवन सँवरने का अवसर मिला। बाल कल्याण में विद्याबेन के योगदान को देखते हुए उन्हें भारतीय बाल कल्याण परिषद का

अध्यक्ष बनया गया और इस पद पर वे करीब बारह साल तक रहीं। अपने कार्यकाल में उन्होंने भारतीय बाल कल्याण परिषद में कई नयी योजनाओं का क्रियान्वयन किया और अनेक अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर भारत का प्रतिनिधित्व भी किया। विद्याबेन ने भारतीय बाल कल्याण परिषद को बच्चों की देखभाल और संरक्षण के क्षेत्र में नवाचार के लिए एक केंद्र के रूप में विकसित करते हुए भारत के राष्ट्रीय कानूनों में बच्चों की गरिमा और अधिकारों को शामिल करने की वकालत की।

1960 में विद्याबेन शाह नयी दिल्ली गुजराती समाज की अध्यक्ष बनीं। उनके नेतृत्व में इस संस्था ने कई शैक्षणिक, सांस्कृतिक व सामाजिक महत्त्व के कार्य किये। अपने अध्यक्षीय कार्यकाल उन्होंने एक उच्च विद्यालय और एक अतिथि गृह का निर्माण किया। इस अतिथि गृह में बहुत कम शुल्क पर नयी दिल्ली में बाहर से आने वाले ज़रूरतमंद लोगों और छात्रों के रहने की व्यवस्था है। नयी दिल्ली में सांस्कृतिक गतिविधियों को बढ़ावा देने के लिए उन्होंने गाँधी सांस्कृतिक केंद्र भी स्थापित किया।

1973 में जब वे नयी दिल्ली महानगर पालिका की उपाध्यक्ष थीं तो उन्होंने स्कूली शिक्षा के क्षेत्र में एक नया प्रयोग किया। सरकारी विद्यालयों में भी निजी स्कूलों जैसी पढ़ाई व अन्य सुविधाओं के लिए उन्होंने नवयुग शैक्षणिक संस्था की स्थापना की ताकि आर्थिक रूप से कमजोर बच्चों को भी उच्च स्तरीय शिक्षा दी जा सके। पहला नवयुग विद्यालय नयी दिल्ली के सरोजिनी नगर में शुरू किया गया और इसे स्कूल फ़ॉर गिफ्टेड चिल्ड्रेन की संज्ञा दी गयी। इस स्कूल में आर्थिक रूप से पिछड़े पर प्रतिभा सम्पन्न बच्चों को प्रवेश मिला। कुछ ही समय में नयी दिल्ली में ग्यारह नवयुग विद्यालय स्थापित चलने लगे। संगीत, नृत्य और चित्रकला के लिए नयी दिल्ली के विख्यात त्रिवेणी कला संगम के निर्माण हेतु कोष जुटाने में भी विद्याबेन शाह ने अग्रणी भूमिका निभायी। इसी तरह नयी दिल्ली के अनूठे सरदार पटेल विद्यालय के संचालन में भी विद्याबेन शाह का प्रमुख हाथ था। सरदार पटेल विद्यालय की सबसे अनोखी बात उसमें शिक्षण का माध्यम है। नर्सरी से पाँचवीं कक्षा तक पढ़ाने का माध्यम हिंदी है, जबकि छठी से लेकर बारहवीं कक्षा में शिक्षण का माध्यम अंग्रेज़ी है। कक्षा छह और सात के बीच के विद्यार्थियों को उर्दू, तमिल, बंगाली और गुजराती जैसी चार क्षेत्रीय भाषाओं में से एक भाषा को जानने का अवसर भी मिलता है। भारतीय विद्या भवन के नयी दिल्ली केंद्र की स्थापना में भी विद्याबेन शाह ने भरपूर योगदान दिया।

दो साल बाद वे नयी दिल्ली महानगर पालिका की

स्त्री अध्यक्ष मनोनीत हुईं। इस पद पर आने वाले वे पहली ग़ैरसरकारी व्यक्ति थीं। अपने कार्यकाल में उन्होंने नयी दिल्ली में आर्थिक रूप से कमजोर वर्गों, विशेष रूप से गंदी बस्ती के बच्चों और स्त्रियों की उन्नति के लिए कई परियोजनाओं की शुरुआत की। इन परियोजनाओं में बेसहारा बच्चों के लिए घर, परित्यक्त बच्चों के लिए घर, कामकाजी स्त्रियों के लिए हॉस्टल और मानसिक रूप से विकलांग लोगों के लिए पुनर्वास केंद्र भी शामिल हैं। 1995 में विद्याबेन शाह को केंद्रीय समाज कल्याण बोर्ड का अध्यक्ष मनोनीत किया गया। अपने तीन साल के कार्यकाल में उन्होंने इस संस्था की



विद्याबेन शाह (1922-)

हुलिया दुरुस्त करने के लिए कई प्रयास किये। उन्होंने बोर्ड को और व्यापक बनाने के लिए परिवार परामर्श केंद्र, कामकाजी स्त्रियों के लिए हॉस्टल, स्त्रियों के लिए व्यावसायिक प्रशिक्षण तथा शिशुओं के देखभाल केंद्र जैसी नयी सुविधाओं की शुरुआत की। उनका प्रयास था कि परिवार परामर्श केंद्र तथा कामकाजी स्त्रियों के लिए छात्रावास और हॉस्टल जैसी सुविधाएँ भारत के हर ज़िले में उपलब्ध हों।

अपनी बढ़ती उम्र के बावजूद विद्याबेन शाह सामाजिक सरोकार के कार्यों में आज भी पूरी तरह से सक्रिय हैं। 2007 में उन्हें सामाजिक न्याय और समान अधिकारों के मुद्दे पर विचार करने के लिए गठित संसद की स्थायी समिति में सदस्यता के लिए आमंत्रित किया गया। भारतीय संसद ने बुजुर्ग माता-पिता और वरिष्ठ नागरिकों के कल्याण और देखभाल संबंधित विधेयक पर सलाह हेतु विद्याबेन शाह को आमंत्रित किया। वे वरिष्ठ नागरिक सेवा फ़ोरम की अध्यक्ष भी रही हैं और वरिष्ठ नागरिकों के अधिकारों व सुविधाओं के लिए आज भी कार्यरत हैं।

गुजरात के एक छोटे से कस्बे जेतपुर में 7 नवम्बर, 1922 को शिक्षाविद ब्रजलाल शाह और चम्पाबेन के घर विद्याबेन का जन्म हुआ। वे जब सन् 1942 में जब स्नातक की परीक्षा दे रही थीं तभी भारत छोड़ो आंदोलन का सूत्रपात हुआ। जागरूक और देशभक्त विद्याबेन इस आन्दोलन से जुड़ गयीं। 1940 में उनकी मुलाक़ात एक अत्यंत प्रतिभाशाली कैमिकल इंजिनियर और स्वतंत्रता सेनानी मनुभाई शाह से हुई। दोनों का विवाह 1945 में ही हो पाया क्योंकि इस दौर में मनुभाई शाह का अधिकतर समय स्वतंत्रता आंदोलन में भाग लेने के कारण अंग्रेज़ी सरकार के कारावास में बीता। स्वतंत्र भारत में मनुभाई शाह जवाहरलाल नेहरू, लाल बहादुर शास्त्री और इंदिरा गाँधी की सरकारों में कैबिनेट मंत्री रहे। विद्याबेन ने राष्ट्रीय आपदाओं में राहत प्रदान करने में अग्रणी

भूमिका निभायी है। सत्तर के दशक में बिहार में बाढ़ और आंध्र प्रदेश के चक्रवात-पीड़ित लोगों की मदद के लिए उन्होंने धन-संग्रह का व्यापक अभियान चलाया। 1984 में भारत की तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गाँधी की हत्या के बाद नयी दिल्ली में भड़की हिंसा और आगजनी रोकने के लिए उन्होंने शांति यात्रा आयोजित की। 2002 में गुजरात में गोधरा दंगों के बाद अपनी बढ़ती उम्र के बावजूद विद्याबेन ने गुजरात के विभिन्न जिलों में शांति और साम्प्रदायिक सद्भाव की स्थापना हेतु यात्राएँ कीं।

देखें : अरुणा आसफ़ अली, आनंदीबाई जोशी, उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन में स्त्री-नेतृत्व-1 और 2, कमला देवी चट्टोपाध्याय, दलित-नारीवाद, पण्डिता रमाबाई सरस्वती, महादेवी वर्मा, दुर्गाबाई देशमुख, रमाबाई रानाडे, विजय लक्ष्मी पण्डित, संतोष कुमारी देवी।

संदर्भ

1. विजय कौशिक और बेला रानी शर्मा (1998), *इनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ ह्यूमन राइट्स ऐंड डिवेलपमेंट : वर्ल्ड डिवेलपमेंट ऐंड वर्ल्ड डिवेलपमेंट*, सरूप ऐंड संज, नयी दिल्ली।
2. सिम्मी जैन (2003), *इनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ वुमॅन थ्रू द एजेज़ : पीरियड ऑफ़ फ्रीडम स्ट्रगल*, कल्पज पब्लिकेशंस, दिल्ली।
3. 'बाल कल्याणासाठी समर्पित जीवन', दैनिक एक्य, 1 फरवरी, 2013, एचटीटीपी://डब्ल्यूडब्ल्यूडब्ल्यू.दैनिक एक्य.कॉम/20130201/5216949982722910574.एचटीए, 10 अगस्त, 2013 को देखा।

— रवि दत्त वाजपेयी

विनायक दामोदर सावरकर

(Vinayak Damodar Savarkar)

हिंदुत्व के राजनीतिक दर्शन का सूत्रीकरण करने वाले विनायक दामोदर सावरकर (1883-1966) को भारत में हिंदू-राष्ट्रवादी आंदोलन के वैचारिक पितामह की हैसियत प्राप्त है। जुझारू स्वाधीनता सेनानी, क्रांतिकारी, राजनेता, मराठी के सिद्ध रचनाकार, ओजस्वी वक्ता और अपने ब्रिटिश विरोधी कारनामों के कारण 'वीर' की उपाधि से विभूषित सावरकर ऐसे पहले सिद्धांतकार थे जिन्होंने 1857 के सिपाही विद्रोह की भारत के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के रूप में शिनाख्त की। वे कांग्रेस और गाँधी के नेतृत्व में चले उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन से कभी सहमत नहीं रहे। सावरकर द्वारा प्रवर्तित सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का हिंदूवादी संस्करण अगर

बीसवीं सदी के पूर्वार्ध में लोकप्रिय ज़मीन हासिल कर लेता तो आज के भारत की शकल-सूरत एकदम अलग होती। उनकी परिकल्पना में मुसलमानों के राजनीतिक प्रतिनिधियों द्वारा की जाने वाली समकक्षता की दावेदारी के लिए कोई जगह नहीं थी। हिंदुत्व के विचार का लक्ष्य कांग्रेस द्वारा प्रतिपादित भू-क्षेत्रीय राष्ट्रवाद की अवधारणा खारिज करते हुए निचली जातियों द्वारा की जाने वाली माँगों को नज़रअंदाज़ करके हिंदू-समाज की राजनीतिक एकता हासिल करने का था। सावरकर अपने जीवन में सफल नहीं हुए, लेकिन उनकी वैचारिक प्रेरणाओं के आधार पर गठित राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और उसके संगठनों ने लोकतांत्रिक राजनीति के दायरे में एक हद तक कामयाबी अवश्य हासिल की है।

प्रशिक्षित इतिहासकार न होने के बावजूद सावरकर ने मराठी में इतिहास की तीन महत्वपूर्ण पुस्तकें रचीं जो अंग्रेज़ी में अनूदित हो कर बहुचर्चित हुईं। 1909 में पहली किताब *द इण्डियन वार ऑफ़ इण्डिपेंडेंस 1857* लंदन में प्रकाशित हुई जिसे अंग्रेज़ों ने तुरंत प्रतिबंधित कर दिया। इस समय तक सावरकर हिंदू-एकता के पैरोकार नहीं बने थे। उपनिवेशीकरण के खिलाफ़ सभी भारतीय समुदायों की एकता की वकालत करने वाले इस ग्रंथ को मादाम भीखाजी कामा के प्रयासों से हालैण्ड, फ्रांस और जर्मनी में प्रकाशित किया गया। विद्रोहियों के नेता मौलवी अहमद शाह की प्रशंसा करते हुए सावरकर ने इस पुस्तक में लिखा था कि इस बहादुर मुसलमान का जीवन बताता है कि इस्लाम में गहरी आस्था और भारत की मिट्टी के प्रति समर्पण और प्रेम के बीच कोई अंतर्विरोध नहीं है। एक मुसलमान अपनी इस मातृभूमि के लिए जान देने में गर्व का अनुभव कर सकता है।

लेकिन सावरकर के ये विचार 1920 तक बदल चुके थे। इस परिवर्तन की पृष्ठभूमि में आम्बेडकर के नेतृत्व में निरंतर लोकप्रिय हो रही निचली जातियों की दावेदारियाँ थीं जिनसे महाराष्ट्र की ज़मीन पर ब्राह्मणों का सामाजिक वर्चस्व संकटग्रस्त हो गया था। दूसरे, आर्य समाज आंदोलन द्वारा चलायी जाने वाली शुद्धि और संगठन की मुहिम ने महाराष्ट्र में भी हिंदू पुनरुत्थानवाद के लिए माहौल तैयार कर दिया था। तीसरे, कांग्रेस-खिलाफ़त गठजोड़ की नाकामी और गाँधी द्वारा असहयोग आंदोलन वापस लिए जाने के बाद देश में जगह-जगह साम्प्रदायिक दंगे फूट पड़े थे।

सावरकर की बदली हुई समझ की ठोस अभिव्यक्ति उनकी जेल में लिखी गयी 1923 की पुस्तक *हिंदुत्व : हू इज़ अ हिंदू?* में देखी जा सकती है। भारत को सभी समुदायों के एकताबद्ध राष्ट्र के बजाय केवल हिंदुओं के राष्ट्र की तरह पेश करने वाली यह पुस्तक हिंदू और हिंदूपन को ग़ैर-धार्मिक और कर्मकाण्डीय संदर्भों में परिभाषित करते हुए सांस्कृतिक और राजनीतिक अस्मिता प्रदान करती है। हिंदू-



विनायक दामोदर सावरकर (1883-1966)

राष्ट्रवादियों को गहरायी से प्रभावित करने वाली इस पुस्तक के मुताबिक हिंदू वह है जो भारत की धरती को अपनी पितृभूमि के साथ-साथ पुण्यभूमि भी मानता हो। 'हिंदू पॉल्टी' या हिंदू-राजतंत्र के तीन बुनियादी आधारों की व्याख्या करते हुए उन्होंने सबसे पहले दिखाया कि धर्म राष्ट्रीयता का निर्णायक लक्षण है अर्थात् धर्म बदलने का मतलब है राष्ट्रीयता बदल लेना। दूसरे, सावरकर ने जाति, धर्म और भाषा जैसे विभेदों को नज़रअंदाज़ करते हुए सिक्खों, बौद्धों, लिंगायतों और जैनों को भी हिंदू दायरे में बेहिचक शामिल करके हिंदू दायरे का विस्तार कर दिया। तीसरे, उन्होंने कहा कि मुसलमान, यहूदी और ईसाई इस धरती को अपनी पितृभूमि तो कह सकते हैं पर यह उनकी पुण्यभूमि नहीं है इसलिए वे भारतीय राष्ट्र के अनिवार्य अंग नहीं बन सकते।

सावरकर के अनुसार राष्ट्रवाद को बहुसंख्यक समुदाय के राष्ट्रीय सम्प्रदायवाद के रूप में ही परिभाषित किया जा सकता है। बहुसंख्यकों के इस राष्ट्र में धार्मिक अल्पसंख्यकों के साथ सत्ता में साझेदारी सम्भव थी, पर उसकी कुछ शर्तें थीं। सावरकर का कहना था कि एकताबद्ध भारत की रचना में अल्पसंख्यकों का सहयोग लेने के बदले हिंदू उन्हें विधायिकाओं, नौकरियों और नागरिक-सार्वजनिक जीवन में समान अधिकार और प्रतिनिधित्व देने के लिए तैयार हो सकते हैं, बशर्ते वे किसी तरह की विशेष सुविधा या प्रोत्साहन की

माँग न करें। अल्पसंख्यक धार्मिक और सांस्कृतिक सुरक्षा के अधिकारों का उपभोग कर सकते हैं, पर उन्हें हिंदुओं के खिलाफ किसी भी तरह का आक्रामक रवैया अपनाने से बाज़ आना होगा।

अगले साल 1924 में इसी राजनीतिक विचारधारा के आधार पर सावरकर ने *सिक्स ग्लोरियस चैप्टर्स ऑफ़ इण्डियन हिस्ट्री* की रचना की। इस पुस्तक ने सिक्खों को मुसलमानों द्वारा किये जाने वाले धार्मिक उत्पीड़न के मुकाबले हिंदूवाद के पराक्रमी रक्षक के रूप में पेश किया; और बौद्धों पर आरोप लगाया कि उनकी ग़ैरवफ़ादारी की वजह से हिंदू-राष्ट्र की पराजय हुई। इस पुस्तक के 14 अध्यायों में सावरकर ने हिंदुओं और मुसलमानों के बीच होने वाले महायुद्ध का वर्णन किया है। उनका कहना है कि यूनानी, शकों और हूणों जैसे हमलावरों के विपरीत मुसलमानों की महत्वाकांक्षा केवल राजनीतिक प्रभुत्व की ही नहीं थी, बल्कि वे तो धार्मिक और सांस्कृतिक प्रभुत्व भी चाहते थे। अपनी अगली पुस्तक *द मराठा मूवमेंट* में सावरकर ने शिवाजी की हिंदू पदपादशाही का भव्य चित्र खींचा।

इन दोनों पुस्तकों में सावरकर ने मध्ययुगीन भारतीय इतिहास की तमाम पेचीदगियों को दरकिनार करते हुए हिंदू-राष्ट्रवादियों को सुविधाजनक लगने वाला दावा किया कि हिंदू मुसलमानों के खिलाफ़ सात सौ साल से एक स्वायत्त हिंदू-राष्ट्र बनाने के लिए लड़ रहे हैं। हिंदुओं और मुसलमानों को 'हम' और 'वे' में बाँट कर उन्होंने एक आंतरिक दुश्मन की रचना की। सावरकर का तर्क था कि इस शत्रु को परास्त करने के लिए जिस तरह के पुरुषत्व की आवश्यकता है वह हिंदुओं को संगठन और फ़ौजीकरण की प्रक्रिया के जरिये विकसित करना होगा। मर्दानगी का यह विमर्श सीधे-सीधे गाँधी की राजनीति के मुकाबले खड़ा हुआ था। वे गाँधी की अहिंसा को हिंदू समुदाय को पुंसत्वहीन बनाने का पर्याय मानते थे।

सावरकर का जन्म महाराष्ट्र में नासिक के पास स्थित भागुर गाँव के चितपावन ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनके माँ-बाप बचपन में ही गुज़र गये और बड़े भाई गणेश की देख-रेख में उनका लालन-पालन हुआ। युवावस्था में ही सावरकर ने मित्र मेला संगठन की स्थापना की। सावरकर कांग्रेस के भीतर प्रभावी गरम दल के नेताओं बाल गंगाधर तिलक, विपिन चंद्र पाल और लाला लाजपत राय के विचारों से प्रभावित थे। 1902 में उन्होंने पुणे के फ़र्ग्युसन कॉलेज में दाखिला लिया और उपनिवेशवाद विरोधी राजनीति में भाग लेने लगे। कॉलेज में ही उन्होंने छात्रों और दोस्तों की मदद से अभिनव भारत नामक राजनीतिक संगठन बनाया। उनके क्रांतिकारी जोश से प्रभावित हो कर तिलक और राष्ट्रवादी नेता श्यामजी कृष्ण वर्मा ने उन्हें क़ानून की पढ़ाई करने के लिए इंग्लैण्ड भेजने के लिए छात्रवृत्ति दिलवायी।

इंग्लैण्ड के ग्रेज़ इन लॉ कॉलेज में पढ़ते हुए सावरकर ने इण्डिया हाउस की गतिविधियों में भाग लेना शुरू किया और फ्री इण्डिया सोसाइटी की स्थापना की। इसी दौरान उन्होंने *द इण्डियन वार ऑफ़ इण्डिपेंडेंस 1857* की रचना की। जब उनके मित्र और अनुयायी मदनलाल धींगरा ने ब्रिटिश सांसद कर्जन वायली की हत्या की, तो उन्होंने धींगरा के कृत्य की भर्त्सना करने वालों के साथ जम कर मोर्चा लिया।

राजद्रोह के आरोप में अपनी गिरफ्तारी से बचने के लिए सावरकर ने पेरिस में मादाम भीखाजी कामा के घर में शरण ली, पर उन्हें 13 मार्च, 1910 को गिरफ्तार कर लिया गया। पानी के जहाज़ एस.एस. मोरिया से भारत ले जाते समय सावरकर एक पोर्टहोल से निकल भागे और लम्बी दूरी तक तैर कर किनारे पहुँचे। पर योजना के मुताबिक उनके सहयोगी वहाँ समय पर पहुँचने में नाकाम रहे इसके कारण उन्हें फिर से गिरफ्तार कर लिया गया। बंबई के यरवदा जेल में कैद करके उनके ऊपर मुकद्दमा चलाया गया। अंग्रेज़ों ने उन्हें पचास साल की सज़ा दी और अंडमान स्थित सेल्युलर जेल में काला पानी भुगतने के लिए भेज दिया। जेल जीवन बहुत कठोर था। उन्हें लकड़ी काटनी पड़ती और कोल्हू में जोता जाता। दूसरे कैदियों से बात करने की भी मनाही थी। तरह-तरह की बदसलूकियों और यातनाएँ झेलते हुए सावरकर ने खराब स्वास्थ्य की दलील देते हुए सज़ा माफ़ करने की अपील की। 1920 में गाँधी, विठ्ठलभाई पटेल और तिलक ने भी बाहर से उनकी रिहाई के लिए दबाव बनाया। लेकिन अंग्रेज़ों ने उन्हें हिंसा छोड़ने के शपथ-पत्र पर दस्तख़त कराये बिना नहीं छोड़ा। जेल से रिहाई के बावजूद सावरकर पर कई पाबंदियाँ लगी रहीं।

बीस के दशक के मध्य में उन्होंने डॉ. हेडगेवार को राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना करने की प्रेरणा दी। 1930 में वे हिंदू महासभा के अध्यक्ष बने। उन्होंने तिलक के शिवाजी महोत्सव और गणेश उत्सव फिर से शुरू किये, 'राजनीति का हिंदूकरण, हिंदुओं का फ़ौजीकरण' जैसा नारा दिया और अंग्रेज़ों के साथ सहयोग की नीति अपनाते हुए विधान परिषदों के चुनावों में भाग लिया। भारत विभाजन के खिलाफ़ सावरकर द्वारा कांग्रेस-मुसलिम लीग की वार्ताओं के खिलाफ़ महासभा की तरफ़ से सक्रिय प्रतिरोध का आयोजन किया गया। 1948 में हिंदू महासभा के सदस्य नाथूराम गोडसे द्वारा गाँधी की हत्या की साज़िश में शामिल होने के आरोप में सावरकर को गिरफ्तार किया गया। उन्होंने अपना मुकद्दमा ख़ुद लड़ा और सरकारी गवाह के बयान के बावजूद मज़बूत सबूतों के अभाव में उन्हें छोड़ दिया गया। लेकिन गाँधी की हत्या के इलज़ाम में शामिल होने के कारण सावरकर को जनरोष का सामना भी करना पड़ा और बंबई में उनके घर पर पत्थर फेंके गये।

आज़ादी के बाद हिंदू महासभा का प्रभाव और सदस्यता घटती चली गयी। धीरे-धीरे सावरकर की गतिविधियाँ मौक़े-ब-मौक़े व्याख्यायन देने और अपने लेखन के प्रकाशन तक सीमित रह गयीं। 1966 में 'देह-त्याग' का निश्चय करके उन्होंने दवा, भोजन और पानी छोड़ दिया और अंतिम साँस ली।

देखें : केशवराव बलिराम हेडगेवार, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, भारतीय जनता पार्टी-1 और 2, माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर, मुसलिम राजनीतिक विचार, रामजन्मभूमि आंदोलन-1 से 4 तक, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, विवेकानंद, हिंदुत्व।

संदर्भ

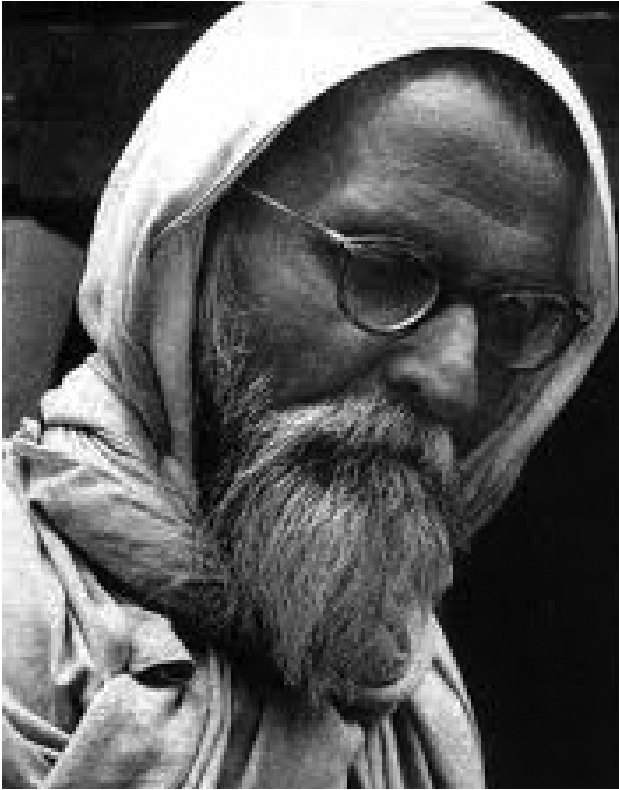
1. प्रभा दीक्षित (1986), 'दि आइडियॉलॉजी ऑफ़ हिंदू नेशनलिज़म', थॉमस पेंथम और केनेथ एल. ड्यूश (सम्पा.), *पॉलिटिकल थॉट इन मॉडर्न इण्डिया*, सेज, नयी दिल्ली.
2. मेघा कुमार (2006), 'हिस्ट्री ऐंड जेंडर इन सावरकरस नेशनलिस्ट राइटिंग्स', *सोशल साइंटिस्ट*, खण्ड 34, अंक 11/12.
3. जे.डी. जोगलेकर (1989), 'वीर सावरकर : प्रोफ़ाइल ऑफ़ अ प्रोफ़ैट', *वीर सावरकर : क्रमोमोशन वोल्यूम*, बम्बई.
4. वी.डी. सावरकर (1947), *इण्डियन वार ऑफ़ इण्डिपेंडेंस 1857*, लंदन, 1909 और बोम्बे.
5. वी.डी. सावरकर (1969), *हिंदुत्व : हू इज़ अ हिंदू?*, वीर सावरकर प्रकाशन, बंबई, पाँचवाँ संस्करण.

— अभय कुमार दुबे

विनोबा भावे

(Vinoba Bhave)

स्वातंत्र्योत्तर भारत में गाँधी-विचार की ग़ौर-निर्वाचनीय और ग़ौर-राजकीय धारा के सर्वोच्च सिद्धांतकार आचार्य विनोबा भावे (1895-1982) सर्वोदय आंदोलन की केंद्रीय विभूति थे। 1940 में गाँधी ने पहले व्यक्तिगत सत्याग्रही के रूप में विनोबा का चुनाव करके उनकी तरफ़ पूरे देश का ध्यान आकर्षित किया। असहयोग आंदोलन और भारत छोड़ो आंदोलन में भागीदारी करने वाले विनोबा ने गाँधी के देहांत के डेढ़ महीने बाद ही सेवोग्राम आश्रम में बापू के कुछ अनुयायियों के साथ विचार-विमर्श करके सर्वोदय की स्थापना की और अगले कुछ वर्षों में इस आंदोलन का संगठनात्मक ढाँचा खड़ा कर दिया। भूदान-ग्रामदान कार्यक्रम के ज़रिये विनोबा ने आज़ाद भारत में भूमि-सुधारों की प्रक्रिया को एक स्वैच्छिक आयाम प्रदान करने की कोशिश



आचार्य विनोबा भावे (1895-1982)

की, हालाँकि इस प्रक्रिया में उन्हें वामपंथ विरोधी होने के आरोपों का सामना करना पड़ा। भूदान-यज्ञ के लिए उन्होंने एक दशक से ज्यादा समय तक पूरे देश की पैदल यात्राएँ कीं और ज़मींदारों व भूमिहीन किसानों के बीच वर्ग-संघर्ष की जगह सहयोग और सहमति का संदेश देते हुए समाज-परिवर्तन की प्रक्रिया को नयी दिशा देने की कोशिश की। कई भारतीय भाषाओं पर महारत रखने वाले विनोबा की मान्यता थी कि सरल संस्कृत को राष्ट्र-भाषा बनाया जाना चाहिए, क्योंकि वही उत्तर को दक्षिण से जोड़ सकती है। गाँधी की ही भाँति उन्हें व्यक्ति के जीवन में मूल्यगत हस्तक्षेप करके उसका हृदय-परिवर्तन करने की सम्भावना में अगाध विश्वास था। अपने गीता-भाष्य के लिए विख्यात विनोबा का चिंतन गाँधी समेत उन भारतीय चिंतकों की श्रेणी में आता है जिन्होंने समाज की स्वायत्तता पर अत्यधिक बल देते हुए राज्य को न के बराबर अधिकार देने का आग्रह किया है। अपने जीवन के अंतिम वर्षों में विनोबा सर्वोदय आंदोलन के राजनीतीकरण के प्रश्न पर जयप्रकाश नारायण के साथ मतभेदों के चलते अपने ही साथियों के बीच अल्पमत में आ गये। आपातकाल और इंदिरा सरकार को सकारात्मक दृष्टि से देखने के कारण उन्हें अपने प्रशंसकों की आलोचना का सामना करना पड़ा।

आचार्य विनोबा भावे का जन्म 11 सितम्बर, 1895 को नासिक, महाराष्ट्र के एक चितपावन ब्राह्मण परिवार में कोलाबा के पास गगोडे गाँव में हुआ था। उनका वास्तविक

नाम विनायक नरहरि भावे था। छोटी उम्र में ही विनोबा भावे ने रामायण, महाभारत और गीता का अध्ययन कर लिया और इनसे बहुत ज्यादा प्रभावित भी हुए। विनोबा मानते थे कि उनके मानस और जीवन को सही दिशा देने और उन्हें अध्यात्म की ओर प्रेरित करने में उनकी माँ का ही योगदान है। विनोबा भावे गणित में भी पारंगत थे। लेकिन 1916 में जब वे दसवीं की परीक्षा के लिए मुम्बई जा रहे थे तो उन्होंने गाँधी का एक लेख पढ़ कर शिक्षा से संबंधित अपने सभी दस्तावेजों को आग के हवाले कर दिया। पत्रों के माध्यम से परस्पर संवाद करने के बाद 7 जून, 1916 को विनोबा भावे पहली बार गाँधी जी से मिले और पाँच साल बाद उन्होंने वर्धा स्थित आश्रम के प्रभारी का स्थान ले लिया। इस दौरान विनोबा ने *महाराष्ट्र धर्म* के नाम से एक मराठी की मासिक पत्रिका निकाली जिसमें निबंधों और उपनिषदों का प्रकाशन किया जाता था। 1932 में दूसरे असहयोग आंदोलन के दौरान विनोबा भावे को धूलिया जेल भेज दिया गया। जेल में उन्होंने साथी कैदियों के सामने मराठी में गीता का भाष्य किया जो बाद में एक पुस्तक के रूप में संकलित कर प्रकाशित किया गया। विनोबा बहुभाषी थे। उन्हें लगभग सभी भारतीय भाषाओं (कन्नड़, हिंदी, उर्दू, मराठी, संस्कृत) का ज्ञान था। उन्होंने गीता, कुरान, बाइबल जैसे धर्म ग्रंथों के अनुवाद के साथ ही इनकी टीकाएँ भी कीं। विनोबा भावे पहले ऐसे व्यक्ति थे जिन्हें 1958 में अंतर्राष्ट्रीय रेमन मैगसेसे सम्मान प्राप्त हुआ था। नवंबर, 1982 में विनोबा भावे बेहद बीमार पड़ गये। उन्होंने अपना जीवन समाप्त करने का निश्चय करके भोजन और औषधि लेने से इनकार कर दिया। 15 नवंबर को उनका निधन हो गया। 1983 में उन्हें मरणोपरांत भारत के सर्वोच्च नागरिक सम्मान भारत रत्न से नवाज़ा गया।

चालीस, पचास और साठ के दशकों में विनोबा अपनी रचनाओं, वक्तव्यों और अहर्निश सर्वोदयी गतिविधियों के माध्यम से समाज-परिवर्तन का ऐसा मॉडल पेश करते रहे जिसमें रैडिकल राजनीति और राज्य के हस्तक्षेप की गुंजाइश न के बराबर ही थी। हालाँकि सरकार ने भूदान-ग्रामदान एक्ट पारित करके सर्वोदय को अपने भूमि-सुधार प्रयासों का अनुषंगी बना लिया, और सर्वोदय की तरफ से भी इस सरकारी सहयोग का स्वागत किया गया, लेकिन अगर विनोबा के सैद्धांतिक सूत्रीकरणों पर निगाह डाली जाए तो साफ़ लगता है कि कामकाज की व्यावहारिकता से परे वे राज्य के सहयोग के पक्षधर नहीं थे। सत्तारूढ़ कांग्रेस ने जब उनसे राय माँगी तो उन्होंने उसे ग्राम-स्वराज का पाठ पढ़ाया। योजना आयोग की पहली बैठक में नेहरू के निमंत्रण पर वे गये, पर जब उन्होंने देखा कि आयोग सर्वोदय की कार्यदिशा को छोड़ कर बड़े उद्योगों, बड़े पैमाने पर उत्पादन और उपभोग की समीकरण धरती पर उतारना चाहता है, तो उन्होंने

नियोजन-प्रक्रिया से अपना पल्ला छुड़ा लिया।

उन्होंने जीवन के सभी आयामों के रूपांतरण के लिए सम्पूर्ण क्रांति की अवधारणा का विकास किया। विनोबा के लिए क्रांति का मतलब सामाजिक-राजनीतिक उथल-पुथल या सत्ता पलट न हो कर व्यक्तिगत और सामुदायिक स्तर पर उच्चतर अवस्था प्राप्त करने के लिए क्रमिक विकास का रास्ता अख्तियार करना था। ऐसा बहुआयामी विकास तभी हो सकता था जब एक नया मनुष्य बनाने और नया समाज बनाने का आग्रह किया जाए। केंद्रीकृत शासन यह काम नहीं कर सकता था। विनोबा केवल इससे संतुष्ट नहीं थे कि कुशासन का विरोध किया जाए, उनके मुताबिक सर्वोदय का मतलब सुशासन या बहुमत का शासन भी नहीं है। उसका मतलब तो सरकार से छुटकारा है, यानी सत्ता का विकेंद्रीकरण सर्वोदय का प्रमुख उद्देश्य होना चाहिए। विनोबा की निगाह में सर्वोदय का दूसरा लक्ष्य था स्वराज की उपलब्धि। यहाँ भी उनका जोर व्यक्तिगत स्तर पर न किसी की अधीनस्थता स्वीकार करने और न ही किसी का शोषण करने पर था। वही व्यक्ति स्वराज का वाहक हो सकता है न जो न तो किसी को अपने ऊपर नियंत्रण करने दे और न ही किसी का नियंत्रण स्वीकार करे। विनोबा मानते थे कि सरकार एक तरफ तो सेवाएँ देने और लाभान्वित करने का दावा करती है, पर दूसरी ओर वह लोगों से आज्ञापालन की अपेक्षा भी करती है जिसे स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए।

अपने विचारों को स्पष्ट करने के लिए विनोबा ने राज्य के तीन सिद्धांतों का भाष्य किया। उन्होंने दिखाया कि राज्य के तिरोहित होते जाने के पक्षधर अपने लक्ष्यों की पूर्ति के लिए राज्य की ताकत का ही ज्यादा से ज्यादा इस्तेमाल करते हैं। ऐसे लोग पहले चरण में सर्वसत्तावादी और अंतिम चरण में अराजकतावादी होते हैं। राज्य की दूसरी थियरी आग्रह करती है कि राज्य हमेशा था और हमेशा रहेगा। इसलिए राज्य का इस्तेमाल करके ज्यादा से ज्यादा लोगों को लाभ पहुँचाने की कोशिश करनी चाहिए। जाहिर है कि यह सिद्धांत समाज को राज्य के साथ स्थायी रूप से बाँध देता है। इसी संदर्भ में नियोजित अर्थव्यवस्था की अवधारणा को आड़े हाथों लेते हुए विनोबा ने कहा कि इसके लिए केंद्रीकृत शासन आवश्यक है, और केंद्रीकरण हमें कभी राज्यविहीनता की स्थिति में नहीं पहुँचा सकता। इससे तो राजनीति और सत्ता के प्रति लिप्सा ही पैदा होगी। विनोबा ने कहा कि तीसरी थियरी उनकी अपनी है जो राज्यविहीन समाज तो चाहती है पर उसके लिए राज्य की स्थापना करना या उसके उपकरणों का मोहताज होना जरूरी नहीं समझती। यह थियरी प्रशासन और प्राधिकार को विकेंद्रीकृत करते चले जाने पर निर्भर है। इस प्रक्रिया के जरिये राज्य से छुटकारा पाने में कुछ देर अवश्य लग सकती है, पर इसके माध्यम से 'अंतिम चरण' की उस दिशा में

निश्चित रूप से बढ़ा जा सकता है जब कोई दमनकारी यंत्र नहीं रह जाएगा। केवल नैतिक प्राधिकार ही रहेगा। विनोबा ने दावा किया कि ऐसा करने के लिए ही वे उत्पादन, वितरण, प्रतिरक्षा, शिक्षा यानी हर चीज का स्थानीयकरण करने के पक्ष में हैं। अर्थात् केंद्र के पास न्यूनतम प्राधिकार रहना चाहिए। क्षेत्रीय आत्म-निर्भरता के माध्यम से विकेंद्रीकरण उपलब्ध किया जा सकता है।

विनोबा ने राज-नीति और लोक-नीति के बीच में फ़र्क किया : राजनीति यानी सत्ता हासिल करने की गतिविधियाँ अर्थात् राजनीतिक दलों के बीच लगातार प्रतियोगिता और टकराव; और लोकनीति यानी सच्चा लोकतंत्र अर्थात् चुनाव और पार्टियों से अलग आम-सहमति के आधार पर हितों की एकात्मकता कायम करते हुए सामाजिक समरसता की उपलब्धि। उन्होंने अहिंसा को सर्वोच्च शक्ति करार देते हुए उसे आत्म-शक्ति का पर्याय करार दिया। अपने इन्हीं विचारों के कारण विनोबा ने हमेशा सर्वोदय आंदोलन को सत्ता की राजनीति से अलग रखने की कोशिश की।

सर्वोदय आंदोलन में विनोबा के आलोचकों का आरोप है कि उन्होंने अपनी मुहिम के संगठनात्मक ढाँचे पर कभी ध्यान नहीं दिया। लेकिन, दूसरी तरफ़ यह भी एक सच्चाई है कि विनोबा ने सर्वोदय के झंडे तले कई तरह के व्यावहारिक और अवधारणात्मक नावाचार किये। सर्वोदय की शुरुआत ही उन्होंने कंचन-मुक्ति (धन पर निर्भरता से छुटकारा) और ऋषि-खेती (प्राचीन काल के ऋषियों की तरह बैलों का इस्तेमाल किये बिना खेती करना) जैसे नवाचारों से की थी। ग्रामदान के दायरे में आने वाले गाँवों में गाँव सभाएँ बना कर एक स्वायत्त समाज की नींव रखना एक ऐसा ही प्रयोग था। इन पहलकदमियों में एसोसिएशन फ़ॉर सर्व सेवा फ़ार्मर्स, गो-रक्षा अभियान, आचार्यकुल, भारतीय शांति सेना, स्त्री-शक्ति की अवधारणा, ब्रह्म विद्या मंदिर, हरिजन सेवक संघ और रचनात्मक कार्यकर्ता समाज का उल्लेख किया जा सकता है।

सत्तर के दशक में जब जयप्रकाश नारायण ने मुशहरी (बिहार) में डेढ़ साल तक ग्रामदान का प्रयोग करने के बाद इंदिरा सरकार के ख़िलाफ़ सत्याग्रह का आह्वान किया तो विनोबा ने अपनी असहमति दर्ज कराते हुए इसे नकारात्मक सत्याग्रह की संज्ञा दी। विनोबा और जयप्रकाश के इस मतभेद ने सर्वोदय आंदोलन की प्रमुख संस्था सर्व सेवा संघ में विभाजन कर दिया। विनोबा ने इस मौके पर इंदिरा गाँधी की प्रशंसा की और कहा कि वे देश की एकता सुरक्षित रखने का प्रयास कर रही हैं। उन्होंने अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में भी इंदिरा गाँधी की भूमिका की सराहना की। आपातकाल को

अनुशासन पर्व कहने और सरकारी कर्मचारियों को लोक-सेवक बताने के कारण जयप्रकाश समर्थकों ने सरकारी संत कह कर उनका उपहास किया।

देखें : आशिस नंदी-1 और 2, आनंद केंटिश कुमारस्वामी, गोपीनाथ कविराज, गोविंद चंद्र पाण्डेय, चेटपट वेंकटसुब्बन शेषाद्रि, जोसेफ चेल्लादुरै कुमारप्पा, दया कृष्ण, धीरूभाई शेट, बदरी नाथ शुक्ल, भारतीय दर्शन-1 से 5 तक, मुकुंद लाठ, मेघनाद साहा, मोहनदास कर्मचंद गाँधी-1 से 3 तक, यशदेव शल्य, रजनी कोठारी, राम अवतार शर्मा, लोकविद्या, वासुदेव शरण अग्रवाल, विनोबा भावे।

संदर्भ

1. वी. नारायण करन रेड्डी (1963), *सर्वोदय आइडियोलॉजी ऐंड आचार्य विनोबा भावे*, आंध्र प्रदेश सर्वोदय मण्डल, हैदराबाद.
2. गीता एस. मेहता (1995), *फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ विनोबा भावे : अ न्यू पर्सपेक्टिव इन गाँधीयन थॉट*, हिमालय पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.
3. डेनिस डाल्टन (1986), 'दि आइडियोलॉजी ऑफ़ सर्वोदय : कंसेप्ट्स ऑफ़ पॉलिटिक्स ऐंड पॉवर इन पॉलिटिकल थॉट', थॉमस पेंथम और केनेथ एल. ड्यूश (सम्पा.), *पॉलिटिकल थॉट इन मॉडर्न इण्डिया*, सेज, नयी दिल्ली.
4. ईश्वर सी. हैरिस (1986), 'दि भूदान मूवमेंट : ऐन इनवेस्टीगेशन इनटु विनोबा भावेज लीगसेसी इन कंटेम्पेरी इंडिया', *एशियन थॉट ऐंड सोसाइटी*, जुलाई-नवम्बर.

— अभय कुमार दुबे

विमर्श

(Discourse)

वैसे तो धार्मिक प्रवचन को भी *डिस्कोर्स* कहा जाता है, पर धर्म से इतर संदर्भों में इसका निपट अर्थ है दो वक्ताओं के बीच संवाद या बहस या सार्वजनिक चर्चा। लैटिन की क्रिया *डिसकरर* से व्युत्पन्न यह शब्द समाज-विज्ञान की दुनिया में भिन्न अर्थ ग्रहण कर लेता है। विमर्श-विश्लेषण की परम्परा सँस्यूर के भाषाशास्त्र द्वारा दिये गये 'भाषाई मोड़' से शुरू हुई। मनोविश्लेषण और ज्ञान के संबंध पर लकाँ और हैबरमास की बहस के रास्ते नारीवादी अध्ययन, मानवशास्त्र, संस्कृति अध्ययन, साहित्य-सिद्धांत और विचारों के इतिहास में अत्यंत समृद्ध होती चली गयी। विद्वानों ने स्वयं *डिस्कोर्स* की धारणा को ही अध्ययन का विषय बनाया है। इन्हीं बारीकियों के चलते पहले से स्थापित आधुनिकतावादी डिस्कोर्स की जगह नयी पद्धति के डिस्कोर्स ने ले ली है।

हिंदी में *डिस्कोर्स* को साठ के दशक में अनुवाद के जरिये 'वार्ता' (जैसे, *रूसो की तीन वार्ताएँ*) कहा गया था, पर जैसे-जैसे भाषाई समाज-विज्ञान का विकास हुआ, इसके लिए विमर्श / आख्यान / क्लाम जैसे शब्द प्रचलित होते चले गये। उत्तर-आधुनिक पदावली में विमर्श का अर्थ होता है अभिव्यक्ति के उन तत्त्वों और आयामों की संरचना जो अपने कुल जोड़ से परे जा कर कोई खास अर्थ देने की क्षमता रखते हों। अर्थात् एक निश्चित सामाजिक संदर्भ में भाषा के जरिये किसी एक विषय के इर्द-गिर्द होती हुई बहस द्वारा व्याख्याओं, तात्पर्यों और मान्यताओं के निर्माण की प्रक्रिया को विमर्श का नाम दिया जा सकता है।

विमर्श की प्रक्रिया के जरिये ही दुनिया के महानतम विचारकों ने अपने चिंतन को सार्वजनिक वाणी दी है। दरअसल, विमर्श 'विशिष्ट ज्ञान' का द्योतक है जो विशेषज्ञों की भाषा में व्यक्त होता है। डॉक्टरों के सम्मेलन में होने वाला विचार-विनिमय चिकित्सकीय विमर्श होगा जिसकी तकनीकी शब्दावली उसे आम लोगों की समझ से परे ले जाएगी। इसी तरह किसी भी विषय या वस्तु के बारे में साधारण लोगों के साझा अनुभव या ज्ञान राशि से विमर्श नहीं बनता, लेकिन उसके आधार पर विद्वानों और विशेषज्ञों द्वारा किये गये विश्लेषण और खोजबीन से विमर्श-रचना होती है।

समाज-विज्ञानों में *विमर्श* का उपयोग पहले भी होता रहा है, लेकिन मिशेल फ़ूको के बाद तो विमर्श के इस्तेमाल से कतराना तक्ररीबन नामुमकिन ही हो गया है। फ़ूको की दुनिया में विमर्श किसी विषय पर खास तरह से सोचने का नाम है जिसे भाषा के जरिये व्यक्त किया जाता है। विमर्श से एक सामाजिक चौहद्दी बनती है जिसके भीतर एक विशिष्ट विषय पर कही जा सकने वाली बातें आ जाती हैं। फ़ूको के लिए विमर्श का अर्थ है धारणाओं, प्रवृत्तियों, सक्रियता के तरीकों, आस्थाओं और आचरणों से मिल कर बनी विचारों की प्रणालियाँ जिनसे विभिन्न आत्मपरकताओं और विभिन्न संसारों को वाणी मिलती है। विमर्श बदलने से एक ही शब्द के अर्थ पूरी तरह से बदल सकते हैं। विमर्श समयांतर से विमर्श बदलता है। जैसे, पागलपन के मध्यकालीन और आधुनिक विमर्श में अंतर है। उस समय पागल को एक प्रज्ञावान व्यक्ति समझा जाता था, पर बीसवीं सदी में उसे मानसिक रूप से बीमार घोषित करके उसका चिकित्सकीय उपचार ज़रूरी कर दिया गया। दूसरी तरफ़, एक ही समय में एक ही विषयवस्तु कई विमर्शों के हाथों अलग-अलग ढंग से व्याख्यायित भी होती है। मसलन, छापामार आंदोलन की परिघटना को स्वाधीनता सेनानियों की तरह भी व्यक्त किया जा सकता है, और आतंकवादियों की तरह भी। रैडिकल शब्द के तक्ररीबन विपरीत क्रिस्म के अर्थ इसका सबसे बड़ा सबूत हैं। यहाँ फ़र्क़ विमर्श का है जिसके मुताबिक़ छापामार आंदोलन या रैडिकल होने का वर्णन करने की शब्दावली,

अभिव्यक्तियाँ और सम्प्रेषण की शैली बदल जाती है।

समाज-विज्ञानों में विमर्श के अति-प्रचलन को आधुनिकतावाद से उत्तर-आधुनिकतावाद की तरफ़ हुई यात्रा से भी जोड़ा जा सकता है। आधुनिकतावादी सिद्धांतकारों का मुख्य जोर प्रगति के विचार पर था। उनकी मुख्य आस्था ऐसे प्राकृतिक और सामाजिक नियमों के अस्तित्व में थी जिनका ज्ञान के विकास के लिए सार्वभौम इस्तेमाल किया जा सके। इसके ज़रिये समाज की बेहतर समझ हासिल करने का दावा करते हुए वे देश-काल से परे जाने वाले सत्य और यथार्थ की उपलब्धि करना चाहते थे। इस लिहाज़ से उनके लिए विमर्श की प्रकृति प्रकार्यात्मक, कारगर और प्रयोजनमूलक थी। वे चाहते थे कि विमर्श के माध्यम से वे सटीक शब्द और अभिव्यक्तियाँ तय की जाएँ जिनसे नयी खोजों का वर्णन किया जा सके। आधुनिकतावाद के इस रवैये ने भाषा और विमर्श को सत्ता और विचारधारा से विलग करके सामान्य ज्ञान या प्रगति के स्वाभाविक उत्पादों की तरह देखा। अधिकारों, समता, स्वाधीनता और न्याय के प्रचलित आधुनिकतावादी विमर्शों का जन्म इसी प्रक्रिया से हुआ।

उत्तर-आधुनिकता ने इस दावे को खारिज कर दिया कि समाज के सभी आयामों की व्याख्या करने के लिए कोई एक सैद्धांतिक उपागम हो सकता है। बजाय इसके उन्होंने व्यक्तियों और समुदायों के अनुभवों को उनकी विविधता में जाँचने का फ़ैसला किया। उन्होंने समानताओं और एक से अनुभवों के ऊपर विभेदों को प्राथमिकता दी। सामाजिक नियमों की धारणा बेमानी हो गयी। सत्य खोजने का प्रयास करने के बजाय उन्होंने यह खोजा कि सत्य कैसे रचा गया और फिर उसकी संरचना कैसे टिकायी गयी। उत्तर-आधुनिकों ने दावा किया कि सत्य और ज्ञान बहुलतापूर्ण, संदर्भगत और विमर्शों के ज़रिये ऐतिहासिक रूप से पैदा किया जाता है। यह विचार उत्तर-आधुनिक चिंतकों को पाठों, भाषा, नीतियों और आचरणों के विमर्शों के विश्लेषण की तरफ़ ले गया। अगर उत्तर-आधुनिकता के तत्त्वावधान में विमर्श की नयी पद्धति लोकप्रिय न होती और आधुनिकतावादी सिद्धांतकारों का प्रगतिवादी रैखिक विमर्श चलता रहता तो महा-आख्यानों के बोझ तले कई तरह के पहचाने दबी रहतीं। इसी के चलते नारीवादियों द्वारा जेंडर की रोशनी में सत्ता, विचारधारा, भाषा और विमर्श के बीच पेचीदा संबंधों की गहन जाँच सम्भव हो सकी है, वरना नारीवाद भी एक रैखिक विचारधारा बना कर रह जाता। इसी के चलते राजनीतिक सिद्धांतों की समझ कहीं अधिक विविधतासम्पन्न हो सकी है और सभी तरह की बुनियादपरस्ती पर सवालिया निशान लगाये जा सके हैं। उदारतावादी लोकतंत्र की खूबियों के पुराने विमर्श का हथ्र इसका एक उल्लेखनीय उदाहरण है। अगर इस पुराने विमर्श को वैसा का वैसा ही माना जाता रहता तो इसके शब्दाडम्बर और यथार्थ के बीच की खायी कभी

सामने न आ पाती। इस लिहाज़ से कहा जा सकता है कि विमर्श की नयी पद्धति ने दर्शनशास्त्र और अन्य समाज-विज्ञानों को उनके सामाजिक और नैतिक कार्यभार के प्रति पहले से कहीं ज़्यादा सचेत किया है।

देखें : अस्तित्ववाद, इयत्ता, इंद्रियानुभववाद, उत्तर-आधुनिकतावाद, उत्तर-औपनिवेशिकता, उदारतावाद, कल्पित समुदाय, चेतना, तत्त्वमीमांसा और अस्तित्वमीमांसा, तात्त्विकतावाद, द्वैतवाद, परिणामवाद, बुद्धिवाद, भाववाद, भौतिकवाद, यथार्थवाद, संरचनावाद और उत्तर-संरचनावाद, ज्ञानमीमांसा।

संदर्भ

1. मिशेल फ़ूको (1972), *आर्कियाँलॉजी ऑफ़ नॉलेज़*, पैंथियन, न्यूयॉर्क.
2. डी. हावर्थ (2000), *डिस्कॉर्स*, ओपन युनिवर्सिटी प्रेस, फ़िलाडेल्फ़िया, पीए.
3. डी. मेकडोनाल्ड (1986), *थियरीज़ ऑफ़ डिस्कॉर्स : ऐन इंटीडक्शन*, 1986.
4. जे. संडरलैण्ड (2004), *जेंडर्ड डिस्कॉर्सिज़*, पालग्रेव मैकमिलन, न्यूयॉर्क.
5. एस. बेस्ट और डी. केलनर (1997), *द पोस्टमॉडर्न टर्न*, द गिलफ़र्ड प्रेस, न्यूयॉर्क.

— अभय कुमार दुबे

विल किमलिका

(Will Kymlicka)

कनाडा के राजनीतिक दार्शनिक विल किमलिका (1962-) बहुसंस्कृतिवाद में अपने योगदान के लिए जाने जाते हैं। अस्सी के दशक में समुदायवादियों ने उदारतावाद और ख़ास तौर पर जॉन रॉल्स द्वारा प्रवर्तित न्याय के सिद्धांत की तीखी आलोचना प्रस्तुत की थी। किमलिका उन प्रमुख राजनीतिक सिद्धांतकारों में से एक हैं जिन्होंने समुदायवादी आलोचना को उदारतावाद में समायोजित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी और बहुसंस्कृतिवाद के लिए दार्शनिक आधार तैयार किया। किमलिका का शोध मुख्य रूप से लोकतंत्र और विविधता के मुद्दों पर केंद्रित है। किमलिका ने बहुसंस्कृतिवाद और राजनीतिक दर्शन पर विस्तार से लेखन किया है। उनका ध्यान मुख्य तौर पर बहुसांस्कृतिक समाजों में नागरिकता और सामाजिक न्याय के मॉडलों पर केंद्रित रहा है। किमलिका ने समुदायवादियों की इस आलोचना को नकारा है कि उदारतावादी व्यक्ति को अणु रूप में प्रस्तुत करते हैं। उन्होंने दावा किया कि उदारतावादी व्यक्तिवाद पर जोर देते हैं लेकिन वे हमारी सामाजिक प्रकृति और हमारे सहभागी समुदाय की कीमत पर ऐसा नहीं करते। उन्होंने लोकतांत्रिक समाज के



विल किमलिका (1962-)

भीतर अल्पसंख्यकों के सांस्कृतिक अधिकारों की भी वकालत की। विल किमलिका ने प्रतिनिधित्व और सदस्यता की एक ऐसी रूपरेखा प्रस्तुत की जो सांस्कृतिक और समूह-विभेदों को इस तरह समायोजित करती है जिससे व्यक्ति को अपने समूह की सदस्यता या सांस्कृतिक समुदाय की सदस्यता के कारण किसी तरह के नुकसान का सामना न करना पड़े। साथ ही किमलिका सांस्कृतिक समुदायों के स्व-हिफाजत के अधिकार तथा उदारतावादी समाज में व्यक्तियों को मिलने वाले अधिकारों के बीच एक जुड़ाव या संयोजन बिंदु खोजने की कोशिश करते हैं।

किमलिका सुझाव देते हैं कि कुछ तरीके अपनाकर लोकतांत्रिक नागरिकता की रूपरेखा के भीतर राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों और जातीय समूहों की माँगों को समायोजित किया जा सकता है : (क) सभी नागरिकों के सामान्य अधिकारों की सुरक्षा। बुनियादी रूप से इसका अर्थ है व्यक्ति के नागरिक और राजनीतिक अधिकारों की सुरक्षा। इनमें मुख्य रूप से साहचर्य बनाने की आजादी, अपना धर्म मानने की आजादी, अभिव्यक्ति की आजादी, कहीं भी आने-जाने की आजादी और इसके साथ ही इसमें किसी समूह के द्वारा अपने विभेदों की सुरक्षा के लिए राजनीतिक संगठन बनाने की आजादी भी शामिल है। (ख) विशेष कानूनी और संवैधानिक प्रावधानों के द्वारा सांस्कृतिक विविधता का समायोजन। इसमें विशिष्ट समूहों को विशेष अधिकारों की गारंटी शामिल है।

किमलिका ने तीन तरह के समूह-विभेदीकृत अधिकारों के बारे में बताया है : (क) स्वशासन अधिकार, (ख) बहु-जातीय अधिकार, और (ग) विशेष प्रतिनिधित्व अधिकार। स्वशासन अधिकार राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों के लिए

किसी न किसी तरह की राजनीतिक स्वायत्तता या भू-क्षेत्रीय अधिकारक्षेत्र को मान्यता देते हैं। राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों का दावा होता है कि व्यापक राज्य में (आमतौर पर अनैच्छिक रूप से) शामिल होने के समय उन्होंने अपने स्वशासन का अधिकार नहीं छोड़ा था। इस तरह के अधिकार संघीय संरचना में अभिव्यक्त हो सकते हैं, जहाँ संघीय उप-इकाईयों को सीमा के भीतर कुछ स्वायत्तता दी जाती है। बहु-जातीय अधिकार आप्रवासी समुदायों के विशिष्ट अधिकारों से संबंधित हैं। ये अधिकार आंग्ल-अनुरूपता मॉडल को एक चुनौती पेश करते हैं। इस मॉडल में यह माना जाता है कि आप्रवासी समूहों को अपने जातीय परम्परा के सभी पहलुओं को छोड़ देना चाहिए और उन्हें खुद को इन समाजों में पहले से क्रायम सांस्कृतिक मानकों और व्यवहारों में मिला लेना चाहिए। इन अधिकारों में शुरुआती तौर पर यह माँग की जा सकती है कि इन समूहों को अपनी विशिष्टताओं और विभेदों को अभिव्यक्ति की आजादी होनी चाहिए। इसके लिए यह जरूरी है कि इन्हें बहुसंख्यक सांस्कृतिक समूहों से किसी तरह के खतरे का दबाव का सामना न करना पड़े। लेकिन जातीय समूहों ने इस अधिकार का विस्तार किया है। इन समूहों ने भेदभाव को खत्म करने के लिए और विशिष्ट समुदायों के रूप में अपनी पहचान क्रायम रखने के लिए राज्य से सकारात्मक कार्रवाई की माँग की है। इन समूहों ने राज्य से यह माँग की है कि वह इनकी सुरक्षा और इनके जीवनशैली के विशिष्ट पहलुओं के प्रोत्साहन के लिए सकारात्मक कार्रवाई करे। कुछ जातीय और सांस्कृतिक अल्पसंख्यकों ने अपने विभिन्न तरह के सांस्कृतिक कार्यक्रमों के लिए सार्वजनिक कोष से आर्थिक मदद की भी माँग की है। मसलन, कई जातीय समूहों ने जातीय साहचर्य पत्रिकाओं और त्यौहारों के लिए राज्य से आर्थिक मदद की माँग की है। जातीय समूहों द्वारा की जाने वाली माँगों में शायद सबसे विवादास्पद माँग यह रही है कि इन समूहों को ऐसे कानूनों से छूट मिलनी चाहिए जिनका इनके धार्मिक व्यवहारों से टकराव हो। मसलन, ब्रिटेन में यहूदियों और मुसलमानों ने रविवार की छुट्टी से छूट की माँग की है। इसी तरह, संयुक्त-राज्य में यहूदी लोगों ने सैनिक सेवा के दौरान यरमुल्का पहनने की इजाजत देने की माँग की है। इसी तरह, फ्रांस और ब्रिटेन में मुसलिम लड़कियों ने 'स्कूल ड्रेस कोड' (अर्थात् एक ही तरह का स्कूल ड्रेस पहनने के नियम) से छूट की माँग की है। उन्होंने यह माँग की है कि उन्हें हिजाब या चादर ओढ़ने की इजाजत मिलनी चाहिए।

विशेष-प्रतिनिधित्व अधिकारों में राष्ट्रीय और जातीय समूहों के साथ-ही-साथ गैर-जातीय श्रेणियों ने भी रुचि दिखायी है। इन गैर-जातीय श्रेणियों में महिलाएँ, गरीब और

अपाहिज लोग शामिल हैं। बुनियादी रूप से, विशेष-प्रतिनिधित्व अधिकारों ने राज्य की संरचनाओं को ज्यादा प्रतिनिधिमूलक बनाकर उनका लोकतंत्रीकरण किया है। मसलन, इसके कारण विधायिका में जातीय और नस्लीय अल्पसंख्यकों, महिलाओं, गरीबों, अपाहिजों आदि के सदस्य आये हैं। इस कारण अब विधायिका में समाज के ज्यादा व्यापक समूहों का प्रतिनिधित्व होने लगा है। दो आधारों पर इन अधिकारों की तरफ़दारी की गयी है— पहला, इन्हें समूहों के साथ हुए दमन में सुधार के रूप में देखा गया है। दूसरा, यह माना गया है कि इनके माध्यम से समूहों को आत्म-निर्णय का अधिकार दिया जा रहा है।

इसलिए किमलिका ने इस बात पर जोर दिया कि बहुसंस्कृतिवाद के पक्ष में दिये जाने वाले तर्क सिर्फ़ 'ऐतिहासिक गलतियों' को सुधारने या भेदभाव को खत्म करने से संबंधित नहीं हैं। समुदाय क्रायम रखने की वचनबद्धता की बुनियाद में यह विश्वास शामिल है कि अलग-अलग तरह के समुदाय राजनीतिक समुदाय में बहुत ज्यादा योगदान देते हैं। विविधता को मान्यता देने के पीछे इस विश्वास का भी महत्वपूर्ण योगदान है कि प्रत्येक संस्कृति में मूल्यवान तत्त्व हैं, जिन्हें दूसरी संस्कृति के लोगों को जानना चाहिए। हर संस्कृति से दूसरी संस्कृति के लोग बहुत कुछ सीख सकते हैं। यह विश्वास ही राजनीतिक समुदाय को एक ऐसा सहभागी राजनीतिक 'स्पेस' (स्थान) बना सकती है, जहाँ समानता एक महत्वपूर्ण मूल्य हो। अब राजनीतिक समुदाय को समरूप निकाय के रूप में नहीं देखा जाता है। इसकी जगह अब यह माना जाता है कि राजनीतिक समुदाय विविधताओं से भरा हुआ है। इसके अलावा, इस विविधता को लोकांत्रिक राजनीतिक 'स्पेस' (या स्थान) के लिए मूल्यवान माना जाता है। बहुसंस्कृतिवाद समुदाय में व्यक्ति के विचार और समुदाय की प्राथमिकता को स्थापित करने की कोशिश करता है। लेकिन किमलिका यह मानते हैं कि इसमें यह खतरा भी मौजूद है कि यह समुदाय के भीतर व्यक्ति के आलोचनात्मक और सृजनशील सदस्यता के अधिकार को नकार सकता है। बहुसंस्कृतिवाद समुदाय की सुरक्षा पर बहुत ज्यादा ध्यान देता है। ऐसे में इनके तर्क समुदाय की बाहरी पाबंदियों से हिफ़ाज़त की तरफ़दारी करते हैं। लेकिन साथ ही ये समुदाय के इस अधिकार को भी मान्यता देते हैं कि वह अपने सदस्यों पर आंतरिक पाबंदियाँ लगा सकता है। समुदाय को आंतरिक पाबंदियाँ लागू करने की शक्ति देकर यह उस प्राधिकार की संरचना को क्रायम रखता है, जो व्यक्ति की आज़ादी को नुकसान पहुँचाती हैं। दूसरे शब्दों में, इस रूपरेखा के भीतर अल्पसंख्यक समुदायों से जुड़े व्यक्तियों के अधिकारों का कोई महत्व नहीं है। किमलिका का महत्व इसलिए भी है कि वे अल्पसंख्यक समूहों के सांस्कृतिक अधिकारों की वकालत व्यक्तियों के व्यक्तिगत अधिकारों की क्रीमत पर नहीं करते

हैं। वे मानते हैं कि यदि व्यक्ति और समुदाय के अधिकारों के बीच टकराव हो तो व्यक्ति के अधिकारों को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। लेकिन कई दफ़ा इस आधार पर किमलिका के बहुसंस्कृतिवाद संबंधी विचारों की आलोचना की जाती है कि यह आर्थिक पहलुओं की उपेक्षा करता है।

उनकी कुछ महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं : *लिबरलिज़म, कम्युनिटी ऐंड कल्चर* (1989); *कटेम्परेरी पॉलिटिकल फ़िलॉसफ़ी* (1990) और *मल्टीकल्चरल सिटीज़नशिप* (1995)। इसके अलावा उनकी कुछ और भी रचनाएँ प्रसिद्ध हैं : *फ़ाईंडिंग अवर वे : रिथिंकिंग एथ्नोकल्चरल रिलेशंस इन कनाडा* (1998); *पॉलिटिक्स इन वर्नाकुलर : नेशनलिज़म, मल्टीकल्चरलिज़ ऐंड सिटजनशिप* (2001), *मल्टीकल्चरल ओडिसीज़* (2007)। किमलिका ने कनाडा के अलावा विश्व के दूसरे भागों में बहुसंस्कृतिवाद के विभिन्न पहलुओं की पड़ताल की है। किमलिका के विचारों ने न सिर्फ़ समुदायवादी चिंताओं को उदारतावाद के भीतर समायोजित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है, बल्कि राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों सहित अन्य अल्पसंख्यकों के सांस्कृतिक अधिकारों संबंधी चिंताओं को एक जोरदार आवाज़ दी है। भारत जैसे सांस्कृतिक रूप से विविधता से भरे समाजों के लिए इनकी सैद्धांतिक रूपरेखा महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है। मसलन, भारत में कश्मीर, श्रीलंका में तमिलों की समस्या में किमलिका का राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों का मॉडल एक प्रभावकारी भूमिका निभा सकता है।

देखें : अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफ़लातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, उपयोगितावाद, एडमण्ड बर्क, क्रांति, ज्यों जाक रूसो, जॉन लॉक, जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, न्याय, न्याय : नारीवादी आलोचना, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, फ़्रेड्रिख वॉन हायक, बुद्धिवाद, माइकिल ओकशॉट, माइकिल वाल्ज़र, मिशेल पॉल फ़ूको-1 और 2, युटोपिया, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम-1 और 2, रॉबर्ट नॉज़िक, राज्य-1 और 2, स्वतंत्रतावाद, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकार और सरकारियत-1 और 2, सामाजिक समझौता।

संदर्भ

1. विल किमलिका (1989), *लिबरलिज़म, कम्युनिटी ऐंड कल्चर*, क्लेरेंडन प्रेस, ऑक्सफ़र्ड, 1989.
2. विल किमलिका (2009), *समकालीन राजनीतिक दर्शन*, दूसरा संस्करण (अनुवाद : कमल नयन चौबे), पियर्सन, नयी दिल्ली.
3. अनुपमा राय (2011), 'नागरिकता', राजीव भार्गव और अशोक आचार्य, *राजनीतिक सिद्धांत : एक परिचय*, (अनुवाद : कमल नयन चौबे), पियर्सन, नयी दिल्ली.

— कमल नयन चौबे

विलफ्रेडो परेटो

(Vilfredo Pareto)

अर्थशास्त्र के इतिहास में विलफ्रेडो परेटो (1848-1923) का नाम एक ऐसे विद्वान के रूप में दर्ज है जिसने इस अनुशासन को पहले तो गणितीय और वैज्ञानिक आधार देने की भूमिका निभायी, और फिर उसे ऐतिहासिक और समाजशास्त्रीय अंतर्दृष्टियों से सम्पन्न करने के लिए काम किया। अर्थशास्त्र में कई तात्त्विक योगदान करने वाले परेटो के बौद्धिक जीवन का यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि गणितीय रूपों को आर्थिक विश्लेषण में स्थापित करने के बाद वे खुद इन विधियों से असंतुष्ट हो गये। अमूर्त आर्थिक सिद्धांतों का पल्ला छोड़ कर उन्होंने ऐतिहासिक और सामाजिक-राजनीतिक संदर्भों की ज़मीन पर अर्थव्यवस्थाओं के प्रदर्शन को समझने की कोशिश की। उन्होंने इन पहलुओं को व्यापार चक्रों के विश्लेषण में इस्तेमाल करते हुए दिखाया कि सामाजिक कारक किस तरह बचत, श्रम और उपभोग को प्रभावित करते हैं जिससे अंत में पूरी अर्थव्यवस्था पर असर पड़ता है। उन्होंने आर्थिक जड़ता और वृद्धि का समाजशास्त्रीय सिद्धांत विकसित किया। उनका कहना था कि आर्थिक वृद्धि तब तक उपलब्ध नहीं की जा सकती जब तक कठोर परिश्रम करते हुए उसके आर्थिक फल भोगने की इच्छा को कुछ समय के लिए स्थगित न कर दिया जाए। इसके लिए उन्होंने मेहनत के साथ-साथ किफ़ायत और पेशेवराना रुझान के विकास की सिफ़ारिश की। उन्होंने देखा कि आर्थिक वृद्धि होने पर ये प्रवृत्तियाँ नरम पड़ जाती हैं और समाज में अधिक सुखधर्मिता पैदा होती है। सट्टेबाज़ी होने लगती है और फटाफट पैसा बनाने की होड़ लग जाती है। लेकिन एक मुक़ाम पर उपभोक्ता ऋण में बेतहाशा बढ़ोतरी होने के कारण उपभोक्ताओं का विश्वास डगमगाने लगता है। नतीजे के तौर पर व्यय में कटौती होती है और आर्थिक वृद्धि में धीमापन आता है। लेकिन, इसी प्रक्रिया में भविष्य की आर्थिक वृद्धि की बुनियाद रखी जाती है और एक बार फिर आगे किये जाने वाले निवेश के लिए बचत करने के रुझान पैदा होते हैं।

विलफ्रेडो परेटो इतालवी पिता की संतान थे जिन्हें इटली की सरकार की नीतियों का विरोध करने के कारण पेरिस में निर्वासित जीवन व्यतीत करना पड़ रहा था। उनके मध्यवर्गीय परिवार ने उनकी प्राथमिक शिक्षा का अच्छा प्रबंध किया और उन्हें कठोर अध्ययन व सादगीपूर्ण जीवन जीने के संस्कार दिये। 1858 में इटली लौट कर उन्होंने इंजीनियरिंग की डिग्री ली। इंजीनियर की नौकरी करने के दौरान परेटो ने इंग्लैंड और स्कॉटलैंड की कई यात्राएँ कीं और इस दौरान

उन्हें ब्रिटिश अर्थव्यवस्था का अवलोकन करने का मौक़ा मिला। उन्होंने देखा कि मुक्त बाज़ार नीति का ब्रिटेन को कितना फ़ायदा हो रहा है। वे ऐडम स्मिथ सोसाइटी के सक्रिय सदस्य बन गये और लोकतंत्र व मुक्त व्यापार के समर्थन में लेखन करने लगे। परेटो को रात में नींद कम आती थी। इस समय का सदुपयोग उन्होंने राजनीतिक अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र के अध्ययन में किया। रिटायर होने के बाद उन्होंने अपनी इंजीनियरिंग ट्रेनिंग का फ़ायदा उठा कर आर्थिक विश्लेषण को गणितीय रूपों में व्यक्त करना शुरू किया। जल्दी ही उनकी ख्याति बढ़ गयी और उन्हें लुज़ाने विश्वविद्यालय में लियोन वालरस की जगह नियुक्ति मिल गयी। आगे चल कर परेटो गणितीय विधियों की संकीर्णता से उकता गये और ऐतिहासिक और सांस्कृतिक संदर्भों के आईने में आर्थिक गतिविधियों को परखने का प्रयास करने लगे। अपने चाचा से विरासत में प्राप्त सम्पत्ति से उन्होंने एक विशाल बंगला ख़रीदा जिसमें किसी संन्यासी की तरह अकेले अपनी पालतू बिल्लियों के साथ रहते हुए उन्होंने अपना जीवन अर्थशास्त्र की समस्याओं पर गौर करते हुए गुज़ारा।

अर्थशास्त्र को गणितीय आधार देने के अलावा परेटो अपने तीन अन्य योगदानों के लिए भी जाने जाते हैं। उन्होंने आमदनी वितरण के नियम का विकास किया जो आज भी उनके नाम से ही जाना जाता है। उन्होंने अर्थशास्त्रियों का ध्यान कार्डिनल उपयोगिता से हटा कर ओर्डिनल उपयोगिता की तरफ़ दिलाया। उन्होंने एक ऐसी परीक्षा विधि भी विकसित की जिसके जरिये पता लगाया जा सकता था कि आर्थिक परिणाम सुधारे जा सकते या नहीं। इसे परेटो द्वारा प्रतिपादित अनुकूलतम परिस्थिति के सिद्धांत के नाम से भी जाना जाता है।

परेटो ने विभिन्न राष्ट्रों में आमदनी की विषमताओं का अध्ययन किया और देखा कि यह आय-वितरण एक सहज पैटर्न के मुताबिक़ होता है। उन्होंने परिवारों का क्रम उनकी आमदनी के हिसाब से लगाया और फिर उनकी आमदनी दर्ज करके उसका विश्लेषण किया। नतीजा यह निकला कि आय अनुपात में या अंकगणितीय रूप से नहीं बढ़ रही है। सबसे ज़्यादा ग़रीब परिवार से लेकर सबसे ज़्यादा अमीर परिवार तक के क्रम में आय ज्यामितीय रूप से बढ़ती दिखी। अगर आय अंकगणितीय क्रम से बढ़ती तो तीसवें नंबर का परिवार बीसवें नंबर के परिवार से बीस फ़ीसदी ज़्यादा कमाता और यही क्रम सौवें और नब्बेवें परिवार के बीच प्राप्त होता। लेकिन आमदनी बढ़ने की ज्यामितीय दर बता रही थी कि तीसवें स्थान का परिवार बीसवें स्थान वाले परिवार से दस फ़ीसदी ज़्यादा कमा रहा था जबकि पचासवें स्थान का परिवार चालीसवें स्थान के परिवार से पचास फ़ीसदी ज़्यादा और सौवें स्थान वाला परिवार नब्बेवें स्थान वाले परिवार से सौ फ़ीसदी ज़्यादा कमा रहा था।



विलफ्रेडो परेटो (1848-1923)

परेटो ने अमेरिका और कई युरोपियन देशों में आय वितरण पर निगाह डाली और पाया कि विषमता की स्थिति एक पैटर्न के रूप में तक्ररीबन ऐसी ही है। इसलिए उन्होंने इसे नियम की संज्ञा दी। परेटो का खयाल था कि विषमता इसी तरह जारी रहेगी क्योंकि मालदार लोग अपने राजनीतिक रुतबे का फ़ायदा उठा कर वितरण के इस पैटर्न को बदलने ही नहीं देंगे। परेटो के इस नियम से बहुत विवाद पैदा हुआ, क्योंकि इसके साथ कई सामाजिक-राजनीतिक मुद्दे जुड़े हुए थे जिन पर विचार करने से अर्थशास्त्री आम तौर पर कतराते रहते थे। लेकिन, परेटो की इस खोज को आर्थिक विज्ञान में होने वाली एक महत्त्वपूर्ण प्रगति का दर्जा भी मिला। परेटो से पहले किसी अर्थशास्त्री ने दुनिया के बहुत से देशों की आमदनियों के आँकड़ों का विश्लेषण नहीं किया था।

ओर्डिनल उपयोगिता को कार्डिनल उपयोगिता पर प्राथमिकता दे कर परेटो ने अर्थशास्त्रियों से आग्रह किया कि वे उपभोक्ता से बहुत ज़्यादा अपेक्षाएँ न करें। कार्डिनल उपयोगिता के मुताबिक़ उपभोक्ता से न केवल यह उम्मीद की जाती थी कि वह एक वस्तु के ऊपर दूसरी को प्राथमिकता देना जानता होगा, बल्कि यह भी जानता होगा कि उस प्राथमिकता की मात्रा क्या होगी। जबकि ओर्डिनल उपयोगिता के उसूल के मुताबिक़ उपभोक्ता से केवल प्राथमिकता देने की आशा ही की जानी चाहिए थी। व्यवहार में कार्डिनल और ओर्डिनल उपयोगिता के बीच अंतर इस तरह समझा जा सकता है : अगर एक उपभोक्ता अनन्नास के ऊपर आम को

प्राथमिकता देता है, तो उससे यह जानने की अपेक्षा करना गलत होगा कि वह आम को अनन्नास से दो सौ फ़ीसदी उपयोगिता मानता है या डेढ़ सौ फ़ीसदी। उपभोक्ता का ख़रीद-व्यवहार ऐसी कोई सूचना नहीं देता। परेटो के इस आग्रह का परिणाम यह हुआ कि विभिन्न लोगों द्वारा ग्रहण की जाने वाली उपयोगिता को नापना ज़रूरी नहीं रह गया। जेरेमी बेंथम और जेम्स स्टुअर्ट मिल द्वारा विकसित उपयोगितावाद का दर्शन में इस उलझन से ग्रस्त था। परेटो के सूत्रीकरण का नतीजा यह हुआ कि उपयोगिता नापने का पैमाना बनाने की कोशिशें ही रुक गयीं। इसी तरह अंतर्व्यक्तिक संबंधों में भी उपयोगिता की तुलनाएँ करने का रवैया छोड़ दिया गया। यही काफ़ी समझा जाने लगा कि अगर दो व्यक्ति दो चीज़ों का विनिमय कर रहे हैं तो वे जो दे रहे हैं उसके मुकाबले उनके लिए प्राप्त की जाने वाली चीज़ की उपयोगिता अधिक है। अगर ऐसा न होता तो वे यह विनिमय करते ही क्यों।

परेटो का तीसरा योगदान अनुकूलतम परिस्थिति के सिद्धांत के रूप में सामने आया। आर्थिक मामलों की अनुकूलतम स्थिति की खोज करते समय परेटो इस नतीजे पर पहुँचे कि कुछ आर्थिक परिणाम किसी भी तरीके से बेहतर नहीं किये जा सकते। अगर किसी एक व्यक्ति की स्थिति को बेहतर किया जाना है तो उसके लिए किसी दूसरे व्यक्ति की स्थिति को कमतर करना होगा। यानी कुल मिला कर स्थिति में कोई सुधार नहीं होगा। परेटो का कहना था कि दो व्यक्ति तभी कोई लेन-देन करते हैं जब दोनों को फ़ायदे की उम्मीद हो। अगर लाभ किसी एक को ही होगा तो विनिमय होगा ही नहीं। ऐसी स्थिति के बावजूद अगर दबाव डाल कर वस्तुओं का पुनर्वितरण करने की कोशिश की जाएगी तो कुल मिला कर स्थिति में या आर्थिक प्रदर्शन में कोई सुधार नहीं होगा। इसलिए बाज़ार में मुक्त विनिमय की स्थिति ही अनुकूलतम कही जा सकती है।

परेटो के इस सिद्धांत के नतीजे नीतिगत क्षेत्र में निकलने लाज़मी थे। कल्याणकारी अर्थशास्त्र की पैरोकारी के लिए भी इसका इस्तेमाल किया गया। इसके मुताबिक़ बिना किसी का नुक़सान किये अगर हर व्यक्ति की बेहतरी हो सके तो आर्थिक कल्याण में सुधार हो सकता है। यह अनुकूलतम परिस्थिति पैदा हो सके इसलिए लाज़मी समझा गया कि उपभोक्ताओं के स्तर पर जिस सीमांत दर से उपभोग में प्रतिस्थापन हो, उसी सीमांत दर से उत्पादक अपने उत्पादन में तब्दीली करें। परेटो के अनुसार केवल ऐसा होने पर ही सभी उत्पादन प्रक्रियाओं की सीमांत लागत सीमांत आमदनी के बराबर हो सकती है। दूसरी तरफ़, तीस के दशक में अर्थशास्त्रियों का यह खयाल भी था कि मूल्यगत विवेक का इस्तेमाल किये बिना अनुकूलतम ये परिस्थिति के इस सिद्धांत के जरिये आर्थिक प्रदर्शन का मूल्यांकन किया जा सकता है।

इसलिए उन्होंने इस प्रश्न पर काफ़ी दिमाग़ खपाया और यह पता लगाने की कोशिश की कि कुछ विशेष परिस्थितियों में यह उसूल कारगर होने से चूकता तो नहीं है। परेटो के इस उसूल को अमीरों को टैक्स रियायतें देने के लिए इस्तेमाल किया जाता है : अगर मालदार लोगों को ये रियायतें मिलेंगी तो वे निवेश ज्यादा कर सकेंगे और आर्थिक उछाल आएगा और नतीजे के तौर पर गरीबों की भी बेहतरी होगी। इस स्थिति में इसे परेटो-सुपीरियर की संज्ञा दी जाएगी। अगर टैक्स रियायतों से आर्थिक उछाल नहीं आया तो राजस्व की भरपाई किसी न किसी की जेब से तो करनी ही होगी। मालदारों को फ़ायदा होगा, और आम आदमी की जेब खाली होगी। यह परेटो-ओप्टिमल माना जाएगा।

परेटो ओप्टिमल की आलोचना करते हुए अमर्त्य सेन ने दावा किया है कि इस सिद्धांत से निकलने वाले नतीजे मूल्य-तटस्थ या वैज्ञानिक नहीं कहे जा सकते। यह सिद्धांत इस पूर्वधारणा पर आधारित है कि अगर कोई परिवर्तन व्यक्ति को खुशहाल बनाता है तो इससे कुल मिला कर वह समाज भी खुशहाल होता है। इस मान्यता को सही नहीं माना जा सकता। दूसरे, यह सिद्धांत सभी परिस्थितियों में श्रेयस्कर नहीं है। मसलन, अकाल की स्थिति क्रायदे से परेटो ओप्टिमल है और जनता को भुखमरी से बचाने के लिए किया गया पुनर्वितरण परेटो ओप्टिमल के खिलाफ़ चला जाएगा।

देखें : अर्थ-विज्ञान का समाजशास्त्र, आर्थिक जनसांख्यिकी, अल्फ्रेड मार्शल, अमर्त्य कुमार सेन, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, एडम स्मिथ, करारोपण, कल्याणकारी अर्थशास्त्र, क्लासिकल अर्थशास्त्र, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-3, कार्ल मेंगर, कींसियन अर्थशास्त्र, गुनार मिर्डाल, जोआन रोबिंसन, जॉन कैनेथ गालब्रेथ, जॉन मेनार्ड कींस, जॉन स्टुअर्ट मिल, जोसेफ़ शुमपीटर, जैव विविधता, ट्रस्टीशिप, डेविड रिकार्डो, ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम, थॉमस मन और वणिकवाद, थॉमस रॉबर्ट माल्थस, दक्षता, धन, नियोजकशास्त्र, नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र, निकोलस काल्दोर, नियोजन, नियोजन : मार्क्सवादी विमर्श, पण्य, पण्य-पूजा, पेटेंट, पॉल सेमुअलसन, पियरो साफ़ा, पूँजी, प्रतियोगिता, फ़्रांस्वा केस्ने और प्रकृतिवाद, फ्रेड्रिख वॉन हायक, बहुराष्ट्रीय निगम, बाज़ार, बाज़ार की विफलताएँ, बाज़ार-समाजवाद, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, भारत में बहुराष्ट्रीय निगम, भारत में नियोजन, भारत में पेटेंट क़ानून, भारत में श्रेय संस्कृति, भूमण्डलीकरण और पूँजी बाज़ार, भूमण्डलीकरण और वित्तीय पूँजी, भूमण्डलीकरण और वित्तीय उपकरण, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, मिल्टन फ़्रीडमैन, मूल्य, राजनीतिक अर्थशास्त्र, राजनीतिक अर्थशास्त्र : भारतीय आयाम, राजकोपीय नीति और मौद्रिक नीति, रॉबर्ट ओवेन, विश्व व्यापार संगठन, विश्व बैंक, विलियम पेटी, विलियम स्टेनली जेवंस, वैकासिक अर्थशास्त्र, शोषण, साइमन कुज़नेत्स।

संदर्भ

1. रेनाटो सिरिलो (1979), *द इकॉनॉमिक्स ऑफ़ विलफ्रेडो परेटो*, फ्रेंक कैस, लंदन.
2. एच. चार्ल्स पावर्स 1987(), *विलफ्रेडो परेटो*, सेज पब्लिकेशंस, न्यूबरी पार्क.
3. जोसेफ़ शुमपीटर (1949), 'विलफ्रेडो परेटो 1848-1923', *क्वार्टरली जरनल ऑफ़ इकॉनॉमिक्स*, 63.

— अभय कुमार दुबे

विलियम पेटी

(William Petty)

अर्थशास्त्र को मात्रात्मक और सांख्यिकीय विज्ञान बनाने वाले शुरुआती विद्वानों में विलियम पेटी (1623-1687) का नाम सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। उन्होंने न केवल सार्वजनिक वित्त का अध्ययन किया और अधिशेष मूल्य की धारणा व्याख्यायित करके आर्थिक विज्ञान में अहम योगदान दिया, बल्कि आँकड़ों और संख्याओं का इस्तेमाल करके अर्थव्यवस्था के वास्तविक कामकाज को समझने की विधियों को भी स्थापित किया। पेटी ने अपने ज़माने में ब्रिटिश अर्थव्यवस्था को समझने के लिए कुछ पैमाने बनाने का प्रयास करके आँकड़ों के खेल को 'राजनीतिक अंकगणित' की संज्ञा दी। पेटी ने सरकारों से अपील की कि वे अपने-अपने आर्थिक बंदोबस्त से संबंधित जानकारियाँ और आँकड़े जमा करने पर जोर दें ताकि उनकी मदद से पता लगाया जा सके कि अर्थव्यवस्था में होने वाले परिवर्तनों के कारण क्या हैं। जाहिर है कि सत्रहवीं सदी में सरकारें पेटी की यह इच्छा पूरी नहीं कर सकीं। विश्लेषण हेतु भरोसेमंद सांख्यिकी की नियमित उपलब्धि के लिए अर्थशास्त्रियों को अगले दो सौ साल तक इंतज़ार करना पड़ा।

विलियम पेटी दक्षिण इंग्लैण्ड में हैमशायर के एक गरीब कपड़ा मज़दूर के बेटे थे। उन दिनों निम्न वर्ग के बच्चों की पढ़ाई-लिखाई मुख्य तौर पर पाठ रटने तक सीमित रहती थी। पर पेटी ने अपने प्रयासों से यह सीमा भी लाँघी और साहित्य व विज्ञान का अध्ययन किया। 13-14 साल की उम्र में उन्हें एक जहाज़ पर बैरे की नौकरी करनी पड़ी। जब उनका जहाज़ इंग्लिश चैनल के फ़्रांसीसी तट पर पहुँचने वाला था, तभी दुर्घटनावश पेटी की टाँग टूट गयी। चूँकि जहाज़ मालिक के लिए उनकी कोई उपयोगिता नहीं रह गयी थी इसलिए उसने पेटी को वहीं उतार दिया। मौक़ा देख कर पेटी फ़्रांस में ही रुक गये और केन के जीसूट कॉलेज में दाख़िला ले लिया। उन्होंने 1640 में वापसी की और तीन



विलियम पेटी (1623-1687)

साल नौ सेना में बिताये। इसके बाद वे शरीरशास्त्र और औषधि विज्ञान का अध्ययन करने हालैण्ड चले गये। 1646 में इंग्लैण्ड लौट कर पेटी ने ऑक्सफ़र्ड से औषधि विज्ञान में डॉक्टरेट की और वहीं शरीरशास्त्र के प्रोफ़ेसर हो गये। लेकिन अपना पहला व्याख्यान देने के बाद ही उन्हें लगा कि अकादमिक जीवन उन्हें रास नहीं आएगा। उन्होंने आयरलैण्ड का मुख्य सर्वेक्षक बनना पसंद किया। सैनिक भूमि सर्वेक्षण पेटी के लिए सोने की खान साबित हुआ और वे जल्दी ही एक अमीर भू-स्वामी बन गये। 1660 के दशक में पेटी ने लंदन की रॉयल सोसाइटी की स्थापना में मदद की ताकि प्राकृतिक जगत और समाज का अध्ययन करने के लिए प्रेक्षण और प्रयोग की फ़्रांसिस बेकन द्वारा स्थापित विधियों का इस्तेमाल किया जा सके।

1671 में प्रकाशित अपनी रचना *पॉलिटिकल अर्थमेटिक* में पेटी ने दावा किया कि वे उनका मक़सद इंग्लैण्ड की अर्थव्यवस्था से संबंधित प्रचलित विश्वासों का खण्डन करना है। वे यह मानने के लिए तैयार नहीं थे कि अर्थव्यवस्था में गिरावट आ रही है या उससे व्यापार का हास हो रहा है। उन्होंने रॉयल सोसाइटी के अनुसंधान कार्यक्रम को आर्थिक परिघटना पर लागू करके साबित किया कि इंग्लैण्ड किसी भी ज़माने के मुक़ाबले अधिक समृद्ध है। चूँकि उस युग में न तो सरकारें आँकड़े जमा करती थीं और न ही अख़बार वित्तीय तथ्य प्रकाशित करते थे, इसलिए पेटी ने

सांख्यिकी एकत्रित करने का ज़िम्मा खुद उठाने का फैसला किया। आर्थिक और सामाजिक आयामों की हकीकत का पता लगाने के लिए संख्याओं का प्रयोग उस ज़माने के लिए एक नयी बात थी। पेटी की निगाह में यह प्रक्रिया न केवल इंग्लैण्ड के लिए इस्तेमाल की जानी चाहिए थी, बल्कि उसका विस्तार दुनिया के आर्थिक-सामाजिक यथार्थ को जानने के लिए भी किया जाना चाहिए था। उनकी कोशिशों के परिणामस्वरूप आर्थिक विश्लेषण नैतिकताओं और व्यक्तिगत आस्थाओं की जकड़ से मुक्त हो कर एक वस्तुनिष्ठ विज्ञान बनने की तरफ़ बढ़ पाया।

लंदन की समृद्धि और आर्थिक विकास को साबित करने के लिए पेटी ने दिखाया कि पेरिस के मुक़ाबले लंदन में लोग भी ज़्यादा रहते हैं और घरों की संख्या भी अधिक है। दोनों शहरों की मृत्यु दर समान मान कर पेटी ने यह भी दिखाया कि लंदन के कब्रिस्तानों में अधिक लोग दफ़नाए जाते हैं। अधिक आबादी का मतलब उनके लिए बेहतर आर्थिक स्थिति था। आज के ज़माने में पेटी का यह तर्क कुछ विचित्र लग सकता है, क्योंकि कई देशों की ग़रीबी का कारण उनकी बढ़ी हुई आबादी में ढूँढ़ा जाता है। पर सत्रहवीं सदी में समृद्धि नापने के लिए इस तरह के अप्रत्यक्ष तरीकों का इस्तेमाल करना पेटी की मजबूरी थी। जन्म दर नियंत्रण की आधुनिक विधियाँ विकसित होने से पहले आबादी और उसकी बढ़ोतरी इस बात पर निर्भर करती थी कि किसी देश में बच्चे जीवित रह पा रहे हैं या नहीं। बच्चों की उत्तरजीविता और बेहतर राष्ट्रीय समृद्धि के बीच सीधा संबंध स्थापित किया जा सकता था। दूसरी तरफ़ से देखने पर अधिक राष्ट्रीय समृद्धि का परिणाम आबादी की तेज़ वृद्धि के रूप में दिखाई पड़ता था। उस युग की सीमाओं के लिहाज़ से पेटी का यह विश्लेषण सर्वश्रेष्ठ था।

अर्थशास्त्र के इतिहास में पेटी को कई बार वणिक्वादी विचारों के साथ जोड़ दिया जाता है, पर पेटी व्यापार अधिशेष का इस्तेमाल थॉमस मन के तर्ज़ पर ख़जाना भरने के लिए नहीं बल्कि रोज़गार बढ़ाने के लिए करना चाहते थे। वणिक्वादियों के विपरीत वे मुक्त अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभों को भी समझते थे। उनकी निगाह में आर्थिक खुशहाली का रास्ता केवल व्यापार अधिशेष जमा करते रहना ही नहीं था। उनकी तजवीज़ यह थी कि सार्वजनिक वित्त, सरकारी खर्च और टैक्स लगाने की नीतियों पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। उन्होंने इंग्लैण्ड की कर प्रणाली की कड़ी आलोचना की क्योंकि उसके तहत टैक्स वसूलने की लागत काफ़ी ऊँची थी। इसके बावजूद जिन पर टैक्स बक्राया होता था, उनसे वसूली नहीं हो पाती थी। कर वसूली की प्रक्रिया कई तरह की नाइंसाफ़ियों का कारण भी थी। पेटी ने राजस्व जमा करने के लिए सरकार द्वारा लॉटरियाँ बेचने की भी निंदा की। वे लोगों पर उनकी समृद्धि या सम्पत्ति के हिसाब से कर लगाने

के पक्षधर थे। उन्होंने उपभोग पर आनुपातिक कर लगाने की सिफारिश भी की।

पेटी का ध्यान कर-राजस्व खर्च करने के तरीकों पर भी था। उनका विचार था कि अगर राजस्व आर्थिक परिसंचरण से हटा लिया जाएगा तो अर्थव्यवस्था को नुकसान पहुँचेगा। सरकार को चाहिए कि वह राजस्व आमदनी को खर्च करे ताकि लोगों को उसके जरिये काम मिल सके। पेटी का दावा था कि करारोपण और व्यय से उपभोग और उच्च उत्पादकता वाले जिंसों के उत्पादन में वृद्धि होती है जिससे राष्ट्रीय उत्पादन बढ़ता है। पेटी के इस प्रेक्षण को बीसवीं सदी में निकोलस काल्दोर जैसे अर्थशास्त्रियों की स्थापनाओं में ध्वनित होते देखा जा सकता है।

पेटी के कई विचार कौंस के सिद्धांतों में भी झलकते हैं। मसलन, वे चाहते थे कि सरकार प्रतिरक्षा, न्याय, स्कूलों, गरीबों को राहत देने और सार्वजनिक निर्माण पर तो खर्च करे ही, उसे ऐसे अनुपयोगी लगने वाले आइटमों पर भी खर्च करने से नहीं कतराना चाहिए जिनसे रोजगार पैदा हो सकते हों और निठल्लेपन का उन्मूलन हो सकता हो। इस सिलसिले में पेटी का यह कथन मशहूर है कि अगर सेलिसबरी के मैदान में एक व्यर्थ का पिरामिड भी बनवाना पड़े तो भी बनवाना चाहिए। इससे लोगों को पत्थर ढोने का काम तो मिलेगा।

पेटी का योगदान केवल तथ्यात्मक और व्यावहारिक क्रिस्म का ही नहीं था। अधिशेष मूल्य के विचार को परिभाषित करने वाले वे पहले अर्थशास्त्री थे। ज़मीन के लगान को अधिशेष मूल्य की तरह समझने का श्रेय आम तौर से केस्ने और उनके प्रकृतिवादी साथियों को दिया जाता है, पर दरअसल यह सिद्धांत पेटी ने विकसित किया था।

अर्थशास्त्र की दुनिया में पेटी के वास्तविक योगदान के सवाल पर कुछ विवाद है। उनके कुछ आलोचक उन्हें वणिकवादियों की श्रेणी में रखते हैं। कुछ उनका ताल्लुक प्रकृतिवादियों से जोड़ते हैं। जोसेफ़ शुमपीटर के अनुसार मार्क्स ने पेटी के योगदान का बढ़ा-चढ़ा कर बताया है। शुमपीटर यह भी नहीं मानते कि पेटी को अधिशेष की धारणा परिभाषित करने का श्रेय दिया जाना चाहिए।

देखें : अर्थ-विज्ञान का समाजशास्त्र, आर्थिक जनसांख्यिकी, अल्फ्रेड मार्शल, अमर्त्य कुमार सेन, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, एडम स्मिथ, करारोपण, कल्याणकारी अर्थशास्त्र, क्लासिकल अर्थशास्त्र, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-3, कार्ल मंगर, कौंसियन अर्थशास्त्र, गुन्नार मिर्डाल, जोआन रोबिंसन, जॉन कैनेथ गालब्रेथ, जॉन मेनार्ड कौंस, जॉन स्टुअर्ट मिल, जोसेफ़ शुमपीटर, जैव विविधता, ट्रस्टीशिप, डेविड रिकार्डो, ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम, थॉमस मन और वणिकवाद, थॉमस रॉबर्ट माल्थस, दक्षता, धन, नियोक्लासिकल अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र, निकोलस काल्दोर, नियोजन, नियोजन : मार्क्सवादी विमर्श, पण्य, पण्य-पूजा, पेटेंट, पॉल सेमुअलसन, पियरो साफ़ा, पूँजी, प्रतियोगिता,

फ्रांस्वा केस्ने और प्रकृतिवाद, फ्रेड्रिख वॉन हायक, बहुराष्ट्रीय निगम, बाज़ार, बाज़ार की विफलताएँ, बाज़ार-समाजवाद, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, भारत में बहुराष्ट्रीय निगम, भारत में नियोजन, भारत में पेटेंट क़ानून, भारत में शेर्य संस्कृति, भूमण्डलीकरण और पूँजी बाज़ार, भूमण्डलीकरण और वित्तीय पूँजी, भूमण्डलीकरण और वित्तीय उपकरण, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, मिल्टन फ़्रीडमैन, मूल्य, राजनीतिक अर्थशास्त्र, राजनीतिक अर्थशास्त्र : भारतीय आयाम, राजकोषीय नीति और मौद्रिक नीति, रॉबर्ट ओवेन, विलफ्रेडो परेटी, विश्व व्यापार संगठन, विश्व बैंक, विलियम स्टेनली जेवंस, वैकासिक अर्थशास्त्र, शोषण, साइमन कुज़नेत्स।

संदर्भ

1. ए.वी. एनीकिन (1983), *आर्थिक विज्ञान का युवा काल : मार्क्स-पूर्व का अर्थशास्त्र*, अनुवाद : गिरीश मिश्र, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली।
2. टेरेंस हचिसन (1988), *बिफ़ोर ऐडम स्मिथ : द इमरजेंस ऑफ़ पॉलिटिकल इकॉनॉमी*, 1662-1776, बेसिल ब्लैकवेल, ऑक्सफ़र्ड।
3. अलेसांद्रो रॉकाग्लिया (1985), *पेटी*, एम.ई. शार्प, आरमंक, न्यूयॉर्क।
4. एरिक स्ट्रॉस (1954), *सर विलियम पेटी : पोर्ट्रेट ऑफ़ अ जीनियस*, बोडले हेड, लंदन।
5. सी.एच. हल (सम्पा.) (1989), *द इकॉनॉमिक राइटिंग्स ऑफ़ सर विलियम पेटी*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज।

— अभय कुमार दुबे

विलियम स्टेनली जेवंस

(William Stanley Jevons)

क्लासिकल और नियोक्लासिकल अर्थशास्त्र के बीच संक्रमण काल में आर्थिक विज्ञान पर जिन अर्थशास्त्रियों ने अपनी विशिष्ट छाप छोड़ी उनमें विलियम स्टेनली जेवंस (1835-1882) का नाम प्रमुख है। उनका प्रमुख योगदान सीमांत उपयोगिता के सिद्धांत का विकास माना जाता है। उन्होंने अपने इस सूत्रीकरण का इस्तेमाल यह समझने में भी किया कि उपभोग और श्रम संबंधी निर्णयों का क्या आधार होता है। जेवंस का आर्थिक विमर्श अलग तरह का था और उसकी अंतर्दृष्टियों ने अर्थशास्त्र के अनुशासन को काफ़ी लाभ पहुँचाया। उपभोक्ता और उपभोक्ता-व्यवहार को आर्थिक विश्लेषण के केंद्र में लाने का श्रेय उन्हीं को है। उन्नीसवीं सदी में सम्भवतः जेवंस को छोड़ कर ऊर्जा संसाधनों के क्षय को लेकर चिंतित होने वाला समाजवैज्ञानिक कोई दूसरा नहीं था।



विलियम स्टेनली जेवंस (1835-1882)

उन्होंने व्यापार चक्रों के इतिहासकार की भूमिका भी निभायी। क्लासिकल अर्थशास्त्रियों की मान्यता थी कि वस्तुओं के सापेक्षिक दाम उनके उत्पादन की लागत पर निर्भर करते हैं। जेवंस ने सीमांत उपयोगिता के विचार का इस्तेमाल करते हुए तर्क दिया कि सापेक्षिक दाम लोगों द्वारा किये जाने वाले उस आकलन पर निर्भर करते हैं जिसका आधार वह संतोष होता है जो उन्हें किसी चीज़ को खरीदने से मिलता है।

लिवरपूल, इंग्लैण्ड के एक उच्च-मध्यमवर्गीय परिवार में पैदा हुए विलियम स्टेनली जेवंस को बचपन में बेहतरीन शिक्षा प्राप्त हुई। उन्होंने धातुविज्ञान और गणित का अध्ययन किया। लेकिन, ब्रिटिश रेलवे व्यवसाय में आये उछाल का अंत हो जाने के कारण जेवंस का परिवार दिवालिया हो गया जिसके कारण उन्हें अपनी पढ़ाई रोकनी पड़ी। ऑस्ट्रेलिया में नौकरी करते हुए न्यू साउथ वेल्स के लिए रेलवे लाइन बनाने में पैसा लगाने के सवाल पर हुए विवाद से उनकी दिलचस्पी अर्थशास्त्र में पैदा हुई। उन्होंने स्मिथ, माल्थस और मिल का गहन अध्ययन किया। इंग्लैण्ड लौट कर उन्होंने फिर से गणित, राजनीतिक अर्थशास्त्र, दर्शन और इतिहास का अध्ययन शुरू किया। मैनचेस्टर में तेरह साल तक अध्यापन करने के बाद जेवंस युनिवर्सिटी कॉलेज, लंदन में राजनीतिक अर्थशास्त्र के प्रोफेसर हो गये। इसी दौरान उन्होंने लेखन कार्य शुरू किया। अध्यापन के कारण लेखन में बाधा पड़ने के कारण उन्होंने नौकरी छोड़ दी, लेकिन तब तक अत्यधिक परिश्रम के कारण उनका स्वास्थ्य खराब हो चुका था। दो

साल बाद तैरते समय डूबने से उनकी मृत्यु हुई।

जेवंस ने अर्थशास्त्री के रूप में अपना करियर *द कोल क्वेश्चन* (1865) शीर्षक से लिखी गयी पुस्तक से शुरू किया। इसमें उन्होंने भविष्यवाणी की कि इंग्लैण्ड जल्दी ही ऊर्जा की जबरदस्त कमी का शिकार होने वाला है। कोयले की कुल सप्लाई का तखमीना लगा कर और साथ में कोयले की खपत के अनुमान के जरिये उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि माँग बढ़ रही है पर सप्लाई उसके मुताबिक बढ़ती हुई नहीं दिख रही है। इसके कारण कोयले के दाम तेज़ी से बढ़ेंगे, और खतरा यह है कि इंग्लैण्ड की आर्थिक वृद्धि रुक सकती है। जेवंस को यह उम्मीद नहीं थी कि कोयले की जगह इस्तेमाल होने वाली ऊर्जा मिल जाएगी। वे यह मानने के लिए भी तैयार नहीं हुए कि ऊर्जा संरक्षण के उपायों से कोई फ़र्क पड़ेगा। जेवंस ने कोयले पर टैक्स लगाने और ब्रिटिश कोयले के निर्यात पर रोक जैसे क्रदमों के प्रभाव पर भी विचार नहीं किया। उनकी सिफ़ारिश थी कि ब्रिटेन को अपना राष्ट्रीय क़र्ज फ़ौरन उतार देना चाहिए ताकि आर्थिक वृद्धि ठप हो जाने की सूरत में आने वाली पीढ़ियों पर कोई बोझ न रहे।

अपनी खामियों के बावजूद *द कोल क्वेश्चन* ने जेवंस को रातों-रात मशहूर कर दिया। जॉन स्टुअर्ट मिल ने संसद में उनकी तारीफ़ की और कोयले की उपलब्धता पर विचार करने के लिए एक शाही कमीशन गठित किया गया। अखबारों ने भी ऊर्जा संकट के अंदेशों के बारे में अटकलें लगानी शुरू कर दीं।

बहरहाल, अर्थशास्त्र की दुनिया में जेवंस को ऊर्जा संकट की भविष्यवाणियों के लिए नहीं बल्कि उपयोगिता-विश्लेषण को इस अनुशासन का अंग बनाने के लिए जाना जाता है। दरअसल, उपयोगिता के आत्मपरक आकलन का सूत्रीकरण दरअसल तीन अर्थशास्त्रियों ने अलग-अलग स्वतंत्र रूप से किया था। जेवंस के अलावा ऑस्ट्रियाई अर्थशास्त्री कार्ल मेंगर और जे.बी. क्लार्क को भी यह श्रेय जाता है। लेकिन, जेवंस मेंगर से भी आगे निकल गये और उन्होंने उपयोगिता विश्लेषण को न केवल आर्थिक विमर्श में स्थापित किया, बल्कि उसके फलितार्थों और सम्भव प्रयोगों की रूपरेखा भी पेश की।

इस सिद्धांत की खोज जेवंस ने ऑस्ट्रेलिया में काम करते हुए की। 1860 में अपने भाई को लिखे पत्र में उन्होंने इस विचार को सहज रूप से इस प्रकार सूत्रबद्ध किया : किसी व्यक्ति द्वारा खाये जाने वाले साधारण खाद्य की मात्रा बढ़ने के साथ ही उस खाद्य के अंतिम उपभोग किये जाने वाले अंश की उपयोगिता या लाभ की डिग्री घट जाती है। कई साल बाद जेवंस ने सम्पूर्ण उपयोगिता और उपयोगिता की डिग्री या सीमांत उपयोगिता (मार्जिनल उपयोगिता) के बीच सटीक अंतर करके दिखाया जिससे उपभोक्ता व्यवहार

के आधुनिक सिद्धांत का जन्म हुआ। जेवंस ने देखा कि अगर लोग किसी वस्तु का अधिकाधिक इस्तेमाल करते हैं तो उसके उपभोग से प्राप्त होने वाली उपयोगिता उनके लिए आम तौर पर बढ़ जाती है। लेकिन जब उपभोग और बढ़ता जाता है तो उस वस्तु की अतिरिक्त मात्रा से मिलने वाली उपयोगिता घटने लगती है। अपने सूखे गले को तर करने वाले व्यक्ति को पहली बियर अधिक उपयोगी लगती है, दूसरी उससे कम और तीसरी उससे भी कम। पाँचवें और छठवें गिलास की नौबत आने तक पीने वाला अगले गिलास से किसी तरह की अतिरिक्त उपयोगिता प्राप्त नहीं कर पाता।

उपयोगिता के आत्मपरक आकलन के मुताबिक उपभोक्ता वही वस्तु खरीदता है जो उसे सबसे ज्यादा संतोष दे सके। उपभोक्ता उस समय संतुलनावस्था को प्राप्त कर लेता है जब उसके व्यय में होने वाला कोई परिवर्तन उसकी सम्पूर्ण उपयोगिता को नहीं बढ़ा पाता। अगर वह अधिक उपयोगिता से सम्पन्न वस्तुएँ खरीद सके और कम उपयोगिता वाली वस्तुओं की अपेक्षाकृत कम खरीद करे तो वह खुद को बेहतर स्थिति में महसूस करेगा। इस विभेद और सिद्धांत का प्रतियोगी बाजारों में कीमत-निर्धारण प्रक्रिया की समझ हासिल करने के लिए अहम इस्तेमाल हुआ। उत्पादक और अनुत्पादक श्रम में विभेद का आधार और मकसद पूँजी-निर्माण प्रक्रिया में दोनों का भिन्न-भिन्न योगदान होता है। सेवाओं आदि के उत्पादन का बचत और पूँजी-निर्माण में प्रत्यक्ष योगदान नहीं हो पाता है, क्योंकि सेवाओं के प्रतिफल को भविष्य के लिए बचा कर नहीं रखा जा सकता।

इस सिद्धांत के नीतिगत फलितार्थ यह हुए कि सरकारें उपभोक्ताओं द्वारा खरीदी जाने वाली वस्तुओं और सेवाओं को विनियमित करने से बाज आने लगीं। मसलन, अगर सिगरेट और एल्कोहल बिना किसी बाधा के उपलब्ध है तो उपभोक्ता उनकी उतनी ही मात्रा खरीदेगा जितने से उसे अधिकतम उपयोगिता हासिल हो सके। लेकिन, अगर सरकारी नीतियों के कारण इनका खरीदना कठिन हो जाए तो देश भर में उपभोक्ताओं के संतोष की मात्रा गिर जाएगी। जेवंस ने यही सिद्धांत श्रम पर भी लागू करके दिखाया कि मजदूरी का निर्धारण कैसे होता है और श्रम-बाजार कैसे काम करता है। इसमें जेवंस यह पूर्वधारणा बना कर चले कि मजदूर अनिच्छा से श्रम करता है इसलिए वह नकारात्मक उपयोगिता का शिकार है। पर दूसरी तरफ वह मजदूरी प्राप्त करके अपनी आमदनी से वस्तुएँ खरीदता है जिससे सकारात्मक उपयोगिता पैदा होती है। उन्होंने नतीजा निकाला कि उपभोग की उपयोगिता श्रम का अ-उपयोगिता के मुकाबले ज्यादा रहेगी, लोग श्रम करते रहेंगे। अगर इसका उल्टा हुआ तो लोग काम करना बंद करके फालतू बैठना पसंद करेंगे।

जेवंस के इस विश्लेषण का नतीजा यह हुआ कि केसे

द्वारा उत्पादक और अनुत्पादक श्रम के बीच किया गया फर्क गलत साबित हो गया। जेवंस के कारण मजदूर द्वारा किया हर तरह का श्रम उत्पादक समझा जाने लगा क्योंकि उससे निजी तौर पर मजदूर के लिए सकारात्मक उपयोगिता पैदा होती है। जेवंस के विश्लेषण ने मजदूरी की क्लासिकल थियरी को भी संदिग्ध कर दिया। अर्थशास्त्रियों को लगा कि मजदूर अपना जीवनयापन करने भर की मजदूरी पर काम करने के लिए मजबूर नहीं हैं। अगर मजदूरी कम मिले और वे उससे मनचाही वस्तुएँ नहीं खरीद पाएँ तो वे कम तनखाह पर काम करने के बजाय फुरसत का मजा लेना पसंद कर सकते हैं। रिकार्डों और मार्क्स के मुकाबले जेवंस ने श्रम और पूँजी के बीच विरोध देखने से इनकार किया। दोनों ही पक्ष अपने-अपने हितों को ध्यान में रख कर श्रम करने या न करने और निवेश करने या न करने का फैसला करते हैं।

जेवंस के चौंका देने वाले ऊर्जा संबंधी अवलोकन सही साबित नहीं हुए। उनका हताशापूर्ण दृष्टिकोण पेट्रोलियम, प्राकृतिक गैस और पनबिजली जैसे कोयले के विकल्पों की सम्भावनाओं को समझने में नाकाम रहा। दरअसल, जेवंस निजी तौर पर तरह-तरह के अंदेशों और भयों के शिकार भी रहते थे। लिखने के क्रागज की कमी के डर के कारण उन्होंने एक बार इतना क्रागज खरीद कर रख लिया था कि उनकी संतानें भी उसका पूरा इस्तेमाल करने में नाकाम रहें।

देखें : अर्थ-विज्ञान का समाजशास्त्र, आर्थिक जनसांख्यिकी, अल्फ्रेड मार्शल, अमर्त्य कुमार सेन, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, एडम स्मिथ, करारोपण, कल्याणकारी अर्थशास्त्र, क्लासिकल अर्थशास्त्र, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-3, कार्ल मेंगर, कींसियन अर्थशास्त्र, गुन्नार मिर्डाल, जोआन रोबिंसन, जॉन कैनेथ गालब्रेथ, जॉन मेनार्ड कींस, जॉन स्टुअर्ट मिल, जोसेफ़ शुमपीटर, जैव विविधता, ट्रस्टीशिप, डेविड रिकार्डो, ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम, थॉमस मन और वणिकवाद, थॉमस रॉबर्ट माल्थस, दक्षता, धन, नियोजकशास्त्र अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र, निकोलस काल्दोर, नियोजन।

संदर्भ

1. जॉन मेनार्ड कींस (1951), 'विलियम स्टेनली जेवंस, 1835-82', *एसेज इन बायोग्राफी*, नॉर्टन, न्यूयॉर्क.
2. मार्गरेट शैबास (1990), *अ वर्ल्ड रूल्ड बाई नंबर्स, विलियम स्टेनली जेवंस एंड द राइज़ ऑफ़ मैथामैटिकल इकॉनॉमिक्स*, प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन, न्यू जर्सी.
3. आ.डी. कोलिसन ब्लैक (1981), 'विलियम स्टेनली जेवंस, 1835-82', डी.पी. ओब्रायन और जॉन आर. प्रेस्ले (सम्पा.), *पायनियर्स ऑफ़ मॉडर्न इकॉनॉमिक्स इन ब्रिटेन*, मैकमिलन, लंदन.

— अभय कुमार दुबे

विवेकानंद

(Vivekanand)

उन्नीसवीं सदी में हिंदू धर्म के आधुनिकीकरण की प्रक्रिया पर निर्णायक प्रभाव डालने वाले स्वामी विवेकानंद (1863-1902) को भारतीय राष्ट्रवाद का आदि-सिद्धांतकार माना जाता है। उन्होंने उस जमाने में राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया जनसाधारण के संदर्भ में संकल्पित की जब वह केवल अभिजन विमर्श में ही सीमित थी। आध्यात्मिक प्रगति के लिए भौतिक समृद्धि की शर्त लगा कर विवेकानंद ने धार्मिक ज्ञान के दरवाजे समाज के सभी लोगों के लिए खोलने की वकालत की। उन्होंने समाज सुधारों और धर्म सुधारों के प्रश्न को सामाजिक न्याय का परिप्रेक्ष्य प्रदान करके समाज और राजनीति के स्तर पर उदारतावादी रुझानों की शुरुआत की। इस लिहाज से विवेकानंद को भारतीय उदारतावाद की एक विशिष्ट धारा के उद्गम के रूप में भी देखा जाता है। साथ ही उनके विचारों के कुछ पहलुओं का हिंदुत्ववादी विचारधारा के पैरोकारों ने भी दोहन किया है।

विवेकानंद ने हिंदू धर्म और दर्शन को विश्व-धर्म के रूप में युरोप और अमेरिका में प्रचारित-प्रसारित करने में प्रमुख भूमिका का निर्वाह किया। 1893 में शिकागो में आयोजित की गयी विश्व धर्म संसद में विवेकानंद द्वारा दिया गया भाषण किंवदंती का रूप ले चुका है। भारतीय और पश्चिमी दर्शन में पारंगत, चुम्बकीय व्यक्तित्व के धनी और अत्यंत प्रभावशाली वक्ता विवेकानंद ने युरोप और अमेरिका को वेदांत और योग से परिचित कराया। रामकृष्ण परमहंस के उत्तराधिकारी के रूप में रामकृष्ण मिशन की स्थापना करने वाले विवेकानंद ने राजनीति को अपने विचारों का वाहक नहीं बनाया, पर उनके संदेश ने बीसवीं सदी में उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष में लगे हुए राजनेताओं और समाज सुधारकों को गहरायी से प्रभावित किया। गाँधी, जवाहरलाल नेहरू, सुभाष चंद्र बोस, अरविंद घोष, सर्वपल्ली राधाकृष्णन और रवींद्रनाथ ठाकुर ने विवेकानंद को भारत के प्रमुखतम राष्ट्र-निर्माताओं में से एक की संज्ञा दी है।

विवेकानंद ने जिस वेदांत को राष्ट्रीय जीर्णोद्धार का आधार बनाया, वह किन्हीं स्वीकृत अर्थों में धार्मिक नहीं है। वह हिंदुओं के बजाय भारतवासियों को संबोधित है। विवेकानंद की अभिव्यक्ति में एक सचेत हिंदू रुझान है, पर केवल एक सीमा तक ही। वे एक हिंदू तत्त्वज्ञानी और दार्शनिक की भाषा अपनाने वाले वक्ता की तरह सामने आते हैं, पर हिंदू दायरे से बाहर की आस्थाओं को जोड़ते जाने का सरोकार इस उद्यम के साथ-साथ चलता रहता है। उनकी

मान्यता थी कि वेदांत में सभी धर्मों की एकात्मकता व्यक्त होती है। उन्नीसवीं सदी में ब्रह्म समाज आंदोलन द्वारा जिस सामासिकता की वकालत की जाती थी, उसका आधार धार्मिक सहिष्णुता था। विवेकानंद धर्मों की जिस एकात्मकता का प्रतिपादन कर रहे थे, वह सहिष्णुता की अवधारणा से सहमत होने के बजाय सभी धर्मों के एक ही परमतत्त्व के सागर में विलीन होने की बात कहती थी। लेकिन इस विचार का मतलब यह नहीं था कि विवेकानंद बाकी धर्मों के पृथक् अस्तित्व के खिलाफ थे। उनका कथन था : 'हम सभी धर्मों को महज सहने के पक्ष में नहीं हैं, हम उन सभी को सच्चा मानते हैं।' इसी कारण से विवेकानंद ने किसी अलग सम्प्रदाय की स्थापना का विरोध किया और एक धर्म को दूसरे से श्रेष्ठ बताने वाले प्रोपेगंडे को पूरी तरह से खारिज कर दिया। विवेकानंद द्वारा दी गयी अद्वैत की यह परिभाषा आगे चल कर बहुत से स्वतंत्रता सेनानियों के लिए स्वराज के उपनिवेशवाद विरोधी आग्रह का तात्त्विक आधार बनी।

विवेकानंद के पास राष्ट्रनिर्माण की एक कार्य-योजना भी थी। वे पूर्व की मूल्य प्रणाली और पश्चिम की वैज्ञानिक व प्रौद्योगिकीय उपलब्धियों का संयोग चाहते थे। बंगाली भद्रलोक के सुधार-कार्यों को तिरस्कार की दृष्टि से देखते हुए उनका कहना था कि कुछ लोगों को स्नातक बनाने से राष्ट्र की भित्ति नहीं खड़ी होगी। उसके लिए साधारण-जन को शिक्षित करना होगा। उन्होंने साफ़ तौर से कहा कि वे जिस अध्यात्म की वकालत कर रहे हैं वह भूखे पेटों के बीच और निरक्षरता के अंधकार में नहीं पनप सकता। उसके लिए पश्चिम सरीखी शक्तिशाली भौतिक सभ्यता विकसित करना आवश्यक है। राष्ट्रवाद और वेदांत का जो संयोग उन्होंने निकाला था उसमें एक भिन्न तरह के सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की सम्भावना थी। संघ परिवार के आग्रह के विपरीत विवेकानंद हिंदू परम्परा के ब्राह्मण मर्म को उपेक्षा के साथ देखते थे। वेदांती होने के बावजूद वे ग़ैर-ब्राह्मणों को वेद-ज्ञान से वंचित रखने के लिए शंकराचार्य तक की आलोचना करते थे। कायस्थ घर में पैदा होने के कारण उनके संन्यासी और शास्त्रज्ञ होने के अधिकार पर परम्परानिष्ठ बंगालियों द्वारा आपत्ति की गयी थी। यह भी कहा गया था कि विदेश यात्रा करके भी उन्होंने समुद्र पार न करने की मर्यादा का उल्लंघन किया है। धार्मिक अनुदारपंथियों को यह भी शक था कि विदेश में विवेकानंद ने खान-पान की शुचिता का ध्यान भी नहीं रखा होगा। विवेकानंद ने इस आलोचना का जवाब बेहिचक दिया : 'मैं एक परम्परानिष्ठ पुराणपंथी हिंदू था ही कब? मैंने धर्मशास्त्रों को ध्यान से पढ़ा है और मैं जानता हूँ कि अध्यात्म और धर्म शूद्रों के लिए है ही नहीं। अगर कोई शूद्र विदेश यात्रा के दौरान खान-पान की बंदिशों का पालन करता है तो भी उसे कोई श्रेय नहीं मिलने वाला, ऐसी सारी



स्वामी विवेकानंद (1863-1902)

कोशिशें बेकार हैं। मैं शूद्र हूँ और म्लेच्छ हूँ। फिर मुझे इन सब बातों की चिंता क्यों होने लगी?’ भविष्य के बारे में विवेकानंद की दृष्टि साफ़ देख रही थी कि आगे चल कर इस राष्ट्र पर कमजोर जातियों का प्रभुत्व होगा। उनकी यह भविष्यवाणी समाजवादी चिंतक किशन पटनायक की विख्यात कृति ‘भारत शूद्रों का होगा!’ में ध्वनित होते दिख सकती है।

1993 में विवेकानंद के शिकागो भाषण की शताब्दी मनायी गयी जिसमें विश्व हिंदू परिषद ने उनके व्यक्तित्व और कृतित्व का हिंदुत्ववादी राजनीति के लिए विनियोग करने की चेष्टा की। संघ परिवार के प्रचार साहित्य में विवेकानंद के चित्रों की निरंतर मौजूदगी और कन्याकुमारी में विवेकानंद शिला स्मारक के निर्माण के साथ हिंदुत्ववादियों का जुड़ाव भी उन्नीसवीं सदी के इस महान संत की कुछ ऐसी छवि पेश करता है जैसे कि वे आज के हिंदू राष्ट्रवादियों के सिद्धांतकार रहे हों। वस्तुस्थिति इसके विपरीत है। चाहे शिकागो में दिया गया विख्यात भाषण हो, या युरोप की यात्रा के दौरान दिये गये प्रवचन हों, विवेकानंद की वक्तृताओं में आज की हिंदुत्ववादी राजनीति की लेशमात्र आहट भी नहीं सुनायी देती। वे मुख्यतः वेदांती तत्त्वज्ञान की चर्चा करते नज़र आते हैं। वे अनासक्त कर्म, समर्पण के रास्ते पर ले जाने वाली भक्ति, ज्ञान और पतंजलि के योगसूत्र से ली गयी राज-योग की तकनीक पर बोलते हैं, न कि धर्म के किसी प्रचलित कर्मकाण्डीय पहलू पर।

पश्चिम में विवेकानंद का एजेंडा द्विपक्षीय था। उन्होंने ईसाई मिशनरियों द्वारा किये जाने वाले भारत-दुर्दशा के वर्णन का खण्डन किया और भारत की गरीबी का लाभ उठा कर धर्म परिवर्तन की मुहिम चलाने वाले इंजीली उत्साह की जम कर भर्त्सना की। दूसरी तरफ़ वे दिखाना चाहते थे कि ईसाइयत पर हिंदू और बौद्ध दर्शन का प्रभाव किस तरह पड़ा है। विवेकानंद ने आधुनिक युरोपीय सभ्यता में इस्लाम के योगदान की भव्य प्रशंसा भी की। ईसाइयत और इस्लाम के ऐतिहासिक रिकॉर्ड की तुलनात्मक व्याख्या करते हुए वे इस्लाम के पक्ष में काफ़ी झुके नज़र आते हैं। इस्लाम और भारतीय सभ्यता के अंतर्संबंधों पर गौर करते हुए विवेकानंद इस निष्कर्ष पहुँचे कि भारतीय-इस्लामिक अतीत इस क्षेत्र की देशज विरासत है। वे मुगलकालीन सांस्कृतिक उपलब्धियों के प्रति सराहना भाव रखते थे। दिलचस्प बात यह है कि हिंदू स्त्रियों से विवाह करने की मुगल नीति भी उन्हें पसंद थी। आज के हिंदू पुनरुत्थानवादियों के लिए इस तरह के विचार कल्पनातीत हैं। विवेकानंद के चिंतन के इन पहलुओं का बाबरी मसज़िद विध्वंस के बाद वामपंथी सेकुलर प्रचारकों ने भी इस्तेमाल किया है।

विवेकानंद के रूढ़िभंजक विचारों का उद्गम उनकी अपनी जीवन-यात्रा में भी देखा जा सकता है। कलकत्ता के एक कुलीन कायस्थ परिवार में पैदा हुए असाधारण प्रतिभासम्पन्न बालक नरेंद्रनाथ दत्त का शुरू से ही आग्रह था कि अगर ईश्वर है तो उसका होना बाकायदा प्रमाणित किया जाना चाहिए। वह सभी से यही सवाल पूछता था। वयस्क होने पर ब्रह्मसमाज की सदस्यता ग्रहण करने के बाद उसने इस आंदोलन के नेता देवेन्द्रनाथ ठाकुर और केशवचंद्र सेन के सामने भी इसी तरह की जिज्ञासा पेश की। उनके उत्तरों से संतुष्ट न होने पर नरेंद्रनाथ ने अपनी खोज जारी रखी और उसी प्रक्रिया में दक्षिणेश्वर के संत रामकृष्ण परमहंस से उसकी भेंट हुई। फिर वही प्रश्न, पर इस बार उत्तर भिन्न मिला। रामकृष्ण परमहंस ने कहा : हाँ, मैं ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित कर सकता हूँ। जैसे तुम्हें यहाँ देख रहा हूँ, उसी तरह मैं ईश्वर को देखता हूँ पर कहीं अधिक गहनता से।

ऐसा जवाब पाने के बाद नरेंद्र अक्सर परमहंस के पास जाने लगा। वह नयी-नयी जिज्ञासाएँ करता और परमहंस उन्हें शांत करते। लेकिन बेचैन और विद्रोही प्रकृति के नरेंद्र ने उन्हें आसानी से अपना गुरु नहीं माना। शुरू में नरेंद्रनाथ ने अद्वैत वेदांत को भी न केवल खारिज किया बल्कि उसका उपहास भी किया। पर परमहंस धैर्य के साथ उसे सत्य को सभी कोणों से देखने की सीख देते रहे। पाँच वर्ष तक चले इस प्रशिक्षण ने नरेंद्रनाथ को विवेकानंद बनाया। गुरु के सान्निध्य में उन्हें ‘निर्विकल्प समाधि’ की अनुभूति हुई। अंतिम दिनों में रामकृष्ण ने उन्हें अपना उत्तराधिकारी घोषित किया और भगवा वस्त्र पहनने के लिए दिये। गुरु के देहांत के बाद

विवेकानंद ने रामकृष्ण मिशन की स्थापना की और परिव्राजक संन्यासी के रूप में सिर्फ एक दण्ड और कमण्डल लेकर भ्रमण पर निकल गये। वे देश के कोने-कोने में गये, इस प्रक्रिया में असली भारत के दर्शन किये, विभिन्न धर्मावलम्बियों के साथ संवाद स्थापित किया और आम लोगों के जीवन को निकट से देखा। राष्ट्र-निर्माण से संबंधित विवेकानंद का विचार इसी दौर में सूत्रबद्ध हुआ। उन्होंने दो बार लम्बी-लम्बी विदेश यात्राएँ कीं और अपने भाषणों और प्रवचनों के कारण अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की। भारत लौटने पर कई जगहों पर उनका भव्य स्वागत हुआ। विवेकानंद का देहांत केवल 39 वर्ष की अवस्था में उस समय हुआ जब वे समाधिस्थ थे। उनके नज़दीकियों के अनुसार वे काफी पहले से कहने लगे थे कि वे चालीस पार नहीं करेंगे।

अद्वैत वेदांत के अनुयायी होने के बावजूद विवेकानंद का चिंतन किसी विशेष अनुशासन की सीमा में बँधा हुआ नहीं था। उनके विचारों में कई तरह के विरोधाभास पाये जाते हैं। इसीलिए भी उनके विचारों के विभिन्न अंश वामपंथियों से लेकर दक्षिणपंथियों द्वारा अपने-अपने समर्थन में इस्तेमाल किये जाते रहते हैं। कई बार बौद्धिक आवेश में वे ऐसी बातें बोल जाते थे जिनसे उनके समर्थकों को भी उलझन होने लगती थी। मसलन, वे इस्लामी शरीर (सामाजिक संगठन) और हिंदू मस्तिष्क (वेदांती चिंतन) का संयोग चाहते थे। कुछ सेकुलर प्रचारक उनकी इस इच्छा का साम्प्रदायिकता विरोधी इस्तेमाल करते हैं, पर इसका एक अर्थ यह भी निकलता है कि विवेकानंद की निगाह में इस्लामी तत्त्वज्ञान कमतर था।

देखें : अरविंद घोष, उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन-1, 2 और 3, कुमार आशान्, गोवर्धन राम त्रिपाठी और गुजराती अस्मिता, फ़कीर मोहन सेनापति और ओडिया अस्मिता, बंकिम चंद्र चटर्जी, बंगाल का नवजागरण, भारतेंदु हरिश्चंद्र, भारतीय आधुनिकता, भारतीय नवजागरण : तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य, महाराष्ट्र में सुधारणा-1 से 5 तक, मोहनदास कर्मचंद गाँधी-1 से 3 तक, राजा राममोहन राय, युरोपीय पुनर्जागरण, रवींद्रनाथ ठाकुर, हिंदी नवजागरण।

संदर्भ

1. विलियम रेडिस (सम्पा.) (1999), *स्वामी विवेकानंद ऐंड द मॉडर्नइज़ेशन ऑफ़ हिंदुत्व*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
2. तपन रायचौधुरी (1999), 'स्वामी विवेकानंदस कंस्ट्रक्शन ऑफ़ हिंदुइज़म', संकलित : विलियम रेडिस (सम्पा.), *स्वामी विवेकानंद ऐंड द मॉडर्नइज़ेशन ऑफ़ हिंदुत्व*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
3. निमाई साधन बोस (1999), 'स्वामी विवेकानंद ऐंड द चेलेंज टु फंडामेंटलिज़म', विलियम रेडिस (सम्पा.), *स्वामी विवेकानंद ऐंड द मॉडर्नइज़ेशन ऑफ़ हिंदुत्व*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

— अभय कुमार दुबे

विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े-1

(मराठों और विवाह संस्था का इतिहास)

(Vishwanath Kashinath Rajwade-1)

भारतीय बुद्धिवाद के खिलाफ पाश्चात्य आरोपों का प्रतिकार करने वाले इतिहासकार, वैयाकरण, समालोचक और भाष्यकार विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े (1869-1926) चिपलूणकर से तिलक तक की मराठी बुद्धिजीवी परम्परा के श्रेष्ठ प्रतिनिधि थे। प्राच्यवादी मान्यताओं की मुखालफ़त करते हुए राजवाड़े ने युरोपियनों पर यह आरोप लगाया कि पहले तो वे ऐतिहासिक स्मृतियों को नष्ट करते हैं, फिर वे कहते हैं कि हमारा कोई इतिहास ही नहीं है। उनकी मान्यता के खिलाफ़ राजवाड़े ने *विल टू हिस्ट्री* के माध्यम से दावा किया कि हमारा इतिहास है, लेकिन हम ऐतिहासिक स्मृतियों को कहीं भूल बैठे हैं जिन्हें पुनः प्राप्त किया जाना है। इतिहासाचार्य की जनप्रिय उपाधि से विभूषित राजवाड़े को तर्कनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण के साथ भारत के सामाजिक राजनीतिक इतिहास के पुनर्निर्माण का श्रेय जाता है। विशुद्ध अनुसंधान की धुन में राजवाड़े ने महाराष्ट्र भर में गाँव-गाँव घूम कर संस्कृत की पांडुलिपियों और मराठा इतिहास के स्रोत जमा किये। इस सामग्री को बाईस खण्डों में प्रकाशित किया गया। वैदिक तथा अन्य शास्त्रों के ठोस आधार पर आधारित राजवाड़े द्वारा मराठी में लिखित *भारतीय विवाह संस्थेचा इतिहास* (1926) एक सर्वकालीन प्रासंगिक ग्रंथ है।

भारतीय विवाह संस्था का इतिहास हिंदी में भी काफी पढ़ी जाने वाली पुस्तक है। लेखक ने गहरी पैठ के साथ इस कृति में भारत में विवाह की संस्था के विकास के विभिन्न सोपानों की चर्चा की है। राजवाड़े ने स्वयं बताया है कि वे विष्णुकांत चिपलूणकर के लेखों, काव्य-इतिहासकार रायबहादुर काशीनाथ पंत साने के ऐतिहासिक पत्र एवं परशुराम गोडबोले द्वारा प्रकाशित काव्य से प्रभावित हुए। उन्हें महाराष्ट्र की ज्ञान-परम्परा के लिए गर्व की अनुभूति हुई। एरिक वुल्फ़ ने अपनी प्रसिद्ध कृति *युरोप ऐंड द पीपुल विदाउट हिस्ट्री* में कहा है कि मानवशास्त्र इतिहास का अन्वेषण करता है। राजवाड़े के लेखन में भी इतिहास और मानवविज्ञान के अंतःसंबंधों का यह पहलू भारतीय विवाह-संस्था और परिवार-व्यवस्था के इतिहास और मराठों के उद्भव तथा विकास के इतिहास बखूबी दिखायी पड़ता है।

विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े का जन्म 24 जून, 1863 को महाराष्ट्र के रायगढ़ ज़िले के वरसई गाँव में हुआ था। जब

वे तीन वर्ष के थे उनके पिता का देहांत हो गया। आगे का लालन-पालन उनके ननिहाल वरसई में हुआ। बाद में वे अपने चाचा के पास पुणे के नजदीक वडगाँव में आ गये। पुणे में राजवाड़े का प्राथमिक शिक्षण शनिवार पेठ की पाठशाला में हुआ। बाबा गोखले की पाठशाला, विष्णुकांत चिपलूणकर के न्यू स्कूल और फिर बाद में मिशन स्कूल से उन्होंने माध्यमिक की शिक्षा पूरी की। 1882 में राजवाड़े ने मैट्रिकुलेशन किया। आगे की शिक्षा के लिए बॉम्बे के एल्फ्रिस्टन कॉलेज में दाखिला लिया पर धनाभाव के कारण वे अध्ययन जारी नहीं रख पाये। बाद में पुणे में पब्लिक सर्विस सेकण्ड ग्रेड परीक्षा में बैठने वाले विद्यार्थियों को पढ़ा कर उन्होंने धनोपार्जन किया और डेक्कन कॉलेज में आगे की पढ़ाई के लिए नाम दर्ज कराया। यद्यपि कॉलेज के पाठ्यक्रम में लगी पाठ्यपुस्तकों से राजवाड़े कभी संतुष्ट नहीं हुए, फिर भी रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर, जो तब पुणे के डेक्कन कॉलेज में प्रोफेसर थे और न्यायकोशकर्ता म.म. झलकीकर जैसे विद्वानों के सान्निध्य में उन्होंने काफी कुछ सीखा। अपनी रुचि के विषयों इतिहास, अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, दर्शनशास्त्र, तर्कशास्त्र, समाजशास्त्र का अध्ययन करते हुए राजवाड़े ने 1891 में बीए की परीक्षा उत्तीर्ण की। इसी दौरान 1888 में उनका विवाह हुआ, गृहस्थी की ज़िम्मेदारी हेतु स्नातकोपरांत उन्होंने पुणे के न्यू इंग्लिश स्कूल में अध्यापन कार्य शुरू किया, पर पत्नी की मृत्यु हो जाने बाद उन्होंने 1893 में नौकरी छोड़ दी।

प्राथमिक शिक्षा से लेकर कॉलेज तक की उच्च शिक्षा से संबंधित अपने अनुभव को राजवाड़े ने ग्रंथमाला मासिक पत्रिका में 'कनिष्ठ, मध्यम व उच्च शालान्तीत स्वानुभव' (प्राथमिक, माध्यमिक एवं उच्चशालाओं के मेरे अनुभव) शीर्षक निबंध द्वारा प्रस्तुत किया। इस रचना में उन्होंने शिक्षा के व्यावसायिक हितों को सामाजिक उत्तरदायित्वों पर वरीयता देने की तत्कालीन परम्परा की कठोर आलोचना की।

1894 में अनुवाद आधारित *भाषांतर* नामक मराठी पत्रिका सम्पादित करने के अलावा 1910 में उन्होंने पुणे में भारत इतिहास संशोधक मण्डल की स्थापना की और अपने द्वारा इकट्ठे किये गये ऐतिहासिक स्रोतों, कृतियों और स्वयं द्वारा किये गये ऐतिहासिक कार्यों को मण्डल के सुपुर्द कर दिया। उच्च रक्तचाप से ग्रस्त राजवाड़े 1926 के मार्च महीने में टिप्पणियों से भरे ट्रंक के साथ धुले गये। वहीं इस महान अन्वेषक, वैयाकरण, मानवशास्त्री और इतिहासकार का 31 दिसंबर, 1926 को देहांत हुआ। 1926 में उनकी असामयिक मृत्यु के पश्चात् धुले-स्थित राजवाड़े संशोधक मण्डल की स्थापना हुई और उनके कार्य और स्रोत सामग्रियाँ वहीं रखी

गयीं। आज भी ये दोनों संस्थान अपने योगदान से भारतीय इतिहास और संस्कृति को समृद्ध करने में लगे हुए हैं। उनके सम्मान में भारतीय इतिहास कांग्रेस ने विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े अवार्ड की संस्तुति की जो भारतीय इतिहास के क्षेत्र में जीवन-पर्यंत योगदान के लिए दिया जाता है।



विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े
(1869-1926)

राजवाड़े का मानना था कि ग्रांट डफ़ सहित अन्य औपनिवेशिक इतिहासकारों द्वारा लिखित भारत का इतिहास विजेताओं द्वारा लिखित विजित देश का इतिहास है। इसलिए उसमें सत्य का अभाव है और महत्त्वहीन घटनाओं को बढ़ा-चढ़ा कर दिखाया गया है। पूर्व-लिखित इतिहास की छानबीन के पश्चात् राजवाड़े इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सच्चे इतिहास को प्रकाश में लाये बिना राष्ट्र में स्वत्व की चेतना का न तो निर्माण ही हो पायेगा न ही विकास। इसी बीच अपने एक विद्यार्थी काका राव पण्डित को मिले कुछ स्रोतों की जानकारी मिलने पर राजवाड़े उन स्रोतों को हस्तगत किया और दो माह के अविश्रांत परिश्रम द्वारा 1896 में *मराठ्यांच्या इतिहासाची साधने* (मराठों के इतिहास के स्रोत) शीर्षक पुस्तक का पहला खण्ड प्रकाशित हुआ। पानीपत के युद्ध से संबंधित 202 पत्र इसी खण्ड में हैं।

इतिहास स्रोत-सामग्री जुटाने की इसी रीति के साथ राजवाड़े ने दृढ़ और अनथक प्रयासों से पूरे महाराष्ट्र का दौरा किया। ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थानों के बार-बार निरीक्षण, वास्तुशास्त्रीय अध्ययन दृष्टि और पुरातात्विक साक्ष्यों की मदद से राजवाड़े ने महाराष्ट्र के जनजीवन, वहाँ की भाषा, रीति-रिवाजों और साहित्य के मानवशास्त्रीय और समाजशास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन के उपरांत जो निष्कर्ष निकाले उसके फलस्वरूप मराठों के इतिहास की स्रोत सामग्री के बाईस खण्ड प्रकाशित हुए। उनकी मृत्यु के समय अर्थात् 1926 तक इससे भी ज़्यादा अप्रकाशित संग्रह राजवाड़े के पास एकत्र हो चुका था।

इन खण्डों में राजवाड़े ने दीर्घ प्रस्तावनाएँ लिखी हैं। उन्होंने इतिहास-बोध, इतिहासविषयक तर्कनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा कि इतिहास वैज्ञानिक पद्धति से ही लिखा जाना चाहिए। उल्लेखनीय है कि राजवाड़े ने वन्य समाज और प्रागैतिहासिक समाज की स्थितियों का विश्लेषण व आर्ष प्रथाओं का विवेचन करते समय पुराणों, श्रुतियों, संहिताओं, *महाभारत* तथा *हरिवंश* आदि उपलब्ध साक्ष्यों को अपने अनुसंधान का आधार बनाया। उन्होंने माना कि परिस्थिति तथा मानव के संघर्ष से इतिहास बनता है। उसमें ईश्वरीय संकेतों अथवा एक ही व्यक्ति के कृतित्व के बजाय साधारण

और असाधारण व्यक्तियों के जीवन-चरित्र का मिश्रण होता है। इतिहास की व्यापकता पर दृष्टिपात करते हुए राजवाड़े बताते हैं कि इतिहास तत्कालीन समाज का भौतिक तथा आत्मिक चरित्र है।

राजवाड़े हिंदूवाद के कद्दावर रक्षक होने के साथ-साथ उसके कट्टर आलोचक भी थे। हिंदूवाद को वे सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था मानते थे। शिवाजी जयंती के अवसर पर 1911 में तिलक के पत्र *केसरी* में लिखते हुए उन्होंने चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का समर्थन किया और इसे सामाजिक संगठन का उत्तम रूप बतलाया। साथ ही उन्होंने मराठी समाज पर यह आरोप भी लगाया कि इस व्यवस्था का ठीक से पालन न करना ही उसके पतन का कारण बना। हिंदूवाद अथवा ब्राह्मणवाद की आड़ में राजवाड़े ने हमेशा मराठी भाषा-भाषी लोगों के उत्तरदायित्व और कर्तव्यों को सामूहिक रूप से महाराष्ट्र धर्म के रूप में व्यक्त किया, और उसकी उन्नति के लिए उसपर जोर दिया।

राजवाड़े इतिहास को केवल इति-हा-अस अर्थात् वह जो घटित हुआ ही नहीं मानते थे। उनकी मान्यता थी कि सैद्धांतिक पहलुओं से साथ इतिहास को समाज-विज्ञान ही माना जाए। उनका यह मत हीगेल की इस बात से मेल खाता है कि इतिहास अपने सही अर्थों में दर्शन के रूप में व्यक्त होता है। राजवाड़े ने शाहजी पर लिखे निबंध में मराठों के शक्ति-लोप को पुनर्स्थापित करने हेतु डायलेक्टिस ऑफ़ डिफ़्रीट अर्थात् हार के द्वंद्व पर चर्चा करते हुए बताया कि उत्तम, सुडौल तथा निश्चित हथियार बनाने की कला के विकास के लिए वैज्ञानिक ज्ञान की जो पूर्व तैयारी आवश्यक होती है, वह उस समय महाराष्ट्र में नहीं थी। भक्तिकालीन कवियों पर हमला बोलते हुए राजवाड़े ने बताया कि जब (शाहजी के जीवन काल में) युरोप में देकार्त, बेकन आदि विचारशील लोग, सृष्टि में रहने वाले विविध पदार्थों की खोज करने वालों को प्रोत्साहित कर रहे थे, उसी समय अपने यहाँ एकनाथ, तुकाराम, दासोपंत, निपटनिरंजन आदि संत-महात्मा पंच महाभूतों को नष्ट कर ब्रह्म साक्षात्कार का मार्ग दिखाने का प्रयास कर रहे थे। इनके उलट राजवाड़े ने सत्रहवीं सदी के संत समर्थ गुरु रामदास की तत्त्व-मीमांसा का स्वागत किया। जिनकी कविताओं में मराठा शक्ति की पुनर्स्थापना की आकांक्षा समेटने वाली राजनीतिक गोलबंदी और मराठी राष्ट्रीयता के पुनरुत्थान की भावनाएँ व्यक्त होती थीं। इसके अलावा भारतीय मार्क्सवादियों से बहुत पहले राजवाड़े पहले चिंतक थे जिन्होंने राष्ट्रीयता की बात की और भारत को एक बहु-राष्ट्रीय राज्य बताया।

1920-23 के दौरान भारतीय विवाह पद्धति पर लिखे उनके निबंध संकलित रूप में *भारतीय विवाह संस्थेचा इतिहास* (भारतीय विवाह संस्था का इतिहास) के रूप में

1926 में प्रकाशित हुए। इसका पहला अध्याय 'स्त्री-पुरुष समागम' में कई अतिप्राचीन आर्य प्रथाओं का जिक्र था। यह पहली बार 1923 की मई में पुणे की *चित्रमयजगत* पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। इसमें वेद संहिता, *महाभारत* और *हरिवंश* के उद्धरणों और साक्ष्यों द्वारा यह कहा गया था कि अत्यंत प्राचीन आर्य समाज में भाई-बहन और पिता-पुत्री के बीच शारीरिक संबंध होते थे। इन निर्बंध शारीरिक संबंधों का आगे किस प्रकार विकास हुआ यही इस निबंध का विषय था। इस पुस्तक का दूसरा अध्याय 'स्त्रियों की वंश-प्रवर्तक शक्ति और प्रजापति संस्था' में उन्होंने यह दिखाया कि कैसे एक बालक को दूसरे से अलग पहचानने के लिए पिता की जगह मातृकुल का नाम दिया गया, क्यों कि तब स्त्री-पुरुष संबंध मिले-जुले होते थे। साथ ही राजवाड़े इसमें यह भी दिखाते हैं कि प्रजापति संस्था से पूर्व वंशावतरण स्त्रियों के अधीन था और प्रजापति संस्था के प्राचीन आर्य समाज के रूप में विकसित होने के तीन परिणाम निकले। पहला यह कि प्रजापति कुल की पृथक् रूप में स्थापना की प्रक्रिया शुरू हुई। दूसरा यह कि दूर देशों में जाकर बस्तियाँ बसाने की प्रथा चल पड़ी। बहु-भार्याक और एकपतिक प्रजापति संस्था में क्रमागत रूप से परिवर्तन शुरू हुआ। इस ग्रंथ का तीसरा अध्याय 'आतिथ्य की एक आर्य प्रथा' में प्रमाणस्वरूप *महाभारत* के उद्योग पर्व के पैतालीसवें अध्याय में वर्णित 'इष्टान पुत्रान विभवान स्वान्श्च दारान' अर्थात् 'संकटकाल में अपनी स्त्री भी अपने मित्र को निर्मल अंतःकरण से अर्पित की जाए' द्वारा राजवाड़े ने यह बताया कि भारतीय ऐसा कभी नहीं मानते थे कि अपने मित्र को स्व-स्त्री सम्भोगार्थ देने में कोई नीतिभंग होता है। इसका समर्थन पाणिनि ने द्विगोर्लुगनपत्ये (4-1-88) सूत्र में 'द्वयोर्मित्रयोरपत्यं द्वैमित्रि' अर्थात् दो मित्रों के अपत्य या संतति को द्वैमित्रि कह कर किया है। इस स्थिति में पितृत्व दोनों ही मित्रों को मिलता है। इस ग्रंथ के चौथे अध्याय 'अग्नि और यज्ञ' में भारतीय विवाह संस्था के इतिहास और परम्परा का विस्तार से स्पष्टीकरण करने के लिए अग्नि का सामाजिक इतिहास बताते हुए राजवाड़े ने यज्ञ की प्रक्रिया, फल-श्रुति और उनसे सम्बद्ध दंत कथाओं का उल्लेख किया है। साथ ही इसमें उन्होंने स्त्री-पुरुष के सामूहिक रूप से लैंगिक समागम में एकनिष्ठ विवाह (मोनोगैमी) पद्धति के ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया दर्शायी है। इस ग्रंथ में क्षेपक रूप में भारतीय विवाह संस्था के इतिहास विषय पर राजवाड़े द्वारा लिखित टिप्पणियाँ 'लग्नसंस्था' शीर्षक के अंतर्गत सम्मिलित की गयीं।

भारतीय विवाह संस्थेचा इतिहास के हिंदी संस्करण का मूल्यांकन करते एक समीक्षक ने लिखा है कि 'हमारे पुनर्जागरण के कई मनीषी दूर अतीत में स्वर्णलोक की कल्पना में लीन थे। राजवाड़े उनसे बिलकुल अलग थे।

भारतीय विवाह संस्था का इतिहास में वे इतिहास परिकल्पना को बिलकुल उलट देते हैं। वे जो लिखते हैं उसका निष्कर्ष कुछ यह है कि सतयुग और द्वापर दरअसल पाशविक, बर्बर और अर्धमानवीय संस्कारों और नैतिक मूल्यों के युग थे और जिन महान नैतिक (खास तौर से स्त्री-पुरुष संबंधों में) मूल्यों पर हम अपना सीना फुलाए रहते हैं, वे कलियुग की देन हैं। वैदिक और वेद-पूर्व समाजों का रूप कुछ और ही था, वह नहीं जिसे हम मोहवश मान बैठते हैं। राजवाड़े का मानवशास्त्र, पुरातत्त्व और सांस्कृतिक इतिहास से जुदा बोध पुरातनियों को पचेगा नहीं। जहाँ सब कुछ दिव्य और दैवी माना जाता हो, वहाँ मनुष्य के लाखों बरसों के संघर्ष और विकास से उत्पन्न समाज-व्यवस्था का विचार अजनबी जान पड़ेगा लेकिन राजवाड़े पुरातनियों की ज़मीन छीन लेते हैं।'

देखें : आनंद केंटिश कुमारस्वामी, आर्य-अवधारणा, आर्थर लेवेलिन वाशम, एडवर्ड विलियम सईद, काशी प्रसाद जायसवाल, बिपन चंद्र-1 और 2, भारतीय इतिहास-लेखन-1 से 4 तक, दामोदर धर्मानंद कोसम्बी-1 और 2, प्राच्यवाद, रमेश चंद्र दत्त, रमेश चंद्र मजूमदार, रणजीत गुहा, रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर, रामशरण शर्मा, रोमिला थापर, वासुदेव शरण अग्रवाल, पांडुरंग वामन काणे, सखाराम गणेश देउस्कर, सामंतवाद : एक बहस।

संदर्भ

1. जी.पी. देशपांडे (1992), 'राजवाड़ेज़ वेल्डनचुंग ऐंड जर्मन थॉट', *इकोनॉमिक ऐंड पोलिटिकल वीकली*, खण्ड 27, अंक 43/44.
2. राम शरण शर्मा (2009), *रीथींकिंग इण्डियाज़ पास्ट्स*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
3. प्राची देशपांडे (2007), *क्रिएटिव पास्ट्स : हिस्टोरिकल मेमोरी ऐंड आइडेंटिटी इन वेस्टर्न इण्डिया 1700-1960*, कोलंबिया युनिवर्सिटी प्रेस, कोलंबिया.

— निर्मल कुमार पाण्डेय

विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े-2

(भाषाशास्त्र और वर्ण-व्यवस्था)

(Vishwanath Kashinath Rajwade-2)

मराठा इतिहास के संकलन और अन्वेषण की प्रक्रिया के दौरान राजवाड़े को संत एकनाथ के काल के पहले की *ज्ञानेश्वरी* की प्रतिलिपि प्राप्त हुई जिसे उन्होंने सम्पादित-प्रकाशित करने के साथ ही *ज्ञानेश्वरीतील मराठी व्याकरण* (ज्ञानेश्वरी से उद्भूत मराठी व्याकरण) नामक भाषाशास्त्रीय

दृष्टि से महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखा। इसके अलावा जयराम पिंडये द्वारा शिवाजी के पिता शाहजी के चरित्र पर लिखे *राधामाधवविलासचम्पू* नामक काव्य ग्रंथ और वर्तमान मुम्बई के माहिम अर्थात् महिकावती के इतिहास पर आधारित *महिकावतीची बखर* का राजवाड़े ने विस्तृत विश्लेषण सहित सम्पादन किया। उन्होंने इसकी प्रस्तावना में अपने अध्ययन और शोधोपरांत निकाले गये निष्कर्षों को महाराष्ट्र की बस्तियों और वहाँ के सामाजिक जीवन के ऐतिहासिक प्रतिबिम्बन द्वारा प्रकट किया। तत्कालीन शोध संबंधी संस्थागत समस्या के बावजूद अल्प-अनुसंधान और अपर्याप्त साधनों में राजवाड़े द्वारा लिखे गये प्रस्तावना-लेखों के मार्फत मराठी जन-जीवन पर प्रामाणिक चर्चा की भूमिका भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इसके अलावा, तीन भागों में विभक्त *राजवाड़े लेख-संग्रह* के नाम से प्रकाशित निबंधों का संकलन राजवाड़े द्वारा समाज-विज्ञान को एक महत्त्वपूर्ण देन है।

लैंगिक और विवाह संस्था पर लिखने से पूर्व राजवाड़े ने जिन सवालों को उठाया उनमें प्रमुख हैं : पहला, वर्ण तथा जाति-संस्थाएँ आर्यों द्वारा कहाँ, कब, क्यों और कैसे निर्मित की गयीं? इसका जवाब देते हुए राजवाड़े 'हिंदू समाज में बहरी लोगों का समावेश' शीर्षक लेख में बताते हैं कि कैसे मनुष्य जाति को अग्नि का ज्ञान होते ही उसके आर्थिक जीवन और आर्थिक परिस्थितियों में परिवर्तन हुआ। अधिक संख्याबल की आवश्यकता ने निर्बंध लैंगिक संबंधों को बढ़ावा दिया। बाद में रक्तबीजशुद्धि का ज्ञान और सगोत्र संबंधों से उत्पन्न अपत्यों पर हुए परिणामों की रोशनी में माता-पुत्र, भाई-बहन आदि के बीच यौन-संबंधों पर नियंत्रण रखकर उन्हें निषिद्ध किया गया। इस तरह के संबंधों के अवशेष वेदों में यम-यमी के सम्भाषण और वर्णभेद रहित यमन-क्रियावाचक क्षत्तापालागली के सम्भाषण में वेदोक्त यज्ञक्रियाबद्ध धर्मरक्षण के रूप में मिलते हैं। समाजशास्त्र के लिए इन प्रमाणों का सबसे पहले राजवाड़े ने ही इस्तेमाल किया। बाद में जैसे-जैसे उत्पादन के साधन बढ़ते गये, अनेक वस्तुओं का उत्पादन करने वाले विविध औजारों का निर्माण हुआ, वैसे-वैसे इन औजारों की क्षमता बढ़ाना ज़रूरी होता गया और अनेक जाति-धंधे वाचक समाज-संगठन अस्तित्व में आते चले गये। जाति को परिभाषित करते हुए राजवाड़े बताते हैं कि जिस समाज की प्रवृत्ति अपने समाज में ही लैंगिक संबंध की होती है और किसी अन्य प्रकार की नहीं होती, उस समाज को जाति कहते हैं। राजवाड़े बताते हैं कि कैसे कौशल के पायदान पर संबंध दृढ़ हुए, जाति-जाति के बीच संबंध और संकरण की प्रक्रिया रोकने की प्रवृत्ति बढ़ी। पहले, चारों वर्णों के आपसी विवाह पर प्रतिबंध लगाये गये और अंत में सम्पत्ति उत्पन्न करने के साधन और उनके सतत उपयोग से प्राप्त अनुभवजन्य कौशल के अनुसार, जो जातियाँ या वर्ण बने, उन पर बहुत कड़ा सामाजिक नियंत्रण रखे जाने

से, वर्ण और जातियाँ और रूढ़बद्ध होती चली गयीं।

राजवाड़े जो दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न खड़ा करते हैं वह था कि क्या त्रिवर्ण व्यवस्था से चातुर्वर्ण्य व्यवस्था में पहुँचने की प्रक्रिया आर्यों के समाज में घटित होने वाली सामाजिक क्रांति थी? *राधामाधवविलासचम्पू* में इस बात पर विचार करते हुए राजवाड़े बताते हैं कि कैसे शूद्रों के आगमन और उनके समन्वय ने त्रैवर्णिक आर्यों के समाज को चातुर्वर्णिक रूप में संक्रमित किया। इसके अतिरिक्त, पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि के ग्रंथों में वर्णित शब्द या वाक्य की प्रक्रिया द्वारा समाज-इतिहास को दिखाने हेतु राजवाड़े ने अभिवादन तथा प्रत्याभिवादन करने की प्रथा के विकास और ह्रास का विवेचन किया। गुलाम वह है जो अपने विचारों को व्यक्त नहीं कर सकता— इस उक्ति के साथ राजवाड़े ने भाषा और व्याकरण को साम्राज्यवाद से लड़ने का औजार माना। व्याकरण के माध्यम से समाज के विकास अथवा ह्रास पर दृष्टिपात द्वारा इतिहास-रचना राजवाड़े का भारतीय समाज-विज्ञान को प्रदत्त अनुपम तोहफा है।

इतिहास-विषयक कार्यों के अतिरिक्त भाषाशास्त्रीय रचनाओं में भी राजवाड़े की प्रतिभा द्रष्टव्य है। *राजवाड़े धातुकोश* और *राजवाड़े शब्द व्युत्पत्ति कोश* उनके मौलिक प्रयत्न के परिचायक हैं। *धातुकोश* में उन्होंने पाणिनि के दो हजार धातु पाठों के बरक्स सोलह हजार धातुपाठों के माध्यम से मानवशास्त्रीय अध्ययन हेतु महत्त्वपूर्ण स्रोत मुहैया कराया है। धातुकोश विषय का सामाजिक महत्त्व समझाने के उद्देश्य से *राजवाड़े धातुकोश* के संपादक के.पी. कुलकर्णी ने इसकी प्रस्तावना में लिखा है कि कोई समाज प्रगति की किस अवस्था में है, यह देखना हो तो उस समाज की भाषा का अध्ययन कीजिये। उसके शब्द समूह और उसका धातु पाठ मानवशास्त्रीय दृष्टिकोण से अध्ययन हेतु महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

‘भाव-विचार प्रदर्शन के साधनों का विकास’ शीर्षक लेख में राजवाड़े ने लिखा कि अक्षर विचारों का एक साधन है। इसी के साथ धर्म-भावना-अभिव्यक्ति के संबंध में लिखते हुए राजवाड़े बताते हैं कि हमारा विधान और सामाजिक ताना-बाना पूर्ण रूप से सेकुलर नहीं है बल्कि मूर्ति, वन्य-पशु-पक्षी आदि जैसे मूर्त तथा स्वर्ग, नरक, देवता, देवदूत, जिवोहा, अल्लाह और गॉड जैसी अमूर्त भ्रांत धारणाओं से आच्छादित है। इस लेख में उन्होंने सहज-विक्षेप, ध्वनियों के अनुकरण द्वारा भाषा की उत्पत्ति, ध्वनिवाचक और जातिवाचक संज्ञाओं, मौलिक ध्वनि परम्पराओं, अभिप्राय-दर्शक चित्र-रेखन, चित्रों और ध्वनियों के पृथक्करण, चित्र-लिपि के उदय, मूलाक्षरों की लिपि, विचारसूचक अभिनय, आकृति निर्माण, वास्तविक तथा भ्रामक कलाओं का विकास, भाव-विचार प्रदर्शनों के साधन,

लोक-भ्रम और देवकल्पना के संबंध में मूल-भ्रम की चर्चा की। इसके द्वारा उन्होंने इसमें भाव-विचार प्रदर्शन के चालीस साधनों का वर्णन किया है जिसके माध्यम से किसी भी देश अथवा विगत और उसके वर्तमान लोगों का इतिहास ज्ञात किया जा सकता है।

हिस्टोरियंस हिस्ट्री ऑफ़ द वर्ल्ड ग्रंथ में लिखित राजवंशों एवं जनसमूहों की नामावलियाँ देकर राजवाड़े ने *आमची पुराणे व असिरियातील नवे शोध* (हमारे पुराण एवं असीरिया की नयी खोजें) लेख के माध्यम से युरोप के इतिहासकारों की पूर्वमान्यताओं के उलट दिया और भारत के अति-प्राचीन इतिहास का नया अध्याय उजागर किया। मानवशास्त्र, व्याकरण और इतिहास के अलावा राजवाड़े ‘कादंबरी’ नामक निबंध में कहते हैं कि समाज के पतित भाग की स्थिति का चित्रण प्रत्येक उपन्यासकार को अपना प्रथम कर्तव्य समझना चाहिए। वे पूछते हैं कि इस देश की निर्धनताग्रस्त, रोग-पीड़ित और अशिक्षित सामान्य जनसमूह की सहायता सहृदयता के मूर्तिमान रूप उपन्यासकारों को छोड़ कर और कौन करेगा? इस निबंध में वर्णित साहित्य-विषयक चर्चा मराठी साहित्य में हो रहे तत्कालीन विवादों पर प्रकाश डालती हैं। इसके अलावा दामले के व्याकरण पर लिखे गये उनके समालोचनात्मक लेख ‘सुबंत विचार तथा तिङ्कत विचार’ और उसके साथ *संस्कृत भाषेचा उलगडा* (संस्कृत भाषा का स्पष्टीकरण) जैसे ग्रंथ राजवाड़े की स्वतंत्र विचार-प्रणाली के द्योतक हैं।

संस्कृत भाषेचा उलगडा में व्युत्पत्ति के आधार पर राजवाड़े ने मानव-इतिहास के अर्थ को विशद बनाने का मौलिक कार्य किया। साथ ही यह सवाल भी उठाया कि *अष्टाध्यायी* में अस्मद-युष्मद शब्दों की सात विभक्तियों के प्रत्यय लगाकर इक्कीस रूप बनाने के लिए पाणिनि को जिन सूत्रों की रचना करनी पड़ी थी, उसका कारण यह था कि उन्हें पूर्वकालीन समाज के मिश्रण तथा समन्वय की घटना का पर्याप्त ज्ञान नहीं था। इसका स्पष्टीकरण राजवाड़े इसे आनुनासिक स्वर और अनुनासिक-विरत भाषा समूहों के सम्मिलन के उपरांत आयी द्विलिंगात्मक भाषा के अस्तित्व में आने के रूप में दिया। साथ ही उन्होंने बताया कि पाणिनीय संस्कृत और वैदिक भाषा में नपुंसक लिंग के प्रवेश की वास्तविकता भी यही है। पाणिनि की अनैतिहासिक दृष्टि की आलोचना करते हुए राजवाड़े प्रश्न खड़ा करते हैं कि *अष्टाध्यायी* का एक भी शब्द या कथन इस बात की पुष्टि नहीं करता कि संस्कृत भाषा का जन्म वैदिक भाषा से हुआ। संस्कृत भाषा वैदिक भाषा का अपभ्रंश या वि-परिणाम है, इस बात की कल्पना का भी *अष्टाध्यायी* में अभाव मिलता है, और इसी अभाव के कारण पाणिनि की कृति ऐतिहासिक रूप से समस्याग्रस्त हो जाती है।

देखें : आनंद केंटिश कुमारस्वामी, आर्य-अवधारणा, आर्थर लेवेलिन बाशम, एडवर्ड विलियम सईद, काशी प्रसाद जायसवाल, बिपन चंद्र-1 और 2, भारतीय इतिहास-लेखन-1 से 4 तक, दामोदर धर्मानंद कोसम्बी-1 और 2, प्राच्यवाद, रमेश चंद्र दत्त, रमेश चंद्र मजूमदार, रणजीत गुहा, रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर, रामशरण शर्मा, रोमिला थापर, वासुदेव शरण अग्रवाल, पांडुरंग वामन काणे, विश्वनाथ सखाराम गणेश देउस्कर, सामंतवाद : एक बहस।

संदर्भ

1. वी.के. राजवाड़े (1935), 'द सोशल ऑर्गनाइजेशन ड्यूरिंग शिवाजीज टाइम्स 1630-1680', *राजवाड़े लेख-संग्रह*, खण्ड 3, भारत इतिहास संशोधक मण्डल, पुणे.
2. लक्ष्मीकांत जोशी (सम्पा.) (1967), 'इवोल्यूशन ऑफ़ द मींस ऐंड इंस्ट्रुमेंट्स ऑफ़ एक्सपेनशन ऑफ़ डिजायर ऐंड थॉट्स', *सेलेक्टेड एसेज़*, साहित्य अकादेमी, दूसरा संस्करण.

— निर्मल कुमार पाण्डेय

विश्व सामाजिक मंच

(World Social Forum)

विश्व सामाजिक मंच (डब्ल्यूएसएफ़) नव-उदारतावादी भूमण्डलीकरण का विरोध करने वाली प्रमुख संरचना के रूप में उभरा है। मंच का दावा है कि वह भूमण्डलीकरण के तहत बनने वाली विश्व-व्यवस्था को चुनौती देने वाली सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया सुगम करने का काम कर रहा है। वह अपने-आप में कोई विचारधारा, आंदोलन, पार्टी, मोर्चा या संघ न हो कर दुनिया के पैमाने पर काम कर रही चौपाल की तरह का एक क्षैतिज स्पेस है जिसका मकसद नागर समाज के संघर्षशील और जनोन्मुख संगठनों की नेटवर्किंग को बढ़ावा देना है।

विश्व सामाजिक मंच का पहला आयोजन सन् 2001 में पोर्टो अलेगरो (ब्राज़ील) में हुआ था। इसकी विशेषता यह है कि जिस तारीख को दावोस में नव-उदारतावादी आर्थिक निज़ाम की नुमाइंदगी करने वाला वर्ल्ड इकॉनॉमिक फ़ोरम आयोजित होता है, उसी दिन 'प्रति-सम्प्रेषण' की कार्यवाही के तौर पर वर्ल्ड सोशल फ़ोरम किया जाता है। विश्व सामाजिक मंच का नारा है : 'दूसरी दुनिया मुमकिन है'। इस यूटोपियायी खयाल को धरती पर उतारने के लिए इस फ़ोरम ने खुद को एक मध्यवर्ती भूमिका में रखा है। अर्थात् जिस दूसरी दुनिया को बनाने की चर्चा की जा रही है, उसकी रचना फ़ोरम के नेतृत्व में नहीं होगी, बल्कि उसकी बागडोर नागर समाज के

हाथों में होगी। दरअसल यह फ़ोरम नागर समाज को एक नये राजनीतिक अभिनेता के तौर पर देखता है जिसके जरिये समाज खुद को बदल सकता है। इसीलिए फ़ोरम सारी दुनिया में फैले नागर समाज के उन संगठनों के आपस में मिलने, नेटवर्किंग करने और एक-दूसरे से सीखने का मुक्त स्पेस मुहैया कराता है जो तरह-तरह की राजनीतिक कार्यवाहियों में संलग्न हैं। फ़ोरम चाहता है कि उसके आयोजनों के जरिये सिविल सोसाइटी की संस्थाएँ दुनिया के प्रत्येक देश में उभरें और मज़बूत हों।

भूमण्डलीकरण के खिलाफ़ संघर्ष करने के लिए गुजरे ज़माने के राजनीतिक रूपों को अपर्याप्त मानने वाले विश्व सामाजिक मंच के लिए ओडेड ग्रेज्यू, फ्रांसिस चीको व्हिटेकर और बर्नार्ड कैसेन द्वारा पहलकदमी ली गयी थी। ब्राज़ीलियन वर्कर्स पार्टी और पोर्टो अलेगरो की शहर काँसिल द्वारा इसका समर्थन किया गया। पहले आयोजन की ज़बरदस्त सफलता के बाद 2002 और 2003 में फिर से पोर्टो अलेगरो में ही इसके आयोजन हुए। इराक पर अमेरिकी हमले के खिलाफ़ गोलबंदी में इस मंच की प्रमुख भूमिका रही। 2004 में विश्व सामाजिक मंच का मुम्बई में आयोजित हुआ ताकि एशिया और अफ्रीका की भागीदारी बढ़ाई जा सके। इसमें करीब 75,000 प्रतिनिधियों ने भाग लिया। 2006 में इसका आयोजन तीन शहरों (वेनेज़ुएला के काराकास, माली के बमाको और पाकिस्तान के कराची) में हुआ। 2007 में फ़ोरम नैरोबी (केन्या) में किया गया और 2011 का फ़ोरम डाकार (सेनेगल) में प्रस्तावित है। 2002 से ही युरोप के पैमाने पर भी अलग से सोशल फ़ोरम (पेरिस, लंदन, एथेंस, मालमो) आयोजित किये जा रहे हैं।

पहले विश्व सामाजिक मंच के ब्राज़ीलियन आयोजकों ने उसे एक ऐसे महान सम्मेलन के रूप में आयोजित करने से इनकार किया जिसमें दुनिया के बड़े-बड़े रैडिकल बुद्धिजीवियों और नेताओं को बुलाया जाता, वे आपस में विचार-विमर्श करके एक विकल्प तैयार करते और फिर सारी दुनिया में परिवर्तन का नेतृत्व करने के लिए निकल जाते। उन्होंने फ़ोरम को जुझारू तत्त्वों के एक ऐसे महान प्रदर्शन या सभा में सीमित करने से भी परहेज़ किया जिससे भूमण्डलीकरण के खिलाफ़ चल रही मुहिम में एक घटना और जुड़ जाती।

फ़ोरम का सांगठनिक चरित्र अपने-आप में चर्चा के योग्य है। यह न तो किसी पार्टी जैसा है, न ही मोर्चे जैसा, न ही किसी संघ जैसा। वैश्विक पैमाने पर हो रहे भूमण्डलीकरण का प्रतिरोध करने के लिए और नव-उदारतावादी राजनीति के जमे हुए रूपों को जनोन्मुख रूपों से प्रतिस्थापित करने के लिए विश्व सामाजिक मंच के रूप में एकदम नये क्रिस्म की संरचना उभरी है। इसी संरचना के



पोर्टो अलेग्रे (ब्राज़ील) में विश्व सामाजिक मंच की स्थापना (2001) हुई।

कारण फ़ोरम को भूमण्डलीकरण के खिलाफ़ खड़ी कई विचारधारात्मक पार्टी-पॉलिटिक्स वाली ताकतों की तरफ़ से आलोचना का सामना भी करना पड़ता है, लेकिन इसी के साथ-साथ ये तमाम ताकतें फ़ोरम में किसी न किसी रूप में भागीदारी भी करती रहती हैं।

फ़ोरम और नागर समाज : 'नागर समाज' से फ़ोरम का मतलब है ग़ैर-सरकारी संस्थाएँ, एसोसिएशनें, आंदोलन और ट्रेड यूनियन संगठन। अर्थात् समाज का वह हिस्सा जो किन्हीं विशिष्ट लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए खुद को संगठित करता है और इस तरह समाज से अलग-थलग पड़ी हुई निजी स्तर पर की जाने वाली कार्रवाई से परे चला जाता है। नागर समाज की इस परिभाषा में फ़ोरम ने राजनीतिक दलों को शामिल नहीं किया है। सरकारें, उनकी अंतर्राष्ट्रीय संस्थाएँ और फ़ौजी संगठन भी उसमें शामिल नहीं हैं। राजनीतिक दलों को इसलिए बाहर रखा गया है कि उनके, सरकारों के और अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं के पास पहले से ही तरह-तरह के फ़ोरम और जमावड़े हैं जहाँ वे मिल सकते हैं। पार्टियों, सरकारों और अंतर्राष्ट्रीय अंतर-सरकारी संस्थाओं को फ़ोरम में अपने प्रेक्षक भेजने की इजाज़त है। फ़ोरम के प्रतिभागियों के साथ वे बहस में भी हिस्सा ले सकते हैं। फ़ौजी संगठनों को इतनी इजाज़त भी नहीं है।

वैसे तो नागर समाज के कई संगठनों के पास अपने मिलने-जुलने और गतिविधियों के समन्वय के लिए पहले से ही कई दायरे हैं, पर विश्व सामाजिक मंच घटित होने से पहले नागर समाज के पास अपने संगठनों की समस्त बहुलता और विविधता के लिए स्थानीय, राष्ट्रीय, क्षेत्रीय और दुनिया के स्तर पर इस तरह का कोई मिलन स्थल उपलब्ध नहीं था। समाज के संगठित हिस्सों के पास समाज की असंगठित

संरचनाओं के बीच से उभरने का कोई ज़रिया मौजूद नहीं था।

फ़ोरम की प्रकृति : फ़ोरम के आयोजक इस बात पर जोर देते हैं कि उसकी प्रकृति क्षैतिज रहे और उसकी स्वरूप खुले स्पेस जैसा हो। खुला स्पेस होने के कारण ही फ़ोरम इतनी बड़ी संख्या में नागर समाज के संगठनों को अपनी ओर खींच पाया। खुले स्पेस का मतलब था कि फ़ोरमों पर न तो किसी की मिल्कियत होगी, न ही किसी तरह की संकीर्णतावाद होगा और न ही हुक्म चलाने वाला या अपना कोई एजेंडा थोपने वाला कोई संगठन उस पर हावी होगा। फ़ोरम बिना किसी पुलिसिया नियंत्रण और निगरानी के सभी तरह के लोगों और संगठनों का स्वागत करता है। फ़ोरम के आयोजक गारंटी देते हैं कि उसमें शिरकत के लिए किसी की स्वायत्तता पर कोई आँच नहीं आयेगी और न ही किसी अन्य लक्ष्य के लिए उनकी वैधता, शक्ति या प्रभाव को दोहन किया जाएगा।

फ़ोरम की प्रकृति किसी विचारधारात्मक बैठक की तरह नहीं है। न ही वह विभिन्न मसलों पर अपनी राय निर्धारित करने वाली कोई संस्था बनना चाहता है। फ़ोरम किसी भी तरह का अंतिम दस्तावेज़ जारी करने के पक्ष में नहीं है। वह कोई सामाजिक आंदोलन भी नहीं है। विश्व सामाजिक मंच के आयोजक मानते हैं कि सारी दुनिया में फ़ोरमों का प्रसार होने के कारण कई तरह के आयोजकों को फ़ोरम नाम दिया जाने लगा है। सांसदों, स्थानीय अधिकारियों, मजिस्ट्रेटों आदि के फ़ोरम वर्ल्ड सोशल फ़ोरम और क्षेत्रीय सोशल फ़ोरमों के आयोजन के पहले, दौरान या बाद में होने लगे हैं। इनमें और विश्व सामाजिक मंच की प्रवृत्तियों के बीच अंतर हो सकता है।

पहले विश्व सामाजिक मंच में आयोजन समिति ने अपने सोच के हिसाब से कुछ कांफ़्रेंसों और बहसों का आयोजन ज़रूर किया था। उस समय तक किसी को नहीं पता था फ़ोरम की ओर कितने लोग आकर्षित होंगे। इसलिए प्रतिभागियों को अपनी ओर खींचने के लिए दुनिया भर के मशहूर बुद्धिजीवियों, कार्यकर्ताओं और अपने संघर्षों के लिए प्रतिष्ठित लोगों को निमंत्रित किया था ताकि वे लोगों को अपने 'अनुभवों' की जानकारी दे सकें। आयोजकों द्वारा उनका किराया-भाड़ा तक अदा किया गया। इन हस्तियों के भाषणों और वक्तव्यों के लिए फ़ोरम स्थल पर सबसे अच्छे और बड़े स्थान आबंटित किये गये थे। अपनी विषयवस्तुओं के कारण ये कार्यक्रम फ़ोरम के शो-केस बन गये और अन्य कार्यक्रमों की अहमियत कम सी हो गयी। लेकिन, इसी के समांतर एक और गतिविधि चलती रही। आयोजकों ने प्रतिभागियों से आग्रह किया कि वे खुद अपनी पहल पर स्व-आयोजित गतिविधियाँ करें। इस तरह फ़ोरम के लिए स्व-

आयोजन, स्व-प्रबंधन और स्व-दायित्व की प्रक्रिया चल निकली। 2004 के मुम्बई सोशल फ़ोरम में शो-केसनुमा कार्यक्रम काफ़ी कम किये गये। 2005 के फ़ोरम में किसी बड़े कार्यक्रम की पेशकश नहीं की गयी। बजाय इसके आयोजकों ने सहभागिता सुगम करने और अंतःसम्बद्धता प्रोत्साहित करने के लिए फ़ोरम के सम्पूर्ण स्पेस को छोटे-छोटे स्पेसों में बाँट दिया। इन छोटे-छोटे स्पेसों का नामकरण उन मुद्दों और चुनौतियों के आधार पर किया गया जिनके बारे में उनके भीतर चर्चा होनी थी।

यह नियम भी बनाया गया कि प्रतिभागियों के तौर पर फ़ोरम में केवल संगठन के प्रतिनिधियों का पंजीकरण ही किया जाए। इससे अ-प्रतिबद्ध बुद्धिजीवियों का आगमन हतोत्साहित हुआ जो फ़ोरम के आयोजनों में केवल सोशल टूरिस्ट के तौर पर, थोड़ा-बहुत दिशा-बोध करने या केवल उत्सुकता के कारण ही आ सकते थे। इससे गारंटी हुई कि केवल वे लोग ही फ़ोरम की तरफ़ आकर्षित हों जो किसी न किसी संघर्ष में लगे हुए हैं।

फ़ोरम की तरफ़ से यह प्रयास भी होता है कि उसकी खुला स्पेस क्षैतिज रहे। यानी न तो उसका कोई नेता हो, न ही कोई अनुयायी। किसी क्रिस्म का स्तम्भीय पदानुक्रम न हो। फ़ोरम के किसी भी संस्करण के नाम पर किसी को यह अधिकार नहीं दिया जाता कि वह सभी सहभागियों की नुमाइंदगी का दावा करते हुए कोई अधिकारिक बयान दे सके। फ़ोरम में होने वाली एक गतिविधि को दूसरी पर महत्त्व देने को कोई संस्थागत कोशिश नहीं होती। आयोजक लगातार इस तरह की प्रवृत्तियों के प्रति सतर्क रहते हैं। इस प्रकार विश्व सामाजिक मंच एक बहुलतावादी, विविधतामूलक, किसी स्व-घोषणा में यकीन न करने वाला, गैर-सरकारी और गैर-दलीय संदर्भ के रूप में उभरता है जो नयी दुनिया के ठोस कार्यभार में लगे संगठनों और आंदोलनों को विकेंद्रित शैली में अंतःसंबंधित करने की कोशिश करता है।

अपनी सांगठनिक रचना को क्षैतिज रखने के उसूल के कारण फ़ोरम किसी भी पिरामिडनुमा सांगठनिक संरचना को लोकतांत्रिक मानने से इनकार करता है। यह उसूल फ़ोरम के आयोजन को नेटवर्किंग के एक गहन क्षण में बदल देता है। जिसका न कोई मुखिया होता है और न ही कमांडर। एक ऐसा नेटवर्क बनने की सम्भावना निकलती है जिसमें प्रत्येक संगठन, व्यक्ति या आंदोलन को सम्पूर्ण स्वायत्तता की गारंटी होगी।

राजनीतिक कार्रवाई की संकल्पना : विश्व सामाजिक मंच राजनीतिक कार्रवाई के नाम पर की जाने वाली हिंसा को अस्वीकार करता है। साथ ही वह मानता है कि सड़कों पर किये जाने वाले प्रदर्शन वगैरह राजनीतिक कार्रवाई के स्थापित रूप हैं, पर केवल उन्हें ही राजनीतिक कार्रवाई

मानना उचित नहीं है। इंटरनेट, फ़ैक्स और सेलफ़ोन जैसे क्षैतिज जनसंचार माध्यमों का इस्तेमाल करके भी काफ़ी प्रभावी गोलबंदियाँ की जा सकती हैं, लोगों को कार्रवाई में उतारा जा सकता है। मसलन, उपभोक्ताओं से कहा जा सकता है कि वे अमुक उत्पादों का बाँयकाट करें। ऐसी नागरिक मुहिमें चुनावी फ़ायदा तक दिला सकती हैं।

विश्व सामाजिक मंच मानता है कि दूसरी दुनिया बनाने की कार्रवाई को सत्ता हासिल करने से जोड़ना उचित नहीं होगा। इस विचार के अनुसार दूसरी दुनिया उस दिन बनना शुरू नहीं होगी, जब भूमण्डलीकरण विरोधियों को सत्ता मिलेगी। दरअसल, ऐसा कोई दिन तो आने वाला है ही नहीं। दूसरी दुनिया बनने की प्रक्रिया तो शुरू हो चुकी है। वह भीतर से बाहर की ओर और नीचे से ऊपर की ओर बन रही है। वह असंख्य कार्रवाइयों के जरिये पुरानी दुनिया से छीनी गयी ज़मीन पर बन रही है। इन कार्रवाइयों से सांस्कृतिक परिस्थितियों समेत ऐसे हालात बन रहे हैं जिनके आधार पर एक ख़ास मुकाम पर आ कर परिवर्तन की प्रक्रिया को सुदृढ़ किया जा सकता है।

देखें : अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम, पेटेंट, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, भारत का भूमण्डलीकरण, भारत में पेटेंट क़ानून, भारत में बहुराष्ट्रीय निगम, भारत में शेर्य संस्कृति, भूमण्डलीकरण, भूमण्डलीकरण का इतिहास-1 और 2, भूमण्डलीकरण और बेरोज़गारी, भूमण्डलीकरण और गरीबी, भूमण्डलीकरण और पूँजी बाज़ार, भूमण्डलीकरण और लोकतंत्र, भूमण्डलीकरण और राज्य, भूमण्डलीकरण और राष्ट्रीय सम्प्रभुता, भूमण्डलीकरण और वित्तीय पूँजी, भूमण्डलीकरण और वित्तीय उपकरण, भूमण्डलीकरण के आलोचक, भूमण्डलीकरण के ख़िलाफ़ प्रतिरोध विश्व बैंक, विश्व व्यापार संगठन।

संदर्भ

1. फ़्रांसिस्को 'चीको' व्हिटेकर फ़रेरा (2009), *वर्ल्ड सोशल फ़ोरम : दुनिया की चौपाल (हस्तक्षेप की नयी पगडण्डियाँ)*, अनु. अभय कुमार दुबे, साउथ एशियन डॉयलॉग ऑन इकॉलॉजिकल डेमांडेसी, नयी दिल्ली.
2. डब्ल्यू. फ़िशर और टी. पोनियाह (सम्पा.) (2004), *अनदर वर्ल्ड इज़ पॉसिबिल, पॉपुलर आल्टरनेटिव्स टु ग्लोबलाइज़ेशन एट द वर्ल्ड सोशल फ़ोरम*, लंदन और न्यूयॉर्क, ज़ेड बुक्स.
3. जय सेन, अनिता आनंद, ए. एस्कोबार और सी. वाटरमेन (सम्पा.) (2004), *वर्ल्ड सोशल फ़ोरम : चैलेंजिंग एम्पायर्स*, नयी दिल्ली, विवेक फ़ाउंडेशन.

— अभय कुमार दुबे

विश्व व्यापार संगठन

(World Trade Organisation)

सत्तर के दशक में ब्रेटन वुड्स प्रणाली के ध्वस्त हो जाने के बाद से विश्व की बड़ी आर्थिक ताकतों के पास ऐसा कोई संस्थागत बंदोबस्त नहीं था जो राष्ट्रों के बीच होने वाले व्यापार से संबंधित विवादों को न केवल सुलझा सके, बल्कि उन नियम-क़ानूनों और हिदायतों का सूत्रीकरण भी कर सके जिनके आधार पर विभिन्न देशों की व्यापार संबंधी नीतियाँ उदार बनायी जा सकें। बीसवीं सदी के आखिरी वर्षों में भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया के गति पकड़ लेने के बाद से तो यह ज़रूरत और प्रबल हो गयी थी। जनरल एग्रीमेंट ऑन टैरिफ़्स ऐंड ट्रेड (गैट) सीमित उद्देश्यों को लेकर बनायी गयी अस्थायी चरित्र की संस्था थी। यह विश्व में सीमाओं के आर-पार हो रहे पूँजी के सतत प्रवाह की माँग थी ताकि नियोक्लासिकल अर्थशास्त्र के सिद्धांतों पर आधारित दुनिया का नया आर्थिक निज़ाम खड़ा किया जा सके। विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यूटीओ) की रचना इसी आवश्यकता के परिणामस्वरूप की गयी है।

भूमण्डलीय आर्थिक प्रणाली के शीर्ष पर स्थित विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यूटीओ) की स्थापना सात साल तक चलने वाली बहुपक्षीय व्यापार वार्ता के उरुगे-चक्र की समाप्ति के साल भर बाद 1 जनवरी, 1995 को की गयी। यह वार्ता गैट द्वारा आयोजित की गयी थी। गैट इससे पहले भी व्यापार संबंधी कई वार्ता-चक्र आयोजित कर चुका था। शुरुआत के वार्ता-चक्रों का मक़सद आयात और अन्य शुल्कों को घटाने से जुड़ा था। इनमें सबसे ज़्यादा कामयाबी कैनेडी-चक्र को मिली थी जिसका समापन 1967 में हुआ था। इसके बाद 1974 में शुरू हुआ टोक्यो-चक्र 1979 तक चला। उरुगे-चक्र सर्वाधिक विवादास्पद रहा, और कई बार इसके नाक़ाम होने के अंदेश भी व्यक्त किये गये। लेकिन इसकी ख़ास बात यह रही कि इसके परिणामस्वरूप गैट की संरचना ख़त्म कर दी गयी और उसकी जगह डब्ल्यूटीओ ने ले ली। गैट की स्थापना ब्रेटन वुड्स सम्मेलन अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक के साथ ही की गयी थी। दरअसल, सम्मेलन के मूल प्रस्ताव में आईएमएफ़ और विश्व बैंक के साथ एक अंतर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन (आईटीओ) की स्थापना का ज़िक्र था। पर सम्मेलन के भागीदारों की असहमति के कारण इसकी जगह गैट की अस्थायी संरचना बनायी गयी थी। गैट का मक़सद केवल कारख़ाना निर्मित वस्तुओं के अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की शर्तों को उदार बनाने तक सीमित था। एक औपचारिक और सम्पूर्ण संगठन के रूप में डब्ल्यूटीओ का कार्यक्षेत्र कहीं व्यापक है। इसके तीन घटक हैं : संशोधित गैट, जनरल

एग्रीमेंट ऑन ट्रेड इन सर्विसेज़ (जीएटीएस) और एग्रीमेंट ऑन ट्रेड-रिलेटिड इंटेलेक्चुअल प्रॉपर्टी इशूज़ (ट्रिप्स)।

गठन के समय इस संस्था के प्रभावी होने को लेकर कई तरह के शक व्यक्त किये जा रहे थे। 1999 में इसके सदस्य देशों की सिएटल में बैठक हुई जिसका मक़सद मुक्त व्यापार को बढ़ावा देने और अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को अवरोध मुक्त करने के उद्देश्य से नीतियाँ बनाने के लिए आयोजित किये जाने वाले वार्ता-चक्र की कार्यसूची तय करना था। जिनेवा में हुई शुरुआती बातचीत में सदस्य देशों के बीच तीखे मतभेदों के कारण बात आगे नहीं बढ़ पायी। अमेरिका चाहता था कि युरोपीय देश अपने खेतिहर उत्पादों पर दी जाने वाली सबसिडी घटाएँ ताकि वह उनके बाज़ारों में अपना माल बेच सके। युरोपीय देश इसके लिए तैयार नहीं थे। उन्हें लग रहा था कि अगर उन्होंने इस मामले में अमेरिका द्वारा दिया जाने वाला मुक्त व्यापार का तर्क मान लिया तो उनके किसानों का दिवाला निकल जाएगा। इसी तरह विकासशील देश अपनी व्यापार नीतियों का और ज़्यादा उदारीकरण करने के मूड में नहीं थे। अमीर औद्योगिक देशों की ट्रेड यूनियनों चाहती थीं कि विकासशील देश अपने यहाँ न्यूनतम श्रम-मानकों का पालन करें। इन देशों की दिक्कत यह थी कि अगर उन्होंने ये मानक मान लिए तो उनकी अर्थव्यवस्थाएँ निवेश के लिए अनाकर्षक हो जाएँगी। आगे की व्यापार-वार्ताओं का भविष्य इस बात पर निर्भर था कि डब्ल्यूटीओ के सदस्य देश इस तरह की बातचीत में अपना फ़ायदा किस तरह से देख रहे हैं। जाहिर था कि तुलनात्मक रूप से क्षेत्रीय सहयोग में लाभ दिखने पर उनके लिए डब्ल्यूटीओ जैसा मंच कम उपयोगी साबित हो सकता था।

लेकिन ये शुरुआती नाकामियाँ डब्ल्यूटीओ का आकर्षण और उपयोगिता कम नहीं कर पायीं। जल्दी ही इसके सदस्यों की संख्या बढ़ने लगी। चीन द्वारा इसकी सदस्यता प्राप्त कर लेने के बाद से तो दुनिया में इसके प्रति रही-सही विचारधारात्मक हिचक भी ख़त्म हो गयी है। इक्कीसवीं सदी का पहला दशक ख़त्म होने तक डब्ल्यूटीओ व्यापार का उदारीकरण करने वाले पुलिसमैन की तरह ख़ुद को स्थापित कर चुका है। कुल मिला कर डब्ल्यूटीओ के तीन घटक मुख्य तौर से चार तरह के उद्देश्यों की पूर्ति करते हैं।

विश्व व्यापार संगठन की पहली भूमिका तो यह है कि वह अपने सदस्य देशों के लिए सूचनाओं के आदान-प्रदान, विचार-विमर्श और समझौता वार्ताओं के लिए प्रमुख मंच की तरह काम करता है। हर देश के वाणिज्य मंत्री प्रत्येक दो साल में एक बार उच्चस्तरीय वार्ता के ज़रिये व्यापार नीतियों पर चर्चा करते हैं। सदस्य देश पर्यावरण या स्पर्धा जैसे मुद्दों पर गठित किये गये कार्यदलों के माध्यम से भी आपस में संवाद स्थापित करते रहते हैं। अगर कोई देश व्यापार में अवरोध पैदा करने वाली नीतियाँ अपनाता चाहता है, तो उसे पहले

डब्ल्यूटीओ को सूचित करना पड़ता है। यह संस्था अपने सदस्यों पर जिम्मेदारी डालती है कि वे अपने किसी नये तकनीकी नियम की जानकारी पर्याप्त समय पहले ही दे देंगे ताकि निर्यातकों को उसके साथ तालमेल बैठाने का मौक़ा मिल जाए।

डब्ल्यूटीओ का ध्येय है कि दुनिया में सभी देश व्यापार में भेदभाव वाली नीतियों को न अपनाएँ। इस लिहाज़ से उसकी दूसरी भूमिका यह सुनिश्चित करने की है कि उसके सदस्य देशों को किन सीमाओं में रह कर आर्थिक गतिविधियाँ चलानी चाहिए। इन देशों को क्या करना चाहिए और क्या नहीं, इसके लिए डब्ल्यूटीओ विस्तार से हिदायतें देता है। इनमें कई हिदायतें वही हैं जो गैट के पुराने दस्तावेज़ में दर्ज थीं। डब्ल्यूटीओ ने इनमें कई नये पहलू भी जोड़ दिये हैं। जैसे, वह चाहता है कि सदस्य देश अपनी प्रशुल्क दरों को उस स्तर से ऊपर न बढ़ाएँ जब उन्होंने सदस्यता ग्रहण की थी या जब वे बहुपक्षीय वार्ताओं में भाग ले रहे थे। इस स्तर को डब्ल्यूटीओ टैरिफ़ बाईंडिंग (प्रशुल्क-बाध्यता) कहता है। वह अपने सदस्य देशों को व्यापार के रास्ते में ग़ैर-प्रशुल्क अवरोध आरोपित करने से भी रोकता है।

इस संस्था की तीसरी भूमिका राष्ट्रों के बीच होने वाली संधियों से जुड़ी है। उसने अपवादों की एक सूची तैयार की है जिनके साथ उनके कारणों व साधनों की तजवीज़ भी जुड़ी है। उसकी मान्यता है कि सरकारों के बीच होने वाले पेचीदा करारों में उनसे बाहर निकलने की व्यवस्था भी शामिल की जा जानी चाहिए। समझौते करते समय कोई यह गारंटी से नहीं कह सकता कि उनके नतीजे फ़ायदेमंद ही होंगे। डब्ल्यूटीओ उन तौर-तरीकों का काफ़ी विस्तार से प्रावधान करता है जिनका लाभ उठा कर विभिन्न पक्ष किसी समझौते से बिना नुक़सान उठाये निकल सकते हैं।

चौथी भूमिका है सदस्य देशों के बीच विवादों के निपटान की। अगर किसी देश को शिकायत है कि दूसरा देश उसके साथ किये गये समझौते का उल्लंघन कर रहा है तो वह पहले उसके साथ विचार-विमर्श की याचिका पेश करता है ताकि द्विपक्षीय स्तर पर मामले का समाधान हो सके। नाकामी होने पर शिकायतकर्ता देश तीन तटस्थ सदस्यों की जाँच कमेटी बनाने की अपील करता है। यह कमेटी अपनी तत्संबंधित विशेषज्ञता का लाभ उठाते हुए डब्ल्यूटीओ के नियमों की रोशनी में विवाद की पड़ताल करके रपट जारी करती है। इस रपट को स्वतः स्वीकार्य माना जाता है बशर्ते कोई एक पक्ष उस पर आपत्ति न करे या सदस्य देश उसके खिलाफ़ फ़ैसला न दे दें। इसके बाद भी विवाद निबटारा न होने पर एक सात सदस्यीय अपील कमेटी बनती है जिसमें वे तीन सदस्य भी शामिल होते हैं। उसकी रपट सभी को

स्वीकार्य होती ही है, बशर्ते सभी सदस्य देश सर्वसम्मति से उसे ख़ारिज न कर दें।

इस प्रक्रिया के पूरे होने के बाद सभी राज्यों को उस रपट की सिफ़ारिशें माननी पड़ती हैं। न मानने की सूरत में शिकायतकर्ता देश मुआवज़े के अधिकारी होते हैं या फिर अवज्ञाकारी देशों को मिलने वाली व्यापार संबंध रियायतें रोक दी जाती हैं।

भूमण्डलीकरण के आलोचकों का कहना है कि डब्ल्यूटीओ नियोक्तासिकल आर्थिक सिद्धांत के आधार पर काम करने वाला संगठन है और उसकी प्राथमिकता घुमा-फिरा कर धनी देशों के हितों की सुरक्षा करना है। वह एक ग्लोबल पूँजीवादी व्यवस्था की शीर्ष संस्था है जिसे आलोचकों ने 'मैक-वर्ल्ड', 'टरबो-कैपिटलिज़्म', 'मार्केट फंडामेंटलिज़्म', 'कैसीनो कैपिटलिज़्म', और 'कैसर-स्टेट कैपिटलिज़्म' जैसी संज्ञाएँ दी हैं।

देखें : अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम, पेटेंट, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, भारत का भूमण्डलीकरण, भारत में पेटेंट क़ानून, भारत में बहुराष्ट्रीय निगम, भारत में शेर्य संस्कृति, भूमण्डलीकरण, भूमण्डलीकरण का इतिहास-1 और 2, भूमण्डलीकरण और बेरोज़गारी, भूमण्डलीकरण और गरीबी, भूमण्डलीकरण और पूँजी बाज़ार, भूमण्डलीकरण और लोकतंत्र, भूमण्डलीकरण और राज्य, भूमण्डलीकरण और राष्ट्रीय सम्प्रभुता, भूमण्डलीकरण और वित्तीय पूँजी, भूमण्डलीकरण और वित्तीय उपकरण, भूमण्डलीकरण के आलोचक, भूमण्डलीकरण के खिलाफ़ प्रतिरोध, विश्व बैंक, विश्व सामाजिक मंच।

संदर्भ

1. एम. बर्नार्ड और एम. कोस्टेक (1995), *द पॉलिटिकल इकॉनॉमी ऑफ़ वर्ल्ड ट्रेडिंग सिस्टम*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.
2. जगदीश भगवती (1994), 'दि वर्ल्ड ट्रेडिंग सिस्टम', *जरनल ऑफ़ इंटरनैशनल एफ़ैयर्स*, अंक 48.
3. जे. जेक्सन (1989), *द वर्ल्ड ट्रेडिंग सिस्टम*, एमआईटी प्रेस, केम्ब्रिज, एमए.

— अभय कुमार दुबे

विश्व बैंक

(World Bank)

विश्व बैंक का पूरा नाम है इंटरनैशनल बैंक फॉर रिकंस्ट्रक्शन एंड डिवेलपमेंट (आईबीआरडी)। इसकी स्थापना 1944 में हुए ब्रेटन वुड्स सम्मेलन में पारित एक प्रस्ताव के तहत हुई थी। बैंक ने 1946 में जिस समय अपना कामकाज शुरू किया, कुल 38 देश उसके सदस्य थे। उसकी शुरुआती जिम्मेदारी द्वितीय विश्व-युद्ध से तबाह हुई युरोपीय अर्थव्यवस्थाओं के लिए ऋण उपलब्ध कराने की थी। पचास के दशक के मध्य में जब युरोपीय देश आर्थिक प्रगति की राह पर फिर से चल निकले, तो विश्व बैंक ने अपना ध्यान एशिया, अफ्रीका और लातीनी अमेरिका के देशों पर देना शुरू किया। इस ब्रेटन वुड्स संस्था की यह भूमिका उत्तरोत्तर विवादास्पद होती चली गयी। बैंक ने दावा किया कि उसका मकसद ऋण देकर, गारंटियों की व्यवस्था करके, तकनीकी सहायता प्रदान करके और निवेश संबंधी परामर्श देकर तीसरी दुनिया के देशों को गरीबी के गर्त से निकालना है। बैंक का यह भी कहना था कि आधुनिकीकरण और विकास में लगे हुए मँझोली आमदनी वाले देशों के रास्ते में आने वाले राजनीतिक जोखिमों को कम करना भी उसका उद्देश्य है। नब्बे के दशक में सोवियत खेमे के बिखराव के बाद बैंक ने पूर्वी युरोप के देशों के लिए आर्थिक मदद मुहैया करानी शुरू कर दी है। इस समय बैंक की सदस्य संख्या 180 हो चुकी है। इसका मुख्यालय वाशिंगटन, डीसी में है। संयुक्त राष्ट्र उसे अपनी प्रमुख एजेंसी के रूप में मान्यता देता है।

विश्व बैंक की गतिविधियों को सारी दुनिया में आलोचनाओं का सामना करना पड़ा है। आलोचकों के मुताबिक गरीबी-उन्मूलन की आड़ में विश्व बैंक इन देशों के बाजारों को अंतर्राष्ट्रीय निजी पूँजी के लिए खोलने की परियोजना पर अमल करता रहा है। विश्व बैंक को प्रथम विश्व यानी विकसित पूँजीवादी देशों का एजेंट बताने वाले उसके आलोचक उसे 'भेड़ की खाल में भेड़िया' करार देते हैं। आँकड़े बताते हैं कि बैंक की सलाहों के कारण तीसरी दुनिया के देश ऋण में दबते चले गये हैं। विकास और आधुनिकीकरण का वाहक होने का दावा करने वाले बैंक का एक प्रमुख रुझान बड़ी-बड़ी परियोजनाओं के लिए ऋण प्रदान करना है। वह सड़क निर्माण, दूरसंचार नेटवर्क की रचना, बंदरगाहों के निर्माण और बाँध बनाने जैसी भारी-भरकम योजनाओं को छोटी और स्थानीय महत्त्व की योजना की तुलना में प्राथमिकता देता है। पूरी लागत का एक हिस्सा बैंक खुद देता है, और बाकी के लिए उसकी शर्त होती है कि उसे निजी निवेशकों, कराधान और पूँजी बाजारों से

उगाहा जाएगा।

भारत में भी बैंक का नाम सिंगरौली विद्युत परियोजना और सरदार सरोवर बाँध परियोजना के साथ जुड़ा हुआ है जिनके खिलाफ चलने वाली जमीनी जनांदोलन अक्सर चर्चा में रहते हैं। आलोचकों की मान्यता है कि विश्व बैंक हर देश-काल में दैत्याकार प्रोजेक्टों के जरिये विकास-प्रक्रिया में हस्तक्षेप करके स्थानीय आवश्यकताओं और परिस्थितियों की अनदेखी करता है। इसकी कई परियोजनाओं के कारण बड़े पैमाने पर मानव-विस्थापन और पर्यावरण-क्षति का परिणाम निकला है। पिछले दिनों बैंक की तिब्बत नीति काफ़ी विवादास्पद हुई है। तिब्बत में करीब 58,000 हानवंशी चीनियों और चीनी मुसलमान किसानों को तिब्बत में बसाने के लिए बैंक 16 करोड़ डॉलर की सहायता देने के लिए तैयार हो गया है। तिब्बत को चीन के कब्जे से छुटकारा दिलाने के लिए संघर्ष कर रहे समूहों की मान्यता है कि इस क्रम से बैंक उनके गृह प्रदेश में आबादी की सामाजिक संरचना बदलने की चीनी साजिश में योगदान कर रहा है।

पचास के दशक के बाद बैंक का काम-काज युरोपीय सीमाओं को पार करके जैसे-जैसे बढ़ा, उसने अपनी मदद के लिए चार अन्य संस्थाएँ खड़ी कीं। ये हैं : इंटरनैशनल फ़ाइनेंस कारपोरेशन (आईएफसी), इंटरनैशनल डिवेलपमेंट एसोसिएशन (आईडीए), इंटरनैशनल सेंटर फ़ॉर द सेटिलमेंट ऑफ़ इन्वेस्टमेंट डिस्प्यूट्स (आईसीएसआईडी) और मल्टीलेटर इन्वेस्टमेंट गारंटी एजेंसी (एमआईजीए)। आईएफसी मुख्य तौर पर निजी कम्पनियों, खास कर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को ऋण देती है ताकि उसके आधार पर निजी निवेश पूँजी आकर्षित की जा सके। 1960 में गठित आईडीए अत्यंत दरिद्र देशों को बिना ब्याज के दीर्घावधि ऋण देने का फ़ैसला करती है। अपनी पितृ संस्था विश्व बैंक के मुकाबले आईडीए का जोर छोटी-छोटी परियोजनाओं (जैसे, जल-शुद्धि, स्वच्छता, स्वास्थ्य, परिवार नियोजन, खेतिहर उत्पादन आदि) की आर्थिक मदद पर रहता है। आईसीएसआईडी का काम सरकारों और निवेशकों के बीच होने वाले विवादों में मध्यस्थता करना है। एमआईजीए निजी निवेश को सभी तरह के राजनीतिक जोखिमों (तख़्तापलट, राष्ट्रीयकरण आदि) से बचाने के लिए सक्रिय रहती है। बैंक स्वयं कई तरह के स्रोतों से धन प्राप्त करता है। वह व्यावसायिक संस्थाओं से ऋण लेता है और उसे अपने ऋणदारों और निवेश से ब्याज की आमदनी होती है। बैंक पेंशन फंड्स, बीमा कम्पनियों और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को बांड्स भी बेचता है। लेकिन, इस पूरे बंदोबस्त से ऊपर बैंक की आमदनी का सर्वाधिक स्थिर स्रोत उसके सदस्य देशों द्वारा दिया जाने वाला सालाना अनुदान है। अकेले अमेरिका ने ही आज तक विश्व बैंक को पचास अरब डॉलर से ज़्यादा का अनुदान दिया है।

बैंक की रोजमर्रा की गतिविधियाँ 22 निदेशकों वाले एक कार्यकारी बोर्ड के हाथों में रहती हैं। इनमें से पाँच सबसे ज्यादा अनुदान देने वाले (अमेरिका, जापान, जर्मनी, ब्रिटेन और फ्रांस) देशों निदेशक स्थायी होते हैं। बाकी का चुनाव सदस्य देशों के बीच से किया जाता है। कार्यकारी निदेशकों का नेतृत्व अध्यक्ष और गवर्नर्स का बोर्ड करता है। प्रत्येक सदस्य देश के प्रतिनिधित्व वाला यह बोर्ड विभिन्न देशों द्वारा दिये जाने वाले आर्थिक अनुदान के अनुपात में तय की जाने वाली मतदान क्षमता के आधार पर निर्णय करता है। चूँकि अमेरिका सबसे बड़ा अनुदानदाता है, इसलिए उसके पास सबसे ज्यादा वोट भी है। बैंक का अध्यक्ष कार्यकारी निदेशकों द्वारा पाँच साल के लिए नियुक्त किया जाता है।

विश्व बैंक और भारत : अपनी स्थापना के बाद से ही विश्व बैंक भारतीय अर्थव्यवस्था से जुड़ा रहा है। पचास के दशक में विश्व बैंक के अध्यक्ष और भारत के वित्त मंत्री के बीच हुए पत्राचार से बैंक के इरादे स्पष्ट हो जाते हैं। 1956 में भारत ने बैंक से राउरकेला इस्पात संयंत्र के लिए आर्थिक मदद माँगी। बैंक ने शर्त लगायी कि संयंत्र के लिए प्रौद्योगिकी देने वाली जर्मन कम्पनी के अधिकारों को बढ़ाया जाना चाहिए। चूँकि उस समय भारत के पास विदेशी मुद्रा का पर्याप्त भण्डार था इसलिए उसने बैंक के सामने झुकने से इनकार कर दिया। लेकिन अगले ही साल भारत को पहले विदेशी मुद्रा संकट का सामना करना पड़ा। इस कमजोरी का फायदा उठाते हुए बैंक ने विदेशी पूँजी को अधिक गुंजाइश और प्रोत्साहन देने का दबाव डाला। उसके अध्यक्ष यूजेन ब्लैक ने वित्त मंत्री को पत्र लिखा और अर्थव्यवस्था के दरवाजे विदेशी पूँजी के निवेश के लिए खुलने लगे। 1956 से 1965 के बीच विदेशी निवेश दोगुना हो गया। 1966 में भारत को दूसरे विदेशी मुद्रा संकट का सामना करना पड़ा जिसके चलते बैंक भारतीय मुद्रा रुपये का अवमूल्यन कराने में कामयाब रहा। उसने अपनी शर्तें रखीं और बदले में 90 करोड़ डॉलर की ऐसी मदद देने का वायदा किया जो किसी खास प्रोजेक्ट से बँधी हुई नहीं थी। बैंक की सारी शर्तें मानने के बावजूद भारत को केवल 46.5 करोड़ डॉलर ही मिले। नतीजे के तौर पर भारत सरकार को देश के भीतर कड़ी आलोचना झेलनी पड़ी और बैंक की सार्वजनिक छवि पर विपरीत असर पड़ा।

आलोचना से बेपरवाह हो कर बैंक लगातार इस फ़िराक़ में रहा कि अर्थव्यवस्था की कमजोरियों का फ़ायदा उठा कर भारतीय विकास के रास्ते को कैसे बदल सकता है। यह मौक़ा उसे 1991 में मिला जब विदेशी मुद्रा के ज़बरदस्त संकट के कारण भारत के सामने बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के कहने पर ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम चलाने के सिवा कोई और चारा ही नहीं रहा।

देखें : आदर्शवाद, आतंकवाद, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, इमैनुएल कांट, इतिहास का अंत, एडवर्ड हैलेट कार, जाति-संहार, पृथकतावाद, तृतीय विश्व, द्वितीय विश्व-युद्ध, नस्लवाद, नव-उपनिवेशवाद, निर्भरता सिद्धांत, निरस्त्रीकरण, पेटेंट, प्रथम विश्व-युद्ध, प्रगति, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, भारत में पेटेंट क़ानून, रंगभेद, उपनिवेशवाद, यथार्थवाद, युद्ध, युरोपीय यूनियन, रचनात्मकतावाद, राजनय, विश्व व्यापार संगठन, विश्व-सरकार, वि-उपनिवेशीकरण, सभ्यताओं का संघर्ष, सम्प्रभुता, संयुक्त राष्ट्र, साम्राज्यवाद, शक्ति-संतुलन, शांति, शांतिवाद, शस्त्र-नियंत्रण, हथियारों की होड़।

संदर्भ

1. के. डैनैहर (1994), *50 इयर्स आर इनफ़ : द केस अगेंस्ट द वर्ल्ड बैंक ऐंड इंटरनैशनल मोनेटरी फंड*, साउथ ऐंड प्रेस, लंदन.
2. डी. कपूर (1997), *द वर्ल्ड बैंक : इट्स फ़र्स्ट हाफ़ सेंचुरी*, बुकिंग्स, वाशिंगटन, डीसी.
3. आर. शैरूपक (1999), *डू वर्ल्ड बैंक ऐंड आईएमएफ़ज़ पॉलिसीज़ वर्क?*, सेंट मार्टिस प्रेस, न्यूयॉर्क.
4. *द वर्ल्ड बैंक ऐंड इण्डिया* (1996), पब्लिक इंटेरेस्ट रिसर्च ग्रुप, नयी दिल्ली.

— अभय कुमार दुबे

विश्व-सरकार

(World Government)

दुनिया में इस समय कोई विश्व-सरकार नहीं है। लेकिन उसकी संकल्पनाएँ और सिद्धांत हैं। उदारतावाद और समाजवाद जैसी विचार-दृष्टियाँ राष्ट्रों के परे मानवता के साझा स्वरूपों की कल्पना करती रही हैं, लेकिन उसके शासकीय रूप को धरती पर उतारना अभी तक सम्भव नहीं हो पाया है। विश्व-सरकार का मतलब होगा राष्ट्रेतर संगठन का सर्वोच्च रूप और एक ऐसा भूमण्डलव्यापी राज्य जो अन्य सभी राज्यों और राजनीतिक संरचनाओं से ऊपर होगा। विश्व-सरकार बन जाने और प्रभावी हो जाने के बाद राष्ट्रीय सम्प्रभुता, संयुक्त राष्ट्र जैसे राष्ट्रेतर संगठन और युरोपीय संघ जैसे संघात्मक संगठन उसकी मातहत में चले जाएँगे। विश्व-सरकार बनाने का तर्क उन्नीसवीं सदी से विकसित होना शुरू हुआ था। बीसवीं सदी के आखिरी वर्षों में भूमण्डलीकरण की निरंतर व्याप्ति के कारण बुद्धिजीवियों के बीच इसके आकर्षण में काफ़ी बढ़ोतरी हुई है।

विश्व-सरकार का विचार सर्वप्रथम दाँते के साहित्य में दिखाई दिया था। इसकी आधुनिक अवधारणा

औपनिवेशिक युग की देन है जब औपनिवेशिक ताकतें पूरी दुनिया को हथियाने पर आमादा थीं। विश्व-सरकार का वर्तमान विमर्श मुख्य तौर पर उसके दो मॉडलों पर आधारित है। पहला मॉडल आग्रह करता है कि एक सर्वशक्तिमान महा-राज्य द्वारा सारी दुनिया पर अपना प्रभुत्व क्रायम करने से ही विश्व-सरकार क्रायम हो सकती है। प्राचीन रोमन साम्राज्य को इसके शुरुआती उदाहरण के रूप में पेश किया जा सकता है, भले ही वह साम्राज्य तत्कालीन दृष्टि से 'ज्ञात' दुनिया तक ही सीमित था। बीसवीं सदी में अगर एडोल्फ हिटलर के लेखन को गम्भीरता से लिया जाए तो लगता है कि वह सारी दुनिया को कथित आर्य प्रभुत्व के तहत लाने की परियोजना पर काम कर रहा था। ज़ाहिर है कि रोमन या आर्य साम्राज्य जैसी विश्व-सरकार केवल फ़ौजी ताकत से दुनिया जीतने के ज़रिये ही क्रायम और टिकायी जा सकती है, जो व्यावहारिक रूप से असम्भव है।

विश्व-सरकार का दूसरा मॉडल है 'राज्यों का राज्य' स्थापित करना। जर्मन दार्शनिक इमैनुएल कांट ने 'लीग ऑफ़ नेशंस' के प्रस्ताव में जिस तरह की संरचना की तजवीज़ की है, वह विश्व-सरकार की धारणा से मिलती-जुलती लगती है। राज्यों का यह राज्य एक स्वैच्छिक समझौते पर आधारित होगा। समझा जाता है कि इस समझौते के पीछे सामाजिक समझौते का एक अंतर्राष्ट्रीय रूप काम करेगा। ऐसा भूमण्डलीय राज्य संघात्मक चरित्र का ही हो सकता है जिसकी केंद्रीय सरकार अंतर्राष्ट्रीय मामलों की देखरेख करेगी, आर्थिक अन्योन्यक्रियाओं के समन्वय पर ध्यान देगी, राष्ट्रों के बीच होने वाले विवादों का निबटारा करेगी और सारी दुनिया में मानवता को सामूहिक सुरक्षा मुहैया कराने की ज़िम्मेदारी उठाएगी। क्या ऐसी विश्व-सरकार के पास फ़ौजी ताकत भी होगी? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि इस सरकार के पास भी किसी भी अन्य राज्य की तरह वैध हिंसा की इजारेदारी होना अनिवार्य है। इसलिए ज़रूरी है कि उसके पास अपने किसी भी घटक राज्य से ज़्यादा ताकतवर सैन्य शक्ति हो।

विश्व-सरकार के तर्क की बुनियाद में भी वही वैचारिक आग्रह है जो राज्य की संस्था के मूल में है। सत्रहवीं और अट्ठारहवीं सदी में कई राजनीतिक चिंतकों ने राज्यविहीन स्थिति को 'प्रकृत-अवस्था' करार दिया था। उनकी मान्यता थी कि अगर व्यक्तियों को नियंत्रित करने के लिए कुछ क़ानूनों को आरोपित न किया गया तो सामाजिक जीवन अव्यवस्था और परस्पर हिंसा का शिकार हो जाएगा। इसलिए आवश्यक है कि तर्कसंगत ढंग से सोचने वाले लोग आपस में एक सामाजिक समझौता क्रायम करें जिसके आधार पर क़ानूनसम्मत शासन-व्यवस्था स्थापित की जा सके। जिस जमाने में राज्य की संस्था की संकल्पना की गयी थी, मानवीय समाज के विभिन्न हिस्से अपेक्षाकृत छोटे थे और समझा गया था कि राज्य की सत्ता स्वाभाविक रूप से राष्ट्रीय सरकारों के

हाथों में जानी चाहिए। सत्ता के केंद्र के रूप में उस समय राष्ट्र का कोई विकल्प नहीं था। लेकिन, उन्नीसवीं सदी में परिस्थिति बदलनी शुरू हुई। यात्रा, पर्यटन, आर्थिक जीवन के अंतर्राष्ट्रीयकरण, आधुनिक प्रौद्योगिकी के विकास, मीडिया के प्रसार और राष्ट्रों के बीच होने वाले सांस्कृतिक आदान-प्रदान में उत्तरोत्तर वृद्धि के कारण एक अंतर्राष्ट्रीय समुदाय का उदय होना शुरू हुआ।

इन नये विकास की रोशनी में सामाजिक समझौते की सीमाओं के विस्तार की सम्भावनाओं पर गौर शुरू हुआ। बीसवीं सदी में प्रथम विश्व-युद्ध के बाद जी.एल. डिकिंसन ने दावा किया कि अगर कोई विश्व-व्यवस्था न खड़ी की गयी तो प्रत्येक राज्य अपने राष्ट्रीय स्वार्थ के तहत काम करेगा और दुनिया अंतर्राष्ट्रीय अराजकता में फँस जाएगी। इसी विचार के तहत समझा गया कि जिस तरह प्रकृत-अवस्था से निकलने के लिए व्यक्तियों को राज्य की ज़रूरत महसूस हुई थी, उसी तरह राज्यों को एक ग्लोबल राज्य की आवश्यकता है। लेकिन, इस विचार को धरती पर उतारने में विश्व-प्रभुत्व की उसी राजनीति ने बाधा पहुँचायी जिसके कारण विश्व-सरकार इतनी वांछनीय लग रही थी। आर्थिक और फ़ौजी दृष्टि से शक्तिशाली राज्यों को लगा कि अराजकता की स्थिति उनके लिए लाभकारी है। वे विश्व-सरकार जैसी किसी राष्ट्रेतर संरचना के साथ सत्ता का साझा करने के लिए तैयार नहीं हुए।

पहले लीग ऑफ़ नेशंस की विफलता और फिर संयुक्त राष्ट्र की मौजूदा हालत इसका सबूत है। संयुक्त राष्ट्र को विश्व-सरकार की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग के तौर पर देखा जा सकता है। वह अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा की फ़िक्र करने के साथ-साथ राजनीतिक-आर्थिक-सामाजिक और मानवीय समस्याओं के संदर्भ में अंतर्राष्ट्रीय सहयोग बढ़ाने का प्रयास भी करता है। उसके पास एक साझी क्रिस्म की फ़ौज भी है। लीग ऑफ़ नेशंस के मुकाबले संयुक्त राष्ट्र को काफी कामयाब समझा जाएगा, क्योंकि उसने ख़ुद को स्वतंत्र और सम्प्रभु राष्ट्रों से मिल कर बनी एक विश्व-संस्था के रूप में स्थापित कर लिया है। उसने प्रभुत्व की राजनीति के कारण पैदा होने वाले कई अंदेशों से दुनिया को बचाया भी है। उसने दो बार फ़ौजी हस्तक्षेप की सिफ़ारिश भी की है। एक बार 1950 में कोरिया के मामले में और दूसरी बार 2001 में अफ़ग़ानिस्तान की तालिबान सरकार के खिलाफ़। लेकिन, शीत-युद्ध के दौरान अमेरिका और सोवियत संघ के बीच शक्ति के ध्रुवीकरण के कारण संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद कई बार निर्णायक क्रदम नहीं उठा पायी। 2003 में इराक पर हमला करने के मामले में अमेरिका ने संयुक्त राष्ट्र को अपनी निर्णय लेने की स्वतंत्रता बाधित करने की इजाज़त नहीं दी। सोवियत राज्य-व्यवस्था के बिखरने के बाद पैदा हुई एक-ध्रुवीयता की रोशनी में देखने पर विश्व-सरकार का विचार अमेरिकी प्रभुत्व के अंदेशों से ग्रस्त भी लगने लगता

है। विश्व-सरकार के विचार के आलोचकों की मान्यता है कि जोर बहुध्रुवीय विश्व की आवश्यकता पर दिया जाना चाहिए। एक-ध्रुवीयता एक नये क्रिस्म के उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद को जन्म दे सकती है।

भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया ने विश्व-सरकार बनाने की कल्पनाशीलता को और हवा दी है, ताकि सरकारों के बीच संबंधों को नये परिप्रेक्ष्य में विनियमित किया जा सके। चूँकि ऐसी सरकार व्यावहारिक रूप से नहीं बन पायी है, इसलिए भूमण्डलीकरण के आलोचकों की मान्यता है कि यह जिम्मेदारी मोटे तौर से अमेरिका निभा रहा है। कॉपीराइट क़ानूनों, पेटेंट और विश्व व्यापार समझौतों के रूप में स्थापित हुए ग्लोबल मानकों पर अमल के लिए मजबूर करने की जिम्मेदारी अमेरिका और उसकी चौधराहट में चलने वाले संगठनों ने उठानी शुरू कर दी है। एक अंतर्राष्ट्रीय अपराध न्यायालय और अंतर्राष्ट्रीय न्याय आंदोलन की रचना की गयी है और ग्लोबल प्रशासकीय क़ानून का उदय हुआ है। ग्लोबल मानकों और नियम-क़ानूनों के बढ़ते दबावों ने राष्ट्रीय सम्प्रभुता को कमजोर कर दिया है।

सवाल यह है कि क्या संयुक्त राष्ट्र जैसी संस्था का विकास ही अधिक सक्षम विश्व-सरकार में होगा या इसके लिए कोई और संस्था उभरेगी? इसका उत्तर दो पहलुओं पर निर्भर करता है। पहला, अंतर्राष्ट्रीय विश्वास और सहयोग कितने ऊँचे स्तर पर पहुँचता है। दूसरा, विश्व-नागरिकता की अवधारणा व्यावहारिक धरातल पर विकसित होती है या नहीं। किसी भी राष्ट्रेतर संस्था की सफलता इस बात पर टिकी रहती है कि उसे दुनिया की निगाहों में किस हद तक वैध समझा जाता है। विश्व-नागरिकता का विचार जितना सार्थक और आकर्षक बनेगा, विश्व-सरकार उतनी ही व्यावहारिक होती जाएगी।

देखें : आदर्शवाद, आतंकवाद, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, इमैनुएल कांट, इतिहास का अंत, एडवर्ड हैलेट कार, जाति-संहार, पृथक्तावाद, तृतीय विश्व, द्वितीय विश्व-युद्ध, नस्लवाद, नव-उपनिवेशवाद, निर्भरता सिद्धांत, निरस्त्रीकरण, पेटेंट, प्रथम विश्व-युद्ध, प्रगति, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, भारत में पेटेंट क़ानून, रंगभेद, उपनिवेशवाद, यथार्थवाद, युद्ध, युरोपीय यूनियन, रचनात्मकतावाद, राजनय, विश्व व्यापार संगठन।

संदर्भ

1. आर.जी. रज्जी (1998), *कंस्ट्रक्टिंग द वर्ल्ड पॉलिटि, रॉटलेज़, लंदन*.
2. के. ओहमाए (1995), *द ऐंड ऑफ़ नेशन-स्टेट*, हारपर कोलिंस.
3. एम. बर्गेंस और ए.जी. गैगन (सम्पा.) (1993), *कम्परेटिव फ़ैडरलिज़म ऐंड फ़ैडरेशन*, हारवेस्टर व्हीटशीफ़, हेमेल हेम्पस्टीड.

— अभय कुमार दुबे

वी.के.आर.वी. राव

(V.K.R.V. Rao)

स्वतंत्रता के बाद आर्थिक नीति-निर्माण और संस्थान-रचना में बेहद अहम और कारगर भूमिका निभाने वाले विजयेंद्र कस्तूरी रंगा वरदराजा राव (1908-1991) अपने लम्बे और सुंदर नाम के अनुरूप ही एक बहुमुखी प्रतिभा से सम्पन्न अर्थशास्त्री थे। आर्थिक नीतियों के अलावा राव ने शिक्षाविद, नीति-निर्धारक, प्रशासक और सबसे ऊपर एक महान संस्थान निर्माता की भूमिका भी निभायी। राव के लिए अर्थशास्त्र महज़ एक विषय नहीं बल्कि बृहत सामाजिक अध्ययन का अंग था। उन्होंने समाज-विज्ञान के विभिन्न अनुशासनों और अर्थशास्त्र को साथ ले कर अर्थशास्त्र के मानवीकरण का काम किया। राव पहले व्यक्ति थे जिन्होंने भारत की राष्ट्रीय आय के आकलन का असम्भव काम किया कर दिखाया और वह भी तब जब वे इंग्लैण्ड में अर्थशास्त्र की पढ़ाई कर रहे थे। वे व्यापक सामाजिक-आर्थिक सुधारोंका सूत्रपात करना चाहते थे। इसलिए उन्होंने अर्थशास्त्र के सिद्धांतों से ज़्यादा उसके प्रायोगिक पहलुओं पर काम किया। भारत सरकार के आर्थिक सलाहकार के रूप में राव ऐसी आर्थिक नीतियों के पक्षधर थे जिनसे भारत की बहुसंख्यक जनता के जीवन-स्तर को सुधारा जा सके। इसके लिए उन्होंने ठोस सर्वेक्षण आधारित जानकारी एकत्रित करने पर जोर दिया ताकि इन आँकड़ों से आर्थिक नीतियों को व्यावहारिक और प्रभावी बनाया जा सके। इंग्लैण्ड से भारत वापसी के बाद राव ने अनेक सरकारी व निजी नौकरियों के प्रस्ताव ठुकरा कर शिक्षण को चुना क्योंकि वे ऐसे संस्थान स्थापित करना चाहते थे जिनसे भारत में ही विश्वस्तरीय अर्थशास्त्री प्रशिक्षित किये जा सकें।

वी.के.आर.वी. राव का बचपन दक्षिण भारत के श्रीरंगम शहर में बीता। उनके पिता एक मामूली सरकारी नौकरी करते थे जिसे एक दिन अचानक छोड़ कर वे ज्योतिषाचार्य के रूप में अपना भविष्य बनाने मुम्बई चले गये। चार बच्चों के लालन-पालन करने की सारी जिम्मेदारी माँ पर आ गयी। दो वर्ष के बाद पिता ने अपने परिवार को मुम्बई बुलाया जहाँ पर सारे बच्चों में से सिर्फ़ राव को ही सबसे पौष्टिक भोजन दिया जाता था। 1920-30 के दशकों में आर्थिक मंदी और इन्फ़्लुएंजा महामारी के बाद हज़ारों पढ़े लिखे दक्षिण भारतीय क्लर्क-स्टेनोग्राफ़र का काम करने के लिए मुम्बई आने लगे। इस पारिवारिक पृष्ठभूमि ने राव के अर्थशास्त्र को मानवीय पक्ष से जोड़ा। मुम्बई में अपने विद्यार्थी जीवन में राव यंग सोशललिस्ट लीग से जुड़े, लेकिन अपनी पारिवारिक स्थिति देखते हुए उन्होंने राजनीति के स्थान



विजयेंद्र कस्तूरी रंगा वरदराजा राव (1908-1991)

पर उच्च अध्ययन करने का निर्णय लिया।

1929 में मुम्बई से एमए की उपाधि लेने के बाद राव केम्ब्रिज विश्वविद्यालय से अर्थशास्त्र में डॉक्टरेट हासिल करने वाले पहले भारतीय थे। केम्ब्रिज में राव के अध्यापकों में जॉन मेनार्ड कींस भी थे जिन्होंने प्रतिभाशाली राव को उस समय के प्रख्यात पॉलिटिकल इकॉनॉमी क्लब का सदस्य भी बनाया था। कल्याणकारी अर्थशास्त्र के जनक ए.सी. पिग्यु भी केम्ब्रिज में राव के अध्यापक थे। पिग्यु के प्रभाव से ही राव ने विकासशील देशों में मानव कल्याण के लिए सरकारी हस्तक्षेप को आवश्यक माना। अपनी डॉक्टरेट के लिए राव ने भारत की राष्ट्रीय आय का आकलन किया जो भारतीय अर्थव्यवस्था के अध्ययन पर एक शाहकार माना जाता है।

राव ने नयी दिल्ली विश्वविद्यालय में नयी दिल्ली स्कूल ऑफ़ इकॉनॉमिक्स की स्थापना की जो आज भारत और दुनिया का विशिष्ट शिक्षा-संस्थान है। इसके अलावा उन्होंने नयी दिल्ली में इंस्टीट्यूट फॉर इकॉनॉमिक ग्रोथ और बंगलुरु में सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तन संस्थान भी स्थापित किया। अर्थशास्त्र एवं आर्थिक नीतियों पर काम करने वाले ये तीनों संस्थान आज भी शोध, अनुसंधान व नीति निर्धारण में अहम योगदान दे रहे हैं। भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद (आईसीएसएसआर) के माध्यम उन्होंने एक ऐसी व्यापक व्यवस्था का निर्माण सम्भव किया जिसके द्वारा भारत भर में समाज-विज्ञान के विभिन्न संस्थानों को आर्थिक-संस्थागत सहयोग दिया जा सके। इसके अलावा मुम्बई में जनसंख्या अध्ययन के लिए अंतर्राष्ट्रीय केंद्र और

नयी दिल्ली में भारतीय विदेश व्यापार संस्थान भी अपने तरह के अनूठे संस्थान हैं जिनकी स्थापना वी.के.आर.वी. राव द्वारा की गयी। इसके अलावा उन्होंने भारत के विभिन्न भागों में कृषि आर्थिक अनुसंधान केंद्रों और जनसांख्यिकी अनुसंधान इकाइयों की स्थापना की थी। एक संस्थान निर्माता के रूप में वी.के.आर.वी. राव ने अपने इन संस्थानों के आधारभूत दर्शन, संगठन, प्रयोजन व नेतृत्व को इतना दृढ़ बनाया कि ये संस्थान आज तक भारतीय लोकतंत्र की सेवा कर रहे हैं।

1944 में नयी दिल्ली विश्वविद्यालय का अर्थशास्त्र विभाग कुल जमा अस्थायी बैरक के दो छोटे कमरों और तीन प्राध्यापकों (राव, बी.एन. गांगुली और पी.एन. धर) से चलता था। इसी सामग्री के बूते पर राव ने अध्ययन-अध्यापन-शोध के लिए एक ऐसा संस्थान बनाने का स्वप्न देखा था जो लंदन स्कूल ऑफ़ इकॉनॉमिक्स के समकक्ष हो। राव भारत में अर्थशास्त्र के ऐसे विद्वान चाहते थे जो भारत की सर्वांगीण प्रगति के लिए समर्पित हों और जो तकनीकी दक्षता व सामाजिक जागरूकता से परिपूर्ण हो। 1948 में जब नयी दिल्ली स्कूल ऑफ़ इकॉनॉमिक्स की स्थापना हुई तो वहाँ आधिकारिक नियमनिष्ठता के स्थान पर प्रतिभा को प्राथमिकता दी गयी। राव ने 32 वर्षीय के.एन. राज को इस संस्थान में प्रोफ़ेसर का पद दिया जो किसी भी नियम के तहत असम्भव सी बात थी। आज के.एन. राज भारत की पंचवर्षीय योजना के निर्माताओं में से एक माना जाता है। राव ने स्वयं अपना प्रोफ़ेसर पद अमर्त्य कुमार सेन को दिया। आज नोबेल पुरस्कार विजेता अमर्त्य सेन एक विश्वविख्यात अर्थशास्त्री और दार्शनिक हैं। 1955 में राव ने उस्मानिया विश्वविद्यालय से एक अध्यापक को कृषि-अर्थशास्त्र पर काम करने के लिए आमंत्रित किया। वही ए.एम. खुसरो भारत के सबसे सम्मानित कृषि अर्थशास्त्री बने। समाज-विज्ञान की सम्पूर्णता के पक्षधर डॉ. राव की दृष्टि के अनुरूप ही नयी दिल्ली स्कूल में अर्थशास्त्र के अलावा समाजशास्त्र, भूगोल और वाणिज्य विभाग भी सफलतापूर्वक स्थापित किये गये। यहाँ समाजशास्त्र के अध्ययन-अध्यापन के लिए उन्होंने भारत के सर्वश्रेष्ठ समाजशास्त्री एम.एन. श्रीनिवास को आमंत्रित किया। पचास के दशक में राव को नयी दिल्ली स्कूल की स्वायत्तता बनाये रखने में कठिनाइयों का एहसास हुआ। शोध-अनुसंधान को सरकारी हस्तक्षेप से पूर्णतः स्वतंत्र रखने के लिए 1958 में उन्होंने आर्थिक विकास संस्थान (इंस्टीट्यूट ऑफ़ इकॉनॉमिक ग्रोथ) की स्थापना की। इस संस्थान को सँवारने के लिए राव ने नयी दिल्ली विश्वविद्यालय के उपकुलपति का पद भी छोड़ दिया।

राव ने एक ऐसे निकाय की कल्पना भी की जो समाज-विज्ञान अनुसंधान के लिए उचित सुविधाएँ जुटाये, अनुसंधान का प्रायोजक बने, संस्थाओं-विद्वानों को आर्थिक

व अन्य अनुदान मुहैया कराये और भारत में समाज-विज्ञान की नयी पत्रिकाओं को बढ़ावा दे। भारत सरकार ने समाज-विज्ञान अनुसंधान को बढ़ावा देने के लिए राव के सुझावों पर अमल करते हुए 1969 में भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद का गठन किया जो विश्वविद्यालय प्रणाली के बाहर समाज-विज्ञान के अनुसंधान हेतु एक संरक्षक संगठन है। इसके अंतर्गत देश के 25 से अधिक संस्थानों को आर्थिक अनुदान व प्रशासनिक सहयोग जैसी सुविधाएँ दी जाती हैं। 1972 में राव ने बंगलुरु में इंस्टीट्यूट फॉर सोशल ऐंड इकॉनॉमिक चेंज की स्थापना की जिसका उद्देश्य जमीनी स्तर पर ऐसी शोध करना था जिससे समुचित सार्वजनिक नीति बनायी जा सके।

1979 में अपनी एक पुस्तक में राव ने स्वामी विवेकानंद को वैदांतिक समाजवाद का देवदूत पुकारा। वी.के.आर.वी. राव ने अपने जीवन में कभी स्वप्न देखना नहीं छोड़ा। प्रसिद्ध समाजशास्त्री त्रिलोकी नाथ मदन ने एक घटना का उल्लेख करते हुए कहा बताया है कि 1980 के आस-पास मैंने राव को अकेले एक छड़ी के सहारे टहलते हुए देखा। उन्होंने अपने ख़ास उत्साह के साथ बताया कि वे पूरे देश में राष्ट्रीय विवेकानंद क्लब बनाने जा रहे हैं। यह क्लब रोटरी क्लब जैसा ही होगा और इसके सदस्य भारत के आर्थिक व सामाजिक तौर से पिछड़े लोगों की सेवा करेंगे। डॉ. राव ने सेवा शब्द का प्रयोग किया था उत्थान का नहीं। इस क्लब के सदस्यों को रोटेरियन की तरह विवेकियन पुकारा जाएगा। दुर्भाग्यवश ख़राब स्वास्थ्य ने डॉ. राव को एक और संस्थान बनाने से रोक दिया।

वी.के.आर.वी. राव लोकसभा के सदस्य भी चुने गये और केंद्रीय सरकार में परिवहन व जहाज़रानी, फिर शिक्षा व युवा मामलों के मंत्री बनाये गये। एक प्रख्यात अर्थशास्त्री के रूप में शायद वी.के.आर.वी. राव को इस बात का मलाल रहा कि उन्हें कभी भी आर्थिक मामलों का मंत्रालय नहीं दिया गया और शायद इसीलिए उनके जैसे कुशल वक्ता का संसदीय करियर फ़ीका रहा। कई अवसरों पर राव विवादों में भी रहे। 1969 में तमिलनाडु के पहले द्रमुक मुख्यमंत्री सी.एन. अन्नादुरै की मृत्यु की ग़लत ख़बर फैल गयी तो राव, जो तब केंद्रीय मंत्री भी थे, ने अख़बारों को फ़ोन पर अपना शोक संदेश प्रेषित कर दिया। जब इस ख़बर के ग़लत होने के बारे में एक अख़बार के नयी दिल्ली ब्यूरो राव को बताया तो पछतावा व्यक्त करने या वापस लेने के बजाय राव ने कहा कि उस शोक संदेश को उपयुक्त अवसर के लिए रखा जा सकता है। उनका देहांत 83 साल की उम्र में 25 जुलाई, 1991 को हुआ।

देखें : अब्दुल हमीद, आर.के. तलवार, इला भट्ट, एलाट्टुवलपिल श्रीधरन, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, कमला देवी चट्टोपाध्याय,

गिजुभाई बधेका, पी.एस. वारियर, देवकी जैन, थोंडो केशव कर्वे, नीरा देसाई, भारतीय लोकतंत्र का संस्थानीकरण-1, 2 और 3, राज कुमार तलवार, विक्रम साराभाई, विद्याबेन शाह, संस्था, संस्थान और संस्थानीकरण।

संदर्भ

1. किरण मिश्रा (1997), *वी.के.आर.वी. राव : हिज़ लाइफ़ ऐंड टाइम्स*, विकास पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.
2. एस.एल. राव (सम्पा.) (2009), *द पार्शियल मेमोइर्स ऑफ़ वी.के.आर.वी. राव*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
3. एस.एल. राव, एन. जयराम, वी. एम. राव, एम. वी. नादकर्णी (2009), *अ पैशनेट ह्यूमैनिटेरियन : वी.के.आर.वी. राव*, अकादमिक फ़ाउंडेशन इंस्टीट्यूट ऑफ़ सोशल ऐंड इकॉनॉमिक चेंज. बंगलुरु.

— रवि दत्त वाजपेयी

वेदांत दर्शन

(Philosophy of Vedanta)

वेदांत शब्द का यौगिक अर्थ है वेद का अंत, अथवा वे सिद्धांत जो वेदों के अंतिम अध्यायों में प्रतिपादित किये गये हैं, और ये ही उपनिषद् हैं। वेदों के जो अंतिम लक्ष्य व सार हैं वही उपनिषदों के भी विचार हैं। ब्रह्म संबंधी सिद्धांत की व्याख्या करने के कारण इसे ब्रह्मसूत्र के नाम से भी जाना जाता है तथा इसका एक दूसरा नाम शारीरक सूत्र भी है। जहाँ एक ओर पूर्व-मीमांसा के जनक जैमिनि द्वारा प्रतिपादित *मीमांसासूत्र* वेदविहित धर्म तथा उसके फलाफल का अनुसंधान है, वहाँ *ब्रह्मसूत्र* के रचयिता बादरायण का उत्तर-मीमांसा दर्शन उपनिषदों के दार्शनिक व ईश्वर-ज्ञान संबंधी विचारों का वर्णन करता है। दोनों मिल कर सम्पूर्ण वेद के प्रतिपाद्य विषयों का क्रमबद्ध अनुसंधान करते हैं। वेदों का प्रथम भाग मंत्रों का है। इसका अध्ययन सबसे पहले किया जाता है। उसके बाद ब्राह्मण-ग्रंथों का अध्ययन किया जाता है, जिनमें यज्ञादि कर्मकाण्ड का प्रतिपादन है। इसका मुख्य संबंध गृहस्थाश्रम से है। अंतिम अवस्था में जब मनुष्य घर-बार छोड़ कर एकांत में रहने लगता है और आत्मा, मोक्ष आदि की ओर झुकता है, तब उपनिषदों का अध्ययन किया जाता है। इनमें से कुछ को आरण्यक कहा जाता है। इसका अर्थ है अरण्य अर्थात् वन में रह कर पढ़ा जाने वाला साहित्य। उपनिषदों में मूलतः विचार सादृश्य होते हुए भी परस्पर विभिन्नताएँ हैं। इन्हीं विभिन्नताओं का

परिहार कर बादरायण ने उपनिषदों का भाष्य लिख कर उनके बीच मतैक्य स्थापित करने का प्रयास किया। यद्यपि उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता (इन तीनों को प्रस्थानत्रयी भी कहा जाता है) जैसे तीन आधारभूत ग्रंथों पर ही वेदांत की सारी परम्पराएँ निर्भर हैं, लेकिन उपनिषद् ही उसका मुख्य आधार है। उपनिषदों की संख्या सैकड़ों हैं लेकिन दार्शनिक महत्त्व के उपनिषद् ग्यारह ही माने गये हैं और उन्हीं पर भाष्य लिखे गये हैं। वेदांत के कई प्रस्थान विकसित हुए हैं, जैसे अद्वैत वेदांत, द्वैत वेदांत, द्वैताद्वैत वेदांत और शुद्धाद्वैत वेदांत।

हालाँकि उपनिषद् सत्य के प्रति विविध दृष्टिकोणों से किये गये दृष्टिपातों की एक शृंखला मात्र है, और उन्हें महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर अंतिम विचार नहीं माना जा सकता; फिर भी उन्हें ईश्वरीय प्रेरणा द्वारा प्राप्त सत्य मानने वाले यह साबित करने का यत्न करते हैं कि उनकी शिक्षाएँ एक सुसंगत और परिपूर्ण इकाई हैं। उपनिषदों का भाष्य करने वाली बादरायण की रचना ब्रह्मसूत्र इसी प्रयास का सर्वोच्च उदाहरण है। यह ग्रंथ क्रमबद्ध दर्शन न होकर ईश्वर ज्ञान-विषयक एक व्याख्या है। बादरायण के ग्रंथ का उपनिषदों के साथ वही संबंध है जैसा कि ईसाई रूढ़िवादियों का न्यू टेस्टामेंट के साथ है। बादरायण उपनिषदों की उन शिक्षाओं को संसाधित करते हैं जो ईश्वर, जगत तथा आत्मा के संसार-चक्र में भ्रमण तथा मोक्ष की अवस्थाओं के विषय में है। उनका ब्रह्मसूत्र उपनिषदों में प्रत्यक्ष में दिखाई पड़ने वाली सिद्धांत-संबंधी असंगतियों का निराकरण करता है। उन्हें परस्पर क्रमबद्ध रूप में जोड़ता है, और विशेषकर उपनिषदों को विरोधियों के आक्षेपों से बचाता है।

भारतीय दर्शन में जीव, ईश्वर और माया के संबंध में विभिन्न मान्यताएँ रही हैं, लेकिन प्रायः सभी दर्शनों ने जगत की रचना के दो कारण स्वीकार किये हैं : जड़ और चेतन। पहले कारण जड़ को किसी ने परमाणु, प्रकृति या पुद्गल के रूप में माना है, तो दूसरे कारण चेतन को ईश्वर, जीव या पुरुष आदि अनेक रूपों में स्वीकार किया गया है। जड़ को जगत का उपादान कारण तथा चेतन को निमित्त कारण माना गया है। वेदांत-दर्शन की मान्यता इसके ठीक विपरीत है। वह एक ही तत्त्व को उपादान और निमित्त दोनों मानता है। जिस प्रकार मकड़ी जाला बुनने के लिए किसी बाहरी तत्त्व पर निर्भर न होकर अपने पेट से ही तंतु निकालकर वह जाला बुनती है। वेदांत के अनुसार इसी तरह से ईश्वर ने इस जगत की रचना की है। वह विश्व के कण-कण में व्याप्त है। विश्व छोटा है और ईश्वर महान। ईश्वर इस जगत का मूल तत्त्व, ब्रह्मरूप है तथा जगन्नियंता है। इस तरह से वह सर्वव्यापी है तथा यह जगत उसकी माया है।

अद्वैत वेदांत के प्रमुख संस्थापक आदि शंकराचार्य ने कहा है कि आत्मा और अनात्मा, प्रकाश और अंधकार यद्यपि परस्पर विरोधी हैं, फिर भी दुनिया का सारा व्यवहार दोनों को

मिलाकर चलता है। हम पिछले संस्कारों के कारण एक वस्तु का दूसरी वस्तु पर आरोप करते हैं। आकाश का कोई रंग नहीं होता, फिर भी उसे नीला कहा जाता है। चंद्रमा बहुत बड़ा होता है, फिर भी तशरी-जितना दिखाई देता है। आत्मा बहरी, गूँगी या लँगड़ी नहीं होती है, फिर भी कहा जाता है, मैं बहरा, गूँगा या लँगड़ा हूँ। इसी तरह से अध्यासवाद (भ्रमपूर्ण व्यवहार) के सहारे दुनिया अपना काम चलाती है। इस जगत व्यवहार में एक वस्तु का दूसरी वस्तु पर आरोप होता है। शंकराचार्य ने प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों को भ्रम-आधारित माना। उन्होंने कहा कि प्रायः हम आँखों से जो देखते हैं उसे सही मान लेते हैं परंतु प्रत्येक परिस्थिति में उसे सत्य नहीं माना जा सकता। एक ही वस्तु विभिन्न परिस्थितियों में अलग-अलग दिखाई देती है। एक ही पहाड़ भिन्न-भिन्न स्थानों से भिन्न-भिन्न आकार का दिखाई देता है। शंकराचार्य ने इन तथ्यों के आधार पर सत्ता यानी अस्तित्व के तीन स्तर बताये। स्वप्न में जो चीजें दिखाई देती हैं उनकी सत्ता स्वप्न चलने तक ही होती हैं। उसके बाद समाप्त हो जाती है। लेकिन जाग्रत अवस्था में जो वस्तुएँ हमें दिखाई देती हैं और उनकी सत्ता अन्य दिनों में भी ज्यों की त्यों बनी रहती हैं। संसार की सारी सांसारिकताएँ इसी आधार पर चलती हैं। बाह्य जगत की ये सत्ताएँ किसी न किसी दिन समाप्त हो जाती हैं। लेकिन इसके अलावा एक ब्रह्मरूप सत्ता भी है जो नष्ट नहीं होती है। यही सत्ता वास्तविक होती है बाकी सब अवास्तविक है। इस तरह से क्रमशः प्रातिभासिक, व्यावहारिक तथा पारमार्थिक सत्ता के तीन प्रकारों की व्याख्या शंकराचार्य ने की है।

वेदांत दर्शन के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के ज्ञान में 'उद्देश्य' और 'विधेय' के रूप में दो प्रकार के अंश मिले होते हैं। उद्देश्य हर जगह एक जैसे होते हैं, विधेय बदलते रहते हैं। विधेय की वजह से ही लोगों में परस्पर विवाद और सच्चे-झूठे का झगड़ा होता रहता है क्योंकि उसमें जानने वाला अपने जमे हुए संस्कार और पूर्वग्रह मिला देता है। एक ही आदमी किसी को शत्रु दिखाई देता है और किसी को मित्र। इसका कारण यह है कि वे अपने मन में जमे हुए शत्रुता और मित्रता के भावों को उस व्यक्ति के साथ जोड़ देते हैं। विधेय के रूप में प्रतीत होने वाले सारे पदार्थ कल्पना मात्र हैं। लेकिन कल्पना निराधार नहीं होती। यदि विश्व कल्पना मात्र है तो ब्रह्म उसका आधार है। उनमें एक चित्र के समान है और ब्रह्म उस दीवार या पट के सामान जिस पर चित्र अंकित होता है। ब्रह्म का अपना कोई स्वरूप नहीं होता। उसे अनेक दृष्टान्तों और दूसरे अन्य उपायों से जाना जा सकता है। प्रत्येक ज्ञान में अस्तित्व, आभास, आत्म, नाम और रूप इन पाँच बातों का भान होता है। इनमें से अस्तित्व, आभास और आत्म सभी ज्ञानों में एक जैसे रहते हैं और

अंतिम दो बदलते रहते हैं। प्रथम तीन ब्रह्म रूप हैं और अंतिम दो माया या कल्पना। प्रथम तीन के आधार पर ब्रह्म को सत्-चित्-आनंद कहा जाता है।

वेदांत दर्शन की स्थापना है कि ब्रह्म ही सत्य है। वह ब्रह्म, ईश्वर, जीव, जीव और ईश्वर के परस्पर भेद, अविद्या तथा अविद्या और चैतन्य के परस्पर भेद जैसी छह अनादि बातों के जरिये प्रतीयमान विश्व की व्याख्या करता है। अविद्या से पाँच महाभूतों की उत्पत्ति होती है। सर्वप्रथम आकाश उत्पन्न होता है। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी। इन्हें सूक्ष्म या शुद्ध भूत कहा जाता है। सूक्ष्म भूतों से सूक्ष्म शरीर उत्पन्न होता है। इसके सत्रह अवयव हैं— पाँच ज्ञानेंद्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच वायु, बुद्धि और मन। ज्ञानेंद्रियाँ आकाशादि के सात्विक अंश से बनती हैं। आकाश से श्रोत्र, वायु से स्पर्शन, अग्नि से चक्षु, जल से रसना और पृथ्वी से घ्राणेंद्रिय का निर्माण होता है। बुद्धि और मन में सभी तत्त्वों का सम्मिश्रण रहता है। आकाशादि के रजांश से क्रमशः पाँच कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। ये हैं : वाणी, हाथ, पैर, गुदा, अपान, व्यान, उदान और समान। सूक्ष्म भूतों के पंचीकरण से स्थूल शरीर तथा स्थूल भूत उत्पन्न होते हैं। पंचीकरण का अर्थ है परस्पर सम्मिश्रण। प्रत्येक स्थूल भूत में आधा अंश उसका अपना रहता है, और शेष आधा भाग अन्य चार भूतों के अष्टमांशों का मिलकर बनता है। इन्हीं स्थूल भूतों से समस्त विश्व की रचना होती है।

साधन-चतुष्टय : वेदांत दर्शन कहता है कि जिस व्यक्ति के मन में सांसारिक आकांक्षाएँ बनी हुई हों, जिसका चित्त शांत नहीं है, जो इंद्रियों के विषय में आसक्त है, वह वेदांत का अधिकारी नहीं है। इसके लिए कर्म और उपासना का विधान है। शमादि (क) शम यानी चित्त का शांत होना, (ख) दम यानी इंद्रियों का दमन, (ग) उपरति यानी सांसारिक सुखों से विरक्ति, (घ) तितिक्षा यानी सहनशीलता, सुख में फूल न जाना और दुःख में व्याकुल न होना, (च) समाधि अर्थात् मन की एकाग्रता, (छ) श्रद्धा यानी उपनिषदों में प्रतिपादित तत्त्वों पर दृढ़ विश्वास), संसार की स्थायी और नश्वर वस्तुओं की समझ (नित्यानित्य वस्तु विवेक), ऐहिक और पारलौकिक सुखों से विरक्ति (इहामूत्रार्थ भोग-विराग) और मोक्ष प्राप्त करने की उत्कट अभिलाषा (मुमुक्षुत्व) का वेदांत विद्या के लिए होना आवश्यक है। साधना के क्रम में श्रवण यानी शास्त्र तथा गुरु के उपदेशों को अच्छी तरह सुनना और समझना, गुरु की सुनी बातों पर युक्ति-युक्त विचार करना तथा बात समझ में आ जाने पर साधक को उसका बार-बार चिंतन-मनन करना चाहिए। वेदांत दर्शन अपने अनुयायियों को संदेश देता है कि एकमेवाद्वितीयम्, तत्त्वमसि, सर्वं खल्विदं ब्रह्म, और अहंब्रह्मास्मि इन महावाक्यों का

साधक द्वारा अनवरत चिंतन करने पर सर्वत्र ब्रह्म ही ब्रह्म दिखाई देने लगता है। ब्रह्म साक्षात्कार से अविद्या का नाश हो जाता है और जीव ब्रह्म में लीन हो जाता है।

देखें : आर्यभट्ट और आर्यभटीय, उपनिषद्, कपिल, अर्थशास्त्र और कौटिल्य, गोपीनाथ कविराज, गोविंद चंद्र पाण्डे, चैतन्य महाप्रभु, जैन दर्शन, न्याय दर्शन, दया कृष्ण, नागार्जुन, पतंजलि और योगसूत्र, पाणिनि और अष्टाध्यायी, पुराण, पूर्व-मीमांसा दर्शन, बदरी नाथ शुक्ल, बादरायण, बौद्ध दर्शन, भगवद्गीता, भरत और नाट्यशास्त्र, मुकुंद लाट, भागवत पुराण, महाभारत, यशदेव शल्य, योग दर्शन, रामानुजाचार्य, राम अवतार शर्मा, लोकायत, वात्स्यायन और कामसूत्र, वैशेषिक दर्शन, शंकराचार्य, षड्-दर्शन-1 और 2, संस्कृत काव्यशास्त्र, स्मृति-साहित्य, सांख्य दर्शन-1 और 2, सिद्ध-नाथ परम्परा।

संदर्भ

1. वियोगी हरि (सम्पा.) (2011), हमारी परम्परा, सस्ता साहित्य मण्डल, नयी दिल्ली.
2. चंद्रधर शर्मा (1991), भारतीय दर्शन : आलोचन और अनुशीलन, मोतीलाल बनारसी दास, नयी दिल्ली.
3. सर्वपल्ली राधाकृष्णन (2012), भारतीय दर्शन, दो खण्ड, राजपाल एंड संज, नयी दिल्ली.
3. के. दामोदरन (2001), भारतीय चिंतन परम्परा, अनुवाद : जी. श्रीधरन, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.

— अजय कुमार पाण्डेय

वेरियर एलविन

(Verrier Elwin)

विद्वान, एक्टिविस्ट और प्रशासक वेरियर एलविन (1902-1964) का कृतित्व भारत में आदिवासियों के मुद्दे को पूरी शिद्दत के साथ उठाने के लिए जाना जाता है। ब्रिटेन और शहरी भारत के अरामदेह जीवन की बजाय उन्होंने न केवल आदिवासियों के हितों को जोरदार वकालत की, बल्कि आदिवासी समाज से ज़मीनी स्तर पर जुड़ कर उनकी संस्कृति और खान-पान को भी अपनाया। भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में हाशिये पर पड़े आदिवासी सवाल को बहस के केंद्र में लाने की जी-तोड़ कोशिश करने वाले एलविन आदिवासियों को बाकी समाज से पूरी तरह अलग-थलग रखने के पक्ष में नहीं थे। लेकिन वे 'एकीकरण' और 'विकास' के नाम आदिवासियों के संसाधनों पर बाहरी लोगों के कब्जे या आदिवासियों के अपने सांस्कृतिक मूल्यों के क्षरण के भी सख्त खिलाफ़ थे। अंग्रेज़ होने के बावजूद उन्होंने भारत की



वेरियर एलविन (1902-1964)

आजादी के आंदोलन में भाग लिया। वे पादरी थे लेकिन उन्होंने आदिवासियों का धर्म परिवर्तन करवाने से इनकार कर दिया। वे गाँधी के अनुयायी थे, लेकिन उन्हें यह कहने में हिचक नहीं हुई कि गाँधी की शराबबंदी और चरखा कातने जैसे कार्यक्रम आदिवासियों के लिए निरर्थक हैं। इस तरह उनका नजरिया आलोचनात्मक बना रहा।

1902 में एक बिशप परिवार में जन्मे एलविन का लालन-पालन बेहद परम्परानिष्ठ धार्मिक वातावरण में हुआ। इस माहौल से बचने के लिए वे 1927 में क्रिस्टा सेवा संघ (सीएसएस) के सदस्य के रूप में भारत आये। इस समय वे नये-नये पादरी बने थे और उनके पास अंग्रेज़ी और धर्मशास्त्र में प्रथम श्रेणी की डिग्री भी थी। क्रिस्टा सेवा संघ एक ऐसा संगठन था जो भारतीय ज़मीन में ईसाई धर्म की जड़ जमाना चाहता था। इसके सदस्य अपने बनाये हुए कपड़े पहनते और शाकाहारी भोजन करते थे। इस संगठन के सदस्यों ने भारतीय संस्कृति के मूलभाव को अपने व्यवहार में उतारने की कोशिश की। सीएसएस पुणे में स्थित था। इस शहर में रहते हुए एलविन यहाँ की सुधारवादी और उदार परम्परा से परिचित हुए। यहीं उनका परिचय कांग्रेस की नेता कमलादेवी चट्टोपाध्याय से भी हुआ जो 1920 के दशक के आखिरी वर्षों में पुणे में रहती थीं। इस दौरान एलविन गाँधी के सम्पर्क में भी आये जो उस समय अक्सर पुणे आते-जाते रहते थे। इस समय गाँधी का मुख्य अड्डा अहमदाबाद स्थित अपने आश्रम

में था। पुणे से अहमदाबाद में बहुत ज़्यादा दूरी नहीं थी और रात की ट्रेन पकड़कर सुबह अहमदाबाद पहुँचा जा सकता था। एलविन गाँधी के प्रति बहुत आकर्षित हुए। वे मानते थे कि गाँधी ईसा मसीह के संदेश के सबसे अच्छे आधुनिक व्याख्याकार हैं।

भारत के ग़रीबों के जीवन से खुद को सीधे जोड़ने के लिए एलविन ने 1931 में सीएसएस छोड़ दिया। पहले उन्होंने सोचा कि वे बंबई में किसी अछूत क्वार्टर में अपना घर बनायेंगे। लेकिन बाद में उन्होंने मध्य भारत के आदिवासी लोगों के साथ काम करने का फैसला किया। सीएसएस के अपने एक दोस्त शामराव हिवाले के साथ वे नर्मदा घाटी के ऊपरी भाग में स्थित एक गाँव में चले गये। यहाँ उन्होंने गोंड आदिवासियों के बीच आधुनिक शिक्षा और स्वास्थ्य सेवा के लिए काम किया। उन्होंने आदिवासियों की जिंदगी बेहतर बनाने की कोशिश की, लेकिन आदिवासियों ने उन्हें अपने रंग में रंग लिया। एलविन आदिवासियों के संगीत और नृत्य से प्यार तथा सेक्स और शादी के बारे में उनके मुक्त नज़रिये से बहुत प्रभावित हुए। लेकिन उन्हें आदिवासियों की ख़राब आर्थिक स्थिति को लेकर काफ़ी चिंता थी। वे देख रहे थे कि साहूकारों ने उनकी ज़मीन पर क़ब्ज़ा कर लिया है और उनके जंगल पर राज्य ने अपना आधिपत्य क़ायम कर लिया है।

एलविन ने आदिवासियों का धर्म परिवर्तन करने का विरोध किया। इसके कारण 1936 में इंग्लैण्ड के चर्च द्वारा उनका पादरी होने का लाइसेंस रद्द कर दिया गया। चार साल बाद उन्होंने एक गोंड लड़की से शादी कर ली। इस तरह गोंड लोगों से उनका जुड़ाव और भी गहरा हो गया। एक दशक के बाद यह शादी टूट गयी। इसके बाद एलविन ने एक दूसरी आदिवासी लड़की से शादी की। इस बीच उन्होंने आदिवासी जीवन और संस्कृति के विभिन्न पहलुओं के बारे में निबंधों और किताबों का प्रकाशन करना शुरू किया। उनके कुछ काम वर्णनात्मक और एथनोग्राफ़िक हैं, जबकि कुछ काम विश्लेषणात्मक और वाद-विवाद शैली में लिखे गये हैं। वे आदिवासी क्षेत्र में एक समाज-सुधारक के रूप में गये थे, लेकिन बाद में उन्होंने उनकी संस्कृति और समस्याओं को देश और दुनिया के सामने रखने को अपना मुख्य एजेंडा बना लिया। असल में भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में स्त्रियों, मुसलमानों और अछूतों की समस्याओं पर तो बहुत ज़्यादा ध्यान दिया गया, लेकिन आदिवासियों की समस्याओं की कोई फ़िक्र नहीं की गयी। वेरियर एलविन ने आदिवासियों की स्थिति और उनके हक़ की बात करके इस कमी को पूरा करने की कोशिश की। 1940 के दशक में एलविन ने अलग-अलग जनजातियों पर किताबों की एक पूरी श्रृंखला प्रकाशित की। उन्होंने नीतिगत मसलों पर अखबारों और पत्रिकाओं में कई लेख भी लिखे। उनका यह लेखन आदिवासियों के प्रति

उनकी गहरी हमदर्दी का प्रमाण है।

भारत को आजादी मिलने के बाद एलविन भारतीय गणराज्य के नागरिक बन गये। 1954 में जवाहरलाल नेहरू ने इन्हें नार्थ ईस्ट फ्रंटियर ऐजेंसी (नेफ्रा) के आदिवासी मामलों के प्रशासन का सलाहकार नियुक्त किया। यह एक बहुत बड़ा भू-क्षेत्र था जिसकी अंतर्राष्ट्रीय सीमा चीन और बर्मा से मिलती थी। यहाँ रहने वाली अलग-अलग जनजातियों के बारे में प्रशासन को कोई खास जानकारी नहीं थी। एलविन को ऐसी नीति बनाने की जिम्मेदारी दी गयी जिससे इन क्षेत्रों का भारत के साथ तेज सांस्कृतिक एकीकरण हो सके। उन्होंने उत्तर-पूर्व में दस साल गुजारे और वहाँ के विभिन्न भागों का दौरा किया। असम और नगालैण्ड में वे इसके बाद भी रहे। पहले की तरह ही उन्होंने इन क्षेत्रों के आदिवासियों और उनके लोकगीतों के बारे में लिखा। लेकिन इसके साथ ही उन्होंने ज़मीन और वन नीति के बारे में भी अपने विचार व्यक्त किये।

वेरियर एलविन ने अपने लेखन द्वारा भारत के आदिवासियों के जीवन के सकारात्मक पहलुओं को उभारा। उन्होंने आदिवासियों के अधिकार छीन लेने और झूम खेती जैसी उनकी परम्पराओं में हस्तक्षेप करने के लिए ब्रिटिश सरकार की तीखी आलोचना की। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि आदिवासियों की सबसे बड़ी समस्या यह है कि उन्होंने अपनी ज़मीन खो दी है। इसके अलावा एलविन ने यह तर्क दिया कि बाहरी शिक्षा और सभ्यता के प्रसार ने आदिवासी जीवन पर बहुत ही नकारात्मक प्रभाव डाला है। मसलन, शराब आदिवासी जीवन का एक अभिन्न अंग है जिसका प्रयोग वे अपने हर सामाजिक और धार्मिक समारोह में करते हैं। लेकिन बाहरी शिक्षा और सभ्यता के प्रसार में इसे पूरी तरह ग़लत माना गया। इस तरह के उदाहरण द्वारा एलविन ने गाँधी की शराबबंदी की योजना की परोक्ष आलोचना की। लेकिन उन्होंने यह भी रेखांकित किया कि कांग्रेस ने उदारता का परिचय देते हुए इस तरह की शराबबंदी के कार्यक्रम आदिवासी क्षेत्रों में लागू नहीं करने का फैसला किया है।

एलविन ने यह भी तर्क दिया कि आधुनिक शिक्षा में आदिवासियों की जीवन-शैली को नकारात्मक तरीके से पेश किया जा रहा है, जिसके कारण उनके सामुदायिक जीवन का पतन हो रहा है। आदिवासियों के बारे में अपनी योजना पेश करते हुए एलविन ने उन्हें दो समूहों में बाँटकर देखने की तजवीज़ की। पहला, ऐसे आदिवासी या जनजाति समूह जो 'मुख्यधारा' सभ्यता के नज़दीक आ गये हैं। इन समूहों की समस्याओं को ग्रामीण भारत की समस्याओं से जोड़कर देखना चाहिए। अर्थात् एलविन मानते हैं कि सामान्य ग्रामीणों की तरह इन आदिवासियों की समस्याएँ शिक्षा, जीविका,

खेती की अच्छी सुविधा आदि हैं। एलविन के हिसाब से आदिवासियों की कुल जनसंख्या का तक्ररीबन अस्सी प्रतिशत हिस्सा इस स्थिति में है। दूसरी ओर वे यह मानते हैं आदिवासियों की बाकी बीस प्रतिशत जनसंख्या 'अर्ध-सभ्य' की स्थिति में है यानी यह 'मुख्यधारा' के जीवन से काफी दूर है। ये लोग जंगलों में या उसके आस-पास के इलाकों में रहते हैं। उनके अनुसार जब तक सही तरीके से प्रशिक्षित शिक्षक न हों और जब तक कि इतना पैसा न हो कि इन्हें सभ्यता से जोड़ने का काम सही तरीके से हो सके तब तक उनकी जिंदगी में कोई दखल नहीं दिया जाना चाहिए।

'मुख्यधारा' के नज़दीक रहने वाले आदिवासियों और 'अर्ध-सभ्य' या जंगल में या उसके नज़दीक रहने वाले आदिवासियों के जनसंख्यात्मक अनुपात के बारे में विवाद किया जा सकता है। अर्थात् एलविन का यह मानना पूरी तरह सही नहीं है कि सिर्फ़ बीस प्रतिशत आदिवासी ही जंगल या उसके आस-पास के इलाकों में रह रही है। लेकिन आदिवासियों के संदर्भ में वे उन्हें 'पूरी तरह से मुख्यधारा में मिलाने' या 'अकेले छोड़ देने' की नीति के बीच का रास्ता अपनाने पर जोर देते हैं। दोनों ही श्रेणियों के बारे में उनका यह स्पष्ट मानना है कि आदिवासियों को अपने ज़मीन और संसाधनों पर हक़ होना चाहिए। इस संदर्भ में यह बात उल्लेखनीय है कि जवाहरलाल नेहरू ने एलविन की किताब की प्रस्तावना में ही आदिवासियों के प्रति अपनी प्रसिद्ध 'पंचशील' नीति की घोषणा की थी जिसमें आदिवासियों को उनकी परम्परा और संसाधनों आदि के संदर्भ में स्वायत्तता देने की वकालत की गयी थी। एलविन के विचार आज के दौर में ज्यादा प्रासंगिक हैं क्योंकि 'विकास' और आदिवासियों को 'मुख्यधारा' से जोड़ने के नाम पर उनकी जंगल और ज़मीन निजी पूँजी के हाथों में दी जा रही है। वेरियर एलविन की मृत्यु 1964 में हुई।

देखें : अनुसूचित जनजातियाँ, आदिवासी प्रश्न-1, 2, 3 और 4, गोविंद सदाशिव घुर्गे, छत्तीसगढ़, झाड़खण्ड, भारत में किसान-संघर्ष-1, 2 और 4, भारतीय राज्य, माओवाद और माओ विचार, सामाजिक बहिर्वेशन, सुदीप्त कविराज।

संदर्भ

1. रामचंद्र गुहा (1999), *सैवेजिंग द सिविलाइज़्ड : वेरियर एलविन, हिज ट्राइबल्स ऐंड इण्डिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
2. वेरियर एलविन (1944), *द एबोरिजनल्स*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, बंबई.
3. वेरियर एलविन (1959), *अ फ़िलॉसफ़ी फ़ॉर नेफ्रा*, एडवाइज़र टु गवर्नर ऑफ़ असम, शिलांग.

— कमल नयन चौबे

वैकल्पिक मीडिया

(Alternative Media)

व्यावसायिक मीडिया, सरकारी मीडिया और व्यवस्था का समर्थन करने वाली किसी संस्था या पार्टी के नियंत्रण में चलने वाले मीडिया के मुकाबले वैकल्पिक दृष्टिकोण पेश करने वाले माध्यमों को वैकल्पिक मीडिया की संज्ञा दी जाती है। व्यवस्था की आलोचना करते हुए असहमति का स्वर बुलंद करने वाला मीडिया का कोई भी रूप (पत्रिका, पर्चा, अखबार, रेडियो, टेलिविज़न, फ़िल्म, इंटरनेट) वैकल्पिक मीडिया होने का दावा कर सकता है। वह या किसी भी अन्य रूप में हो सकता है। सार्वजनिक जीवन में वैकल्पिक मीडिया से मिलती-जुलती क्रिस्मों के मीडिया भी सक्रिय हैं जिन्हें टेक्टिकल मीडिया, स्ट्रेटजिक मीडिया या अंडरग्राउंड प्रेस की संज्ञा दी जाती है। वैकल्पिक मीडिया और उसके ये रूप कम से कम दो अर्थों में व्यावसायिक या सरकारी मीडिया से अलग होते हैं। पहला, व्यावसायिक या सरकारी मीडिया खुद को निष्पक्ष और तटस्थ बताता है। लेकिन वैकल्पिक मीडिया कहता है कि निष्पक्षता का विचार तो असल में एक आवरण है जिसे पीछे निहित-स्वार्थों की चालाक तरफ़दारी छिपी हुई है। इस 'पक्षपात' के मुकाबले वह खुद को बिना किसी लाग-लपेट के ग़रीबों, वंचितों, हाशियाग्रस्त समूहों की पैरोकारी करने वाला यानी 'पक्षधर' करार देता है। इसी पक्षधरता से इक्कीसवीं सदी के पहले दशक में 'एडवोकेसी जर्नलिज़्म' का जन्म हुआ है। दूसरा, वैकल्पिक मीडिया अपने तेवर के साथ-साथ अपनी सारवस्तु, प्रस्तुतीकरण, उत्पादन, वितरण और अपने ग्रहणकर्ताओं के साथ अपने संबंध के सिलसिले में भी मुख्य धारा के मीडिया से अलग होता है। अ-व्यावसायिक होना इस भिन्नता के केंद्र में है।

एडवर्ड एस. हरमन और नोम चोम्स्की ने अमेरिकी मीडिया के पक्षपातपूर्ण रवैये का अध्ययन करके एक 'प्रोपेगंडा मॉडल' विकसित किया है। उनकी मान्यता है कि यह मीडिया पेशेवराना पत्रकारिता के नाम पर कॉरपोरेट हितों की आलोचना से बचता है और नव-उदारतावादी नीतियों और उनके आधार पर खड़े किये गये निज़ाम के हक़ में प्रोपेगंडा करता है। फ़्रांसीसी चिंतक लुई अलथुसे ने भी व्यवस्था समर्थक प्रेस की समस्याओं के बारे में विस्तार से लिखा है। चोम्स्की और अलथुसे के लेखन ने वैकल्पिक मीडिया विकसित करने वाले कई प्रयासों को प्रेरित किया है। संचार की प्रक्रिया का समाजवादी दृष्टिकोण से अध्ययन करने वाले विद्वान रॉबर्ट एम. मेकचेस्नी ने तो मीडिया के राजनीतिक अर्थशास्त्र, वैकल्पिक मीडिया के विकास और मीडिया संबंधित नीति में विस्तृत सुधारों की आवश्यकता पर

बल दिया है।

टेक्टिकल और अंडरग्राउंड मीडिया : वैकल्पिक मीडिया का ही एक रूप है टेक्टिकल मीडिया जिसकी प्राथमिकता स्थायित्व ग्रहण करने के बजाय मीडियास्फ़ैयर में अचानक हस्तक्षेप करके हलचल मचाने की रहती है। हालाँकि मीडिया की इन प्रवृत्तियों का जन्म साठ के दशक में उभरे प्रति-संस्कृति के आंदोलनों से हुआ था, पर बर्लिन की दीवार गिरने के साथ इसका एक बार फिर से उदय हुआ। समझा जाता है कि फ़्रांसीसी दार्शनिक मिशेल दसर्त द्वारा 1984 में लिखे गये निबंध 'दि प्रेक्टिस ऑफ़ एवरीडे लाइफ़' से मीडिया की इन प्रवृत्तियों को उनका नाम यह नाम मिला। भूमण्डलीकरण के दौर में मीडिया-हस्तक्षेप की इस प्रवृत्ति ने खासा जोर पकड़ा है। इसके कई पैरोकार वर्ल्ड सोशल फ़ोरम से जुड़े हुए हैं। टेक्टिकल मीडिया ने कई तरह के कला (दादावाद, अतियथार्थवाद) और सामाजिक आंदोलनों से अपनी रणनीति ग्रहण की है। उसके कार्यकर्ता किसी भी पहले से मौजूद कलाकृति, किसी भी व्यावसायिक बिलबोर्ड या राजनीतिक मुहिम को आलोचनात्मक नज़रिये से ग्रहण करके उसका अपने तात्पर्यों के लिए विनियोग कर डालते हैं। मुख्य धारा के मीडिया के संदेश को रैडिकली बदल कर यह मीडिया एंटी-थीसिस के ज़रिये अपना प्रभाव छोड़ता है।

अंडरग्राउंड प्रेस का चलन साठ और सत्तर के दशक में प्रति-संस्कृति के आंदोलनों के दौरान हुआ था। अमेरिका, कनाडा, ब्रिटेन और युरोप के अन्य देशों में इस दौरान ऐसे पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन का सिलसिला शुरू हुआ जो प्रेस की आज़ादी का लाभ उठाते हुए खुले तौर पर छपते और बँटते थे, पर जिनकी सामग्री असहमति के आंदोलनों को मज़बूत करती थी। नतीजे के तौर पर उन्हें प्रशासन के प्रकोप का सामना करना पड़ता था। इसी दौरान सोवियत ख़ेमे के देशों में भी अंडरग्राउंड प्रेस की परिघटना उभरी जो पूरी तरह से ग़ैरक़ानूनी और इस लिहाज़ से चालीस के दशक में नाज़ी कब्ज़े वाले देशों में प्रकाशित होने वाले भूमिगत अखबारों के तर्ज़ पर थी। सोवियत संघ में *सामिज़्दात* और पोलैण्ड में *बिबुता* जैसे प्रकाशन इस सिलसिले में उल्लेखनीय हैं।

वैकल्पिकता का प्रश्न : किसी मीडिया की 'वैकल्पिक' स्थिति ज़रूरी नहीं कि स्थायी ही हो। वह परिस्थिति-सापेक्ष भी हो सकती है। मसलन, किसी अधिनायकवादी सत्ता का विरोध कर रहे आंदोलन का दृष्टिकोण पेश करने वाला मीडिया वैकल्पिक की श्रेणी में माना जाता है। पर, उस सत्ता को अपदस्थ करके सरकार में आने वाली राजनीतिक ताक़त का समर्थन करने वाला वही मीडिया वैकल्पिक होने का श्रेय लेने में नाकाम हो सकता है। अगर वह परिस्थिति बदलने पर भी सत्तासीनों के प्रति आलोचनात्मक नज़रिया अपनाता रहता है, तो अलग बात है।

भारत में उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन के दौरान अंग्रेजी और भारतीय भाषाओं के मीडिया की भूमिका इस परिस्थिति-सापेक्षता की ऐतिहासिक प्रमाण हैं। अंग्रेजी के ज्यादातर अखबार ब्रिटिश समर्थक होने के नाते सत्ता-प्रदत्त सुविधाओं को भोग रहे थे। आजादी के दृष्टिकोण का समर्थक होने के नाते भारतीय भाषाओं का मीडिया अत्यल्प साधनों में काम कर रहा था। उसके पास त्याग और प्रतिबद्धता की आभा और राष्ट्रवाद प्रदत्त नैतिक ऊँचाई थी। लेकिन, 1947 के बाद यह स्थिति बदल गयी। भारतीय भाषाओं के कई अखबार भी व्यावसायिकता, मुनाफ़ाखोरी और व्यवस्थापोषक रास्तों पर चले गये। एडवोकेसी जर्नलिज्म तो पूरी तरह से परिस्थिति-सापेक्ष है। वह मुद्दा-आधारित होता है और मुद्दा महत्वपूर्ण न रहने पर उसका तर्क और आधार खत्म हो जाता है।

वैकल्पिक मीडिया के 'वैकल्पिक' होने के बारे में दो तरह के विवाद हैं। पहला प्रश्न यह है कि क्या अ-शासकीय या अ-व्यावसायिक होना वैकल्पिक होने के लिए काफ़ी है? यह सवाल अस्सी के दशक में सारी दुनिया में सक्रिय हुए गैर-सरकारी संगठनों (एनजीओ) की परिघटना के बाद खास तौर से महत्वपूर्ण हो गया है। तीसरी दुनिया के देशों में 'विकास' को आम जनता तक पहुँचाने की परियोजना में लगे हुए इन संगठनों में से ज्यादातर को अमीर देशों से आर्थिक सहायता मिलती है। इनके जरिये बड़े पैमाने पर छपी हुई, डिजिटल और फ़िल्मीकृत सामग्री प्रसारित की जाती है। तकनीकी रूप से ये न तो मुनाफ़ा कमाने वाले संगठन हैं, और न ही सरकार इन्हें अपना अंग मानती है। इनमें काम करने वाले कार्यकर्ताओं की आत्म-छवि भी वैकल्पिक समाज और राजनीति के लिए जद्दोजहद चला रहे व्यक्तियों जैसी होती है। लेकिन यह एनजीओ सेक्टर आज तक इस आलोचना का उत्तर देने में नाकाम रहा है कि जो 'विकास' वे जनता तक ले जाने की जिम्मेदारी उठा रहे हैं, उससे अंततः किसका उद्देश्य हल होता है।

व्यवस्था को उखाड़ फेंकने के लिए सक्रिय 'क्रांतिकारी' समूहों की मान्यता है कि मीडिया के ऐसे रूप अधिकतर एक दबाव-गुट के रूप में ही काम कर पाते हैं। आमूलचूल परिवर्तन के लिए रास्ता साफ़ करने के बजाय वे व्यवस्था में सुधार के निमित्त बन कर अंततः उसे मजबूत करने के ही काम आते हैं। यह अलग बात है कि सत्ता का तख्ता उलटने की कार्रवाई में लगे हुए संगठन व्यवस्था पर दबाव डालने वाले मीडिया की कार्रवाइयों को अपने पक्ष में इस्तेमाल भी करते हैं।

वैकल्पिकता की परिभाषा के साथ जुड़ा हुआ दूसरा प्रश्न विचारधारा का है। एनजीओ सेक्टर से निकलने वाले

मीडिया को अगर छोड़ दिया जाए तो वैकल्पिक मीडिया के अधिकतर प्रकाशनों की चालक-शक्ति विभिन्न राजनीतिक विचारधाराएँ हैं। इस संबंध में उस सूत्र में पेचीदगी पैदा हो जाती है जब एक विचारधारा के पैरोकार एक ही मुद्दे पर अलग-अलग रवैया अपनाते दिखते हैं। भूमण्डलीकरण एक ऐसा ही मुद्दा है। भारत में आर्थिक सुधार और विदेशी पूँजी के खिलाफ़ चल रही मुहिम में हिंदुत्ववादी विचारधारा के समर्थक स्वदेशी जागरण मंच द्वारा संचालित मीडिया धुर-विरोधी रुख अख़्तियार करता है, और उसी विचारधारा की समर्थक भारतीय जनता पार्टी नव-उदारतावादी आर्थिक नीतियों को लागू करने की कोशिशों में जुटी नज़र आती है। भाजपा के साथ बिरादराना संबंध रखने के बावजूद स्वदेशी जागरण मंच वैकल्पिक दावेदारियाँ करने वाले हलकों का भी सदस्य बना रहता है।

देखें : अभिलेखागार, आख्यान, इंटरएक्टिविटी-प्रौद्योगिकीय विमर्श, इंटरएक्टिविटी-सामाजिक विमर्श, इंटरफ़ेस, एक्टर-नेटवर्क थियरी, डिजिटल डिवायड, दिन-प्रति दिन के अभिलेखागार, नया मीडिया, नेटवर्क, नेटवर्क सोसाइटी, प्रेस की स्वतंत्रता, प्रोपेगंडा, बाज़ारू संस्कृति, भारत में संचार-क्रांति, भारतीय मीडिया-1, 2 और 3, भारतीय मीडिया स्फ़ेयर, मास मीडिया, मीडिया और राज्य, मीडिया और राजनीति, मीडिया और भारतीय राजनीति, मीडिया-पक्षपात, मीडिया-अध्ययन, संचार, संचार-क्रांति, स्मृति और अभिलेखागार, सोशल नेटवर्क विश्लेषण, सूचना, सूचना-समाज।

संदर्भ

1. क्रिस एटन (2002), *आल्टरनेटिव मीडिया*, सेज, थाउज़ेंड ओक्स, सीए.
2. डब्ल्यू. रॉबर्ट मेकचेस्नी (2008), *कम्युनिकेशन रिवोल्यूशन : क्रिटिकल जंक्चर्स ऐंड द फ्यूचर ऑफ़ मीडिया*, द न्यू प्रेस, न्यूयॉर्क.
3. ग्राहम मीकिल (2002), 'टर्निंग साइंस इन टु क्वेश्चन मार्क्स', *फ्यूचर एक्टिव : मीडिया एक्टिविज्म ऐंड द इंटरनेट*, रॉटलेज, न्यूयॉर्क.
4. केन वाशबर्गर (सम्पा.) (1993), *वाँसिज्म फ़्रॉम द अंडरग्राउण्ड*, मिना प्रेस, टेम्पे, एज़ैड.

— अभय कुमार दुबे

वैकासिक अर्थशास्त्र

(Development Economics)

प्रति व्यक्ति सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) के मामले में पिछड़े रहने वाले देशों को उनकी गरीबी से निजात दिलाने के लिए प्रस्तावित आर्थिक सिद्धांतों और नीतियों को वैकासिक अर्थशास्त्र की संज्ञा दी जाती है। 'डिवेलपमेंट' और 'ग्रोथ' के प्रत्ययों में स्पष्ट अंतर पर जोर देने वाले विद्वानों की राय है कि दरअसल यह अर्थशास्त्र वैकासिक या विकासवादी के बजाय आर्थिक संवृद्धि के अर्थशास्त्र के रूप में पेश किया जाना चाहिए। बहरहाल, इसकी शुरुआती झलकियाँ विलियम पेटी के वणिकवाद और ऐडम स्मिथ के क्लासिकल अर्थशास्त्र में देखी जा सकती हैं। अठ्ठारहवीं सदी में स्मिथ और उनके साथियों ने आर्थिक वृद्धि की प्रक्रिया को मानव इतिहास के विभिन्न चरणों के जरिये समझने की कोशिश की थी। इसके मुताबिक सबसे पहले आखेट आधारित आदिम अवस्था थी जिसका विकास घुमंतू पशुपालन में हुआ। तीसरे चरण में खेती के आधार पर आर्थिक संबंध बने और अंत में वाणिज्य और कारखाना उत्पादन की प्रक्रियाएँ सामने आयीं। वैकासिक अर्थशास्त्र के पीछे यही बुनियादी थीसिस काम करती है कि अगर गरीब देशों की कृषि आधारित अर्थव्यवस्थाओं को निर्यात-आयात आधारित वाणिज्य और कारखाना उत्पादन का आधार मिल जाए तो उनका आर्थिक कल्याण सम्भव है।

वैकासिक अर्थशास्त्र के सिद्धांत दीर्घकालीन बचत, उसके निवेश और प्रौद्योगिकीय प्रगति की भूमिका के इर्द-गिर्द सूत्रबद्ध होते हैं। इस लिहाज से आर्थिक विज्ञान की यह शाखा सैद्धांतिक और व्यावहारिक अर्थशास्त्र का मिला-जुला रूप है। इसमें एक तरफ मुक्त व्यापार का रवैया अपनाते हुए बाजार के जरिये आर्थिक वृद्धि हासिल करने की कोशिश की जाती है। दूसरी ओर राष्ट्रीय सरकारों के हस्तक्षेप और आर्थिक नियोजन का सहारा लिया जाता है। इसका तीसरा पहलू है अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं द्वारा किया जाने वाला हस्तक्षेप। इन संस्थाओं में अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक और अन्य क्षेत्रीय ऋणदाता बैंक शामिल हैं। इसी मिले-जुले रूप के कारण वैकासिक अर्थशास्त्र नियोक्लासिकल और मार्क्सवादी अर्थशास्त्रियों की आपसी टकराहट का अखाड़ा बना रहता है। नियोक्लासिकल तर्क गरीब देशों में बाजार की विफलता को उनकी कमजोरी का कारण बताता है। उसकी तरफ से सुझाव आता है कि इन देशों को अपनी शुल्क प्रणाली, विनिमय दरें और मौद्रिक प्रणालियों में परिवर्तन करने चाहिए ताकि बाजारों में सुधार हो सके। मार्क्सवादी रवैया अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण अपनाते हुए पूँजीवादी शोषण को दूसरी अर्थव्यवस्थाओं के हाशिये पर रह जाने का कारण बताता है।

जाहिर है कि वैकासिक अर्थशास्त्र के फ़ार्मूले विकासशील देशों में ही आजमाये जाते हैं। विश्व अर्थव्यवस्था में इन देशों को एक 'स्पेशल केस' के तौर पर देखते हुए अक्सर माना जाता है कि इनकी समस्याएँ मोटे तौर पर एक सी हैं। शुरू में इन देशों के प्रति व्यक्ति जीडीपी के निचले स्तर को उनके अल्पविकास का पर्याय माना गया। बाद में महसूस किया गया कि खेती से होने वाला काफ़ी उत्पाद बाजार में जाने के बजाय किसानों द्वारा अपने इस्तेमाल में खर्च कर लिया जाता है इसलिए जीडीपी नापने की विधियाँ राष्ट्रीय आमदनी का सही-सही अनुमान नहीं लगा पातीं। परिणामस्वरूप इन देशों की आमदनी के सही आकलन के लिए पूरक अनुमान लगाने की विधि अपनायी गयी।

अल्पविकास के शिकार अधिकतर देश एशिया और अफ्रीका में पाये जाते हैं। कम जीडीपी के अलावा अल्पविकास का मतलब है सड़कों, स्कूलों और अस्पतालों के रूप में खराब ढाँचागत सुविधाएँ। इन देशों की राजनीतिक और आर्थिक संस्थागत संरचना भी बहुत कमजोर है। लोकतंत्र के अभाव और बैंकिंग व कॉर्पोरेट ढाँचे की खामियों ने इनकी आर्थिक वृद्धि को और मुश्किल बना दिया है। आबादी का बहुत कम प्रतिशत साक्षर है और इस लिहाज से ये देश मानवीय पूँजी के लिहाज से भी दरिद्र हैं।

वैकासिक अर्थशास्त्र संबंधी लेखन में संतुलित वृद्धि की रणनीति अपनाने, वृद्धि का प्रसार करने वाले ध्रुवों और वृद्धि को उत्प्रेरित करने वाली नीतियों के आग्रह की चर्चा मिलती है। लेकिन, इस अर्थशास्त्र ने अर्थव्यवस्था में राज्य की संस्था के हस्तक्षेप के सवाल पर ख़ासी बहस को भी जन्म दिया है। नियोक्लासिकल अर्थशास्त्र के पैरोकारों की मान्यता है कि विकासशील देशों को जिस पूँजी की ज़रूरत है, वह उन्हें उन देशों में उत्पादन की कम लागत के कारण अपने-आप प्राप्त हो जाएगी। इसलिए सरकारों को आर्थिक जीवन में हस्तक्षेप करने की परेशानी में नहीं फँसना चाहिए। अ-हस्तक्षेपकारी नीतियों के एक प्रमुख समर्थक पीटर बाउर ने पश्चिम अफ्रीकी और एशियाई अर्थव्यवस्थाओं में अपनाये जाने वाले परम्परागत तौर-तरीकों के सकारात्मक पहलुओं का उदाहरण देते हुए दावा किया है कि आर्थिक मामलों में सरकारों की नौकरशाहाना दखलंदाजी से इन देशों के विकास पर विपरीत असर पड़ा है।

वैकासिक अर्थशास्त्र के विशेषज्ञों में आर्थर लेविस, गुन्नार मिर्डल, राउल प्रेबिश, पॉल रोजेन्स्टीन-रोदाँ, हला मिंट, हांस सिंगर और अमर्त्य कुमार सेन के नाम प्रमुख हैं। इन सभी विद्वानों ने आर्थिक विज्ञान की इस शाखा के किसी न किसी पहलू में विशेष योगदान किया है। मसलन, आर्थर लेविस ने गरीब देशों की अर्थव्यवस्था में दुहरी संरचना पर रोशनी डाली है। इसके मुताबिक इन देशों की अर्थव्यवस्था

का एक हिस्सा बड़े शहरों, उद्योगों, सेवाओं और अंतर्राष्ट्रीय वाणिज्य से बनता है। दूसरे हिस्से में कम उत्पादकता वाला खेतिहर क्षेत्र सक्रिय रहता है। गुन्नार मिर्डाल ने आर्थिक और समाजशास्त्रीय रवैया अपना कर एशियाई वैकासिक समस्याओं का विश्लेषण किया है, और साथ में भ्रष्टाचार की समस्या पर भी प्रकाश डाला है। राउल प्रेबिश ने स्थानीय उद्योग और अन्य उत्पादन को संरक्षित करने वाली नीतियों पर गौर करते हुए अल्पविकसित देशों के लिए आयात-प्रतिस्थापन की नीतियों की सिफारिश की है ताकि वे अपनी व्यापार की शर्तों में सुधार कर सकें। प्रेबिश ने गरीब देशों की अवस्था में चौतरफा गिरावट रोकने के लिए दीर्घकालीन ऋणों की आवश्यकता पर भी बल दिया है। रोज़ेस्टीन-रोदाँ ने सुझाव दिया है कि गरीब देशों को उद्योगीकरण से होने वाले उत्तरोत्तर बढ़ने वाली आमदनी से लाभ उठाने की कोशिश करनी चाहिए। मिंट ने अंतर्राष्ट्रीय वाणिज्य के साथ आर्थिक विकास को जोड़ा है और सिंगर ने संतुलित वृद्धि का सुझाव दिया है।

अमर्त्य सेन ने क्षमताओं की समानता हासिल करने का विचार दिया है। वे आमदनी या संसाधनों की समता के बजाय लोगों की क्षमताओं को बराबर करने पर जोर देते हैं। अमर्त्य सेन के मुताबिक अगर सामाजिक नीति इस तरह बनायी जाए कि उसके आधार पर लोग विभिन्न काम करने लायक क्षमताएँ विकसित कर सकें तो समता का आदर्श प्राप्त किया जा सकता है। मसलन, अगर किसी क्षेत्र में निरक्षरता है, तो संसाधनों की समता में यत्नी करने वालों के लिए यह पर्याप्त होगा कि राज्य और समाज उपलब्ध संसाधन किताबों और शिक्षा संबंधी सेवाओं पर खर्च करें। पर, क्षमताओं की समता के पैरोकार चाहेंगे कि लोगों के भीतर शिक्षा नामक एक आंतरिक योग्यता पैदा करने के उपाय किये जाएँ। अमर्त्य सेन चाहते हैं कि विषमता का विश्लेषण करते समय मानवीय विविधता का पूरी बारीकी से ध्यान रखा जाना चाहिए। यह विविधता आंतरिक (उम्र, जेंडर, प्रतिभाएँ, स्वास्थ्य आदि) भी होती है और बाह्य (सम्पत्ति का स्वामित्व, सामाजिक पृष्ठभूमि, पर्यावरण स्थितियाँ आदि) भी। मसलन, वैसे तो हर स्त्री जेंडर संबंधी भेदभाव की शिकार होती है, पर दलित स्त्री और ऊँची जाति की स्त्री की परिस्थितियाँ एकदम अलग-अलग हो सकती हैं। इसी तरह नयी दिल्ली की एक दलित स्त्री और राजस्थान या हरियाणा की किसी सवर्ण विधवा की जीवन-स्थितियों के बीच फ़र्क का ध्यान रखा जाना चाहिए। सामाजिक नीतियाँ अगर इन अंतरों का खयाल करके बनायी जाएँगी तो क्षमताओं की समता अधिक बेहतर ढंग से प्राप्त की जा सकेगी।

कार्ल मार्क्स द्वारा प्रवर्तित साम्राज्यवाद के सिद्धांत से प्रेरणा लेकर आंद्रे गुंदर फ्रैंक द्वारा निर्भरता के सिद्धांत का

प्रतिपादन किया गया है। इस स्थापना ने वैकासिक अर्थशास्त्र में आमूल परिवर्तन ला दिया है। फ्रैंक की मान्यता है कि दुनिया के पैमाने पर पूँजीवाद विकसित देशों द्वारा तीसरी दुनिया के देशों के दोहन के आधार पर चल रहा है। प्रौद्योगिकी और बाज़ार पर नियंत्रण के माध्यम से विश्व अर्थव्यवस्था के केंद्र में बैठे हुए ये देश हाशिये पर पड़े हुए गरीब देशों से अतिरिक्त मूल्य खींच रहे हैं।

वैकासिक अर्थशास्त्र से जुड़ी एक और बहस विकास की सीमा और लक्ष्य को लेकर भी है। त्रुटिपूर्ण आकलन और दूरदेशी के अभाव की शिकार विकास नीतियों के कारण पर्यावरण और पारिस्थितिकी को हुई क्षति को ध्यान में रखते हुए 1987 में ब्राण्डलैण्ड रिपोर्ट के जरिये टिकाऊ विकास की अवधारणा पेश की गयी है ताकि मौजूदा आवश्यकताओं का भविष्य की ज़रूरतों के साथ तालमेल बैठाया जा सके।

देखें : अर्थ-विज्ञान का समाजशास्त्र, आर्थिक जनसांख्यिकी, अल्फ्रेड मार्शल, अमर्त्य कुमार सेन, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, एडम स्मिथ, करारोपण, कल्याणकारी अर्थशास्त्र, क्लासिकल अर्थशास्त्र, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-3, कार्ल मेंगर, कींसियन अर्थशास्त्र, गुन्नार मिर्डाल, जोआन रोबिंसन, जॉन कैनेथ गालब्रेथ, जॉन मेनार्ड कींस, जॉन स्टुअर्ट मिल, जोसेफ़ शुमपीटर, जैव विविधता, ट्रस्टीशिप, डेविड रिकार्डो, ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम, थॉमस मन और वणिकवाद, थॉमस रॉबर्ट माल्थस, दक्षता, धन, नियोजकशास्त्र अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र, निकोलस काल्दोर, नियोजन, नियोजन : मार्क्सवादी विमर्श, पण्य, पण्य-पूजा, पेटेंट, पॉल सेमुअलसन, पियरो साफ़ा, पूँजी, प्रतियोगिता, फ्रान्स्वा केस्ने और प्रकृतिवाद, फ्रेड्रिख वॉन हायक, बहुराष्ट्रीय निगम, बाज़ार, बाज़ार की विफलताएँ, बाज़ार-समाजवाद, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, भारत में बहुराष्ट्रीय निगम, भारत में नियोजन, भारत में पेटेंट क़ानून, भारत में शेरय संस्कृति, भूमण्डलीकरण और पूँजी बाज़ार, भूमण्डलीकरण और वित्तीय पूँजी, भूमण्डलीकरण और वित्तीय उपकरण, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, मिल्टन फ्रीडमैन, मूल्य, राजनीतिक अर्थशास्त्र, राजनीतिक अर्थशास्त्र : भारतीय आयाम, राजकोषीय नीति और मौद्रिक नीति, रॉबर्ट ओवेन, विलफ्रेडो परेडो, विश्व व्यापार संगठन, विश्व बैंक, विलियम पेटी, विलियम स्टेनली जेवंस, शोषण, साइमन कुज़नेत्स।

संदर्भ

1. एन. ज़िमेल (सम्पा.) (1987), *सर्वेज़ इन डिवेलपमेंट इकॉनॉमिक्स*, ब्लैकवेल, ऑक्सफ़र्ड.
2. जी.एम. मीर (2005), *बाँयोग्राफी ऑफ़ अ डिवेलपमेंट : ऐन इवोल्यूशन ऑफ़ डिवेलपमेंट इकॉनॉमिक्स*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.

— अभय कुमार दुबे

वैधता

(Legitimacy)

वैधता वह गुण है जिसके आधार पर सत्ता की संरचनाएँ लोगों की निगाह में न्यायसंगत प्राधिकार का रूप ले लेती हैं। वैधता के जरिये किसी सरकार, क़ानून, प्रथा या सामाजिक-आर्थिक कार्यक्रम को वह बाध्यकारी शक्ति मिलती है जिसके कारण उसका अनुपालन डर के बजाय एक तरह के कर्तव्य के तहत किया जाता है। वैधता का अर्थ क़ानूनी वैधता से भी जुड़ा है, और जन-वैधता या सामाजिक वैधता से भी। यहाँ लीगलिटी और लेजिटिमेसी का फ़र्क़ साफ़ करना ज़रूरी है। कुछ ऐसी परिस्थितियाँ भी होती हैं जब क़ानूनी वैधता और जन-वैधता एक-दूसरे के ख़िलाफ़ खड़ी हो जाती हैं। मसलन, सती प्रथा निर्विवाद रूप से क़ानूनन अवैध है। लेकिन, क्या जन-वैधता भी यही कहती है? समाज का रवैया इस प्रथा के प्रति मिला-जुला है। उसके कुछ हिस्से क़ानूनी वैधता को सही ठहराते हुए सती प्रथा के ख़िलाफ़ हैं, पर कुछ हिस्से ऐसे भी हैं जो सती को आज भी आदर की दृष्टि से देखते हैं। इसका मतलब यह निकलता है कि क़ानूनी वैधता (या वैधानिकता) अपने आप में सम्पूर्ण वैधता की गारंटी नहीं देती। हाँ, यह ज़रूर कहा जा सकता है कि किसी मुद्दे पर क़ानूनी वैधता उसके प्रति जन-वैधता विकसित होने का रास्ता खोल देती है। वैधता की अवधारण में इस जगह एक दिलचस्प अंतर्विरोध उभर कर आता है। ऐसी बहुत सी सरकारें हुई हैं और होती हैं जिनकी राजनीतिक सफलता ने उनके लिए बहुत बड़े पैमाने पर जन-वैधता की रचना की। उन्होंने अपनी जन-वैधता को वैधानिकता का जामा भी पहना दिया था। लेकिन, विश्व-जनमत का बड़ा हिस्सा उनकी इस जन-वैधता को एक सम्पूर्ण वैधता के रूप में स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हुआ। फ़्रांसीसीवादी सरकारें और कम्युनिस्ट सरकारें अपने युग की बेहद लोकप्रिय हुकूमतें थीं। पर उनमें वैधता के उन गुणों का अभाव था जो उदारतावादी लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में दिखाई देते हैं।

कई बार वैधता और प्राधिकार का प्रयोग कुछ इस तरह से होता है कि जैसे दोनों अभिव्यक्तियाँ पर्यायवाची हों। व्यक्तियों के संदर्भ में प्राधिकार का और राजनीतिक व्यवस्था के संदर्भ में वैधता के प्रश्न उठाये जाते हैं। भले ही दोनों के बीच सामान्यतः ज़रूरी अंतर न किया जाता हो, लेकिन विचार-श्रेणियों के प्रति सतर्क लोग इस तरह के फ़र्क़ के प्रति लापरवाह नहीं रह सकते। इसीलिए राजनीतिक सिद्धांत की दुनिया ने इस प्रश्न पर काफ़ी विचार किया है कि किसी सरकार को किन आधारों पर वैध कहा जा सकता है। क्या

केवल निर्वाचित बहुमत के आधार पर गठित सरकार वैधता सम्पन्न कही जा सकती है? वैधानिकता की दृष्टि से यह बात सही हो सकती है। पर, भारतीय लोकतंत्र का अनुभव बताता है कि भारी बहुमत से चुनी हुई सरकारें भी दो-तीन साल बाद अपनी जन-वैधता खोने लगती हैं, और अगले चुनाव से काफ़ी पहले ही लगने लगता है कि वे दोबारा सत्ता में वापिस नहीं आएँगी। राजनीतिक प्रेक्षकों के अनुसार आम तौर पर पहले छह महीनों से साल भर तक तो जनता और विपक्ष की तरफ़ से बिना किसी आपत्ति के सरकार को अपना काम करने दिया जाता है। यह 'हनीमून पीरियड' कहलाता है। पर, इसके बाद जनता के असंतोष और विपक्ष के सरकार विरोधी गतिविधियों का दौर शुरू हो जाता है। सरकार की वैधानिकता बनी रहती है (क्योंकि उसे संविधान के प्रावधानों के अनुसार पाँच साल के लिए चुना गया है), पर उसकी वैधता का क्षय शुरू हो जाता है। अपनी वैधता खो चुकी सरकार डराने-धमकाने, डंडेबाज़ी और हिंसा के जरिये ही टिकी रह सकती है। ऐसी सरकार ऊपर से कितनी भी दमनकारी हो, पर वास्तव में वह कमज़ोर होती है। इसीलिए द सोशल कांटेक्ट (1762) में रूसो ने कहा था कि कोई कितना भी ताक़तवर क्यों न हो, उसके हाथ में स्वामित्व तभी रह सकता है जब वह उसकी शक्ति को लोग उसका अधिकार मानें और उसकी आज्ञा के पालन को अपना कर्तव्य। जो सरकार इस कसौटी पर खरी नहीं उतर पाती वह सत्तारूढ़ होते हुए भी अपनी वैधता खो देती है।

मैक्स वेबर के अनुसार अगर लोग किसी निज़ाम का हुकूम मानने के लिए तैयार हैं अर्थात् उन्हें उसकी 'वैधता में आस्था' है, तो उस हुकूमत को वैध कहा जाना चाहिए। भले ही वह निज़ाम किसी भी क्रिस्म का हो। लेकिन, अतीत के और आज के बहुत से राजनीतिक दार्शनिक वेबर के इस प्रतिपादन से सहमत नहीं हैं। वे वैधता की दावेदारी को परखने के लिए किसी तर्कसंगत या नैतिक कसौटी का इस्तेमाल करना चाहते हैं। अरस्तू का ख़याल था कि शासक के स्वार्थ के बजाय पूरे समाज के स्वार्थ में काम करने वाली हुकूमत ही वैध मानी जा सकती है। रूसो ने वैधता की परख के लिए 'जन-इच्छा' (जर्नल विल) की थीसिस दी थी। द लेजिटिमेशन ऑफ़ पावर (1991) में डेविड बीथम ने भी वेबर से अलग विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि महज़ वैधता में आस्था से काम नहीं चल सकता। यह भी देखना होगा कि वह आस्था कैसे पैदा की गयी है। रंग-रुतबे वाले लोग प्रोपेगंडे का नियोजित इस्तेमाल करके यह आस्था लोगों के गले उतार सकते हैं। इस तरकीब को धता बताने के लिए बीथम वैधता की तीन शर्तें प्रतिपादित करते हैं : पहली, सत्ता का प्रयोग स्थापित नियमों के अनुसार ही होना चाहिए, फिर चाहे वे नियम औपचारिक रूप से बनाये गये हों या

अनौपचारिक रिवाजों पर आधारित हों। दूसरी, उन नियमों को शासकों और शासितों के साझा विश्वासों के आधार पर न्यायसंगत ठहराना आवश्यक है। तीसरी, वैधता पर शासितों की सहमति की मुहर लगाना बहुत जरूरी है।

समाज-विज्ञान में वैधीकरण की प्रक्रिया पर भी काफ़ी बहस हुई है। कुछ प्रेक्षकों का विचार है कि शासन व्यवस्था चाहे किसी भी क्रिस्म की हो, वह अपने नागरिकों की जानकारियों, आस्थाओं और निष्ठाओं के साथ खेलते हुए अपने पक्ष में वैधता गढ़ने की कोशिश करती ही है। ये प्रेक्षक वैधता को विचारधारात्मक वर्चस्व के आईने में देखते हैं। मुसोलिनी ने इटली में, हिटलर ने जर्मनी में, कम्युनिस्टों ने रूस, चीन और पूर्वी युरोप में लोकप्रिय सहमति के गर्भ से वैधता प्राप्त करने का रास्ता चुना। बड़े-बड़े जनमत-संग्रहनुमा चुनावों, रैलियों, मार्चों, प्रदर्शनों आदि के माध्यम से इस सहमति का मुजाहिरा किया गया। एक पार्टी और एक उम्मीदवार के आधार पर चुनाव भी आयोजित किये गये। लेकिन, वैधता प्राप्त करने के ये तरीके बहु-पार्टी प्रणाली के तहत होने वाले लोकतांत्रिक चुनावों जैसी वैधता प्राप्त नहीं कर पाये।

वैधता का आधार संवैधानिक होना जरूरी है, पर हर तरह के संविधान के भीतर से वैधता नहीं निकलती। मसलन, सोवियत संघ ने 1918, 1924, 1936 और 1977 में चार बार संविधानों को पारित किया। पर उसकी शासन प्रणाली केवल एक सीमित वैधता ही हासिल कर पायी। संविधान बनाने की चार कवायदों में एक बार भी व्यक्तिगत अधिकारों को जगह नहीं दी गयी। न ही कम्युनिस्ट पार्टी की सत्ता पर इजारेदारी को चुनौती देने वाले किसी प्रावधान पर विचार किया गया। महज़ संविधान वैधता की गारंटी नहीं कर सकता, क्योंकि कुछ संविधान अपने आप में ही वैधता के संकट के शिकार होते हैं। इसीलिए बीथम का दावा है कि केवल वही संविधान वैधता प्रदान कर सकता है जो समाज में व्यापक रूप से स्वीकृत मूल्यों और आस्थाओं की नुमाइंदगी करता हो। शासित जनता मानती हो कि उस संविधान के नियम और प्रावधान समुचित और स्वीकारोग्य हैं।

देखें : अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफ़लातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, उपयोगितावाद, एडमण्ड बर्क, क्रांति, ज्यॉ ज़ाक रूसो, जॉन लॉक, जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, न्याय, न्याय : नारीवादी आलोचना, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, राजनीति में व्यक्ति की भूमिका, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, प्रतिनिधित्व, प्रगति, प्रगति : आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य, प्रशासन, फ़्रांसीवाद, फ़्रेड्रिख वॉन हायक, बहुसंस्कृतिवाद, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, बुद्धिवाद, माइकेल जोसेफ़ ओकशाट, माइकिल वाल्ज़र, मिशेल पॉल फ़ूको-1 और 2, यूटोपिया, राजनीतिक और राजनीति, राजनीतिक दर्शन के

नारीवादी आयाम-1 और 2, राजनीतिक मनोविज्ञान, राजनीतिक समाजशास्त्र, राज्य-1 और 2, रॉबर्ट नॉज़िक, राज्य-1 और 2, राष्ट्र-राज्य, राष्ट्र : सांस्कृतिक या राजनीतिक, राष्ट्रवाद, राष्ट्रवाद का इतिहास, लोकतंत्र, लोकतंत्र की आलोचनाएँ, व्यक्तिवाद, व्यवहारवाद, विल किमलिका, वितरणमूलक न्याय, विदेशी-द्वेष, वैधता का संकट, सविनय अवज्ञा, स्वतंत्रतावाद, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकारीयत, सामाजिक समझौता, हेनरी डेविड थोरो।

संदर्भ

1. डेविड हेल्ड (1989), 'पॉवर एंड लेजिटिमेसी', संकलित : *पॉलिटिकल थियरी एंड द मॉडर्न स्टेट : एसेज ऑन स्टेट, पॉवर एंड डेमोक्रेसी*, स्टेनफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, स्टेनफ़र्ड.
2. डेविड बीथम (1988), *द लेजिटिमेशन ऑफ़ पॉवर*, पॉलिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
3. निवेदिता मेनन (2008), 'पॉवर', राजीव भार्गव और अशोक आचार्य (सम्पा.), *पॉलिटिकल थियरी : ऐन इंट्रोडक्शन*, पियर्सन लॉंगमेन, नयी दिल्ली.
4. कार्ल श्मिड्ट (2004), *लीगैलिटी एंड लेजिटिमेसी*, अनु. और सम्पा. जेफ़री सीट्ज़र, ड्यूक युनिवर्सिटी प्रेस, डरहम.

— अभय कुमार दुबे

वैधता का संकट

(Crisis of Legitimacy)

राजनीतिक व्यवस्थाएँ एक तरफ़ अपने लिए वैधता गढ़ने का उपक्रम चलाती रहती हैं, और दूसरी तरफ़ उनमें 'वैधता का संकट' पनपता रहता है। ऐसी कोई सरकार नहीं है जो कभी न कभी वैधता के संकट से न गुज़रती हो और ऐसी भी कोई सरकार नहीं होती जो इस दौर से केवल दाब-धौंस और दमन के ज़रिये निकल गयी हो। समाज-विज्ञान ने न केवल किसी व्यवस्था के वैधीकरण की प्रक्रिया पर ध्यान दिया है, बल्कि उन परिस्थितियों का अध्ययन भी किया है जिनके कारण उनकी वैधता पर सवालिया निशान लगता है। युरगन हैबरमास ने अपनी रचना *लेजिटिमेशन क्राइसिस* (1975) में तर्क दिया है कि उदारतावादी लोकतंत्रों में 'संकट की प्रवृत्तियाँ' होती हैं जिनके कारण उन व्यवस्थाओं की स्थिरता संकट में फँसती रहती है। इस संकट के मर्म में निजी उद्यम अथवा पूँजीवादी अर्थव्यवस्था और लोकतांत्रिक राजनीतिक प्रणाली के बीच का तनाव होता है। हैबरमास की इस दलील से यह नतीजा भी निकाला जा सकता है कि पूँजीवादी लोकतंत्र में अस्थिरता अंतरनिहित होती है। हैबरमास कहते हैं कि एक पक्ष अपनी वैधता पर ज़ोर देता है और दूसरा उसे तुकारने में लगा रहता है। इस तरह से वैधता का संकट राजनीतिक व्यवस्था की

स्थायी समस्या में बदल जाता है।

हैबरमास ने यहाँ मैक्स वेबर द्वारा प्रतिपादित राजनीतिक वैधता की अवधारणा का विकास करने की कोशिश की है, पर वैचारिक रूप से हैबरमास नव-मार्क्सवादी खेमे के विद्वान माने जाते हैं, इसलिए पूँजीवाद को आलोचनात्मक दृष्टि से देखना उनके लिए स्वाभाविक है। लेकिन जिन देशों के पूँजीवाद को पूरी तरह से विकसित नहीं माना जाता, वहाँ लोकतंत्र की वैधता के संकट का दारोमदार इस तनाव पर डालना उचित नहीं होगा। यद्यपि ऐसे समाजों में राजनीतिक व्यवस्था के संकटग्रस्त होने की परिस्थितियों का बहुत व्यवस्थित अध्ययन नहीं हुआ है, लेकिन भारत में राजनीतिक संकट का अध्ययन करते हुए धीरूभाई शेट ने उसे समाज और चुनावी लोकतंत्र पर आधारित राज्य-व्यवस्था के अंतर्विरोध का परिणाम करार दिया है।

दरअसल, व्यवस्था संकट में तब फँसती है जब लोकतांत्रिक प्रक्रिया के कारण सरकार पर जनता का दबाव बढ़ता है। एक तरफ़ राजनीतिक पार्टियाँ सत्ता के लिए होड़ करती हुई इस परिस्थिति का फ़ायदा उठाती हैं, और दूसरी तरफ़ विभिन्न दबाव-गुट सत्तारूढ़ ताकतों के सामने माँग पर माँग रखते चले जाते हैं। इन्हें पूरा करने के चक्कर में सरकार का खर्चा बढ़ता है और साथ में उसकी ज़िम्मेदारियाँ भी बढ़ जाती हैं जिससे पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के दूरगामी स्वास्थ्य और टिकाऊपन पर ख़राब असर पड़ता है। एंथनी किंग ने इस परिघटना को सरकार के संदर्भ में 'ओवरलोड' की संज्ञा दी है। राजकोषीय घाटा, करों की ऊँची दरें, बढ़ती हुई मुद्रास्फीति जैसे परिणाम इसी ओवरलोड की अभिव्यक्ति माने जाते हैं। सत्तर के दशक की परिस्थितियों में हैबरमास को लगा था कि इस ओवरलोड की प्रतिक्रिया में उदारतावादी लोकतांत्रिक व्यवस्थाएँ या तो जनता की माँगों की उपेक्षा करते हुए उसे जोर-ज़बरदस्ती काबू में करने की कोशिश करेंगी, या फिर माँगें पूरी करने के चक्कर में पूँजीवादी अर्थतंत्र की शर्तों का उल्लंघन होगा। अर्थात् हर हालत में उन्हें अपनी वैधता क़ायम रखने में दिक्कत आएगी।

लेकिन सत्तर के दशक के बाद की परिस्थितियों में हैबरमास की यह भविष्यवाणी सटीक नहीं निकली। अस्सी और नब्बे के दशक में देखा गया कि चुनाव-तंत्र आधारित उदारतावादी लोकतंत्रों ने उन्हें बढ़-चढ़ कर की जाने वाली माँगों के साथ समायोजन करने का अवसर दिया। जिसका फ़ायदा उठा कर व्यवस्था किसी न किसी तरह ऊँचे स्तर की वैधता क़ायम रख सकी। उसकी नीतियों की आलोचना तो हुई और यदा-कदा जन-असंतोष भी पैदा हुआ, पर अंतिम विश्लेषण में वैधता का उल्लेखनीय क्षय नहीं हुआ। राज्य द्वारा हस्तक्षेपकारी नीतियाँ अपनाने वाली लोकतांत्रिक

सरकारों ने लचीलेपन का परिचय देते हुए बाज़ारवाद अपना लिया, और ज़रूरत पड़ने पर फिर से हस्तक्षेपकारी नीतियों पर आंशिक वापसी कर ली। कई हुकूमतों ने बाज़ार और राज्य के हस्तक्षेप का समयानुकूल मिश्रण भी अपनाया गया। इन व्यवस्थाओं में कभी तो सत्ता वामोन्मुखी रुझान अपनाते हुए दिखी, तो कभी दक्षिणोन्मुखी रुझान।

अमेरिका में रोनाल्ड रेगन और ब्रिटेन में मार्गरेट थैचर की नीतियों को सत्तर के दशक में पैदा हुए वैधता के संकट की अनुक्रिया में अपनाये गये नव-दक्षिणपंथी रुझान के तौर पर देखा जा सकता है। इसकी कामयाबी से एकबारगी लगा कि दक्षिणपंथ अपना वर्चस्व लम्बे अरसे तक क़ायम रखने में कामयाब होगा। लेकिन, इन देशों का राजनीतिक यथार्थ इतना इकहरा साबित नहीं हुआ। अमेरिका में डेमोक्रेटिक राजनीति ने क्लिंटन के नेतृत्व में इन रेगन की नीतियों में संशोधन किया, और ब्रिटेन में यही काम लेबर पार्टी के नये संस्करण ने सत्तारूढ़ होने के बाद कर दिखाया।

वैधता के संकट और उससे निबटने की राजनीति के इस परिदृश्य की रोशनी में अगर विकासशील देशों और कम्युनिस्ट देशों की समस्याओं को देखा जाए तो एक अलग ही नज़ारा सामने आता है। लोकतांत्रिक शासन प्रणाली के नतीजे के तौर पर उभरने वाली माँगों और जन-आकांक्षाओं की पूर्ति करने में कई विकासशील देशों की सरकारें विफल रही हैं। उनकी अर्थव्यवस्थाएँ लाइलाज अल्पविकास, नक़दी फ़सलों पर हद से ज़्यादा निर्भरता और पश्चिमी वित्तीय संस्थाओं के भारी क़र्ज जैसी संरचनागत समस्याओं की शिकार होने के कारण वैधता के संकट का मुक़ाबला करने लायक गुंजाइशें मुहैया नहीं करा पायीं।

1989 से 1991 के बीच पूर्वी युरोप और सोवियत संघ में कम्युनिस्ट शासनों का बिखराव वैधीकरण की समस्याओं के अध्येताओं के लिए एक नमूना बन चुका है। राजनीतिक रूप से एक पार्टी के शासन और आर्थिक रूप से केंद्रीय नियोजन पर आधारित अर्थ-व्यवस्था ने तो वैधता के संकट में योगदान किया ही, इन प्रणालियों की सामाजिक सफलताएँ भी दूरगामी तौर पर उनके ख़िलाफ़ चली गयीं। कम्युनिस्टों द्वारा चलाया गया उद्योगीकरण और जन-शिक्षा का प्रोजेक्ट निर्विवाद रूप से कामयाब रहा, पर इसी कामयाबी के गर्भ से नागरिकों द्वारा की गयी नागरिक अधिकारों और उपभोक्ता वस्तुओं की माँगों ने जन्म लिया। इन तमाम तत्त्वों ने मिल कर कम्युनिस्ट हुकूमतों की वैधता का क्षय कर दिया।

भारत में वैधता का संकट : समाज वैज्ञानिकों ने आज्ञादी मिलने से लेकर साठ के दशक के पूर्वार्ध की अवधि को भारतीय राजनीतिक व्यवस्था का संकटहीन दौर करार दिया है। यह कांग्रेस 'प्रणाली' के बोलबाले का ज़माना था। धीरूभाई शेट के अनुसार कांग्रेस 'प्रणाली' जनता के बीच

राजनीतीकरण के अपेक्षाकृत निचले स्तर के कारण यह उपलब्धि कर पायी। कांग्रेस 'प्रणाली' ने विकास का एक ऐसा नौकरशाह ढाँचा खड़ा किया जो न समाजवादी था और न ही पूँजीवादी। वह दुर्घटनावश पूँजीवादी रुझान अपना लेता था, और समाजवाद के नाम पर अक्सर धोखाधड़ी करके काम चलाता था। दूसरे कांग्रेस 'प्रणाली' के पास कोई दीर्घकालीन परिप्रेक्ष्य भी नहीं था इसलिए उसने इस संकटहीन अवधि का सदुपयोग आर्थिक इजारेदारी को खत्म करने, भूमि सुधारों को अंजाम देने, दलों, शासन और निर्णयकारी संस्थाओं के प्रगतिशील लोकतंत्रीकरण को प्रोत्साहित करने का काम नहीं किया।

1964 में नेहरू और फिर थोड़े ही दिन बाद लाल बहादुर शास्त्री के अवसान से कांग्रेस के भीतर नेतृत्व के लिए जद्दोजहद चालू हो गयी। कांग्रेस की भीतरी सांगठनिक अस्थिरता के साथ-साथ उधर सामाजिक विकास की प्रक्रिया ने तत्कालीन विभेदीकरण का संरचनात्मक स्वरूप पहले जैसा नहीं रहने दिया। राजनीतिक और सामाजिक जागरूकता में बदलाव आया। लोगों ने सरकारी नीतियों की विफलता के लिए सत्तारूढ़ ताकतों और नेताओं को ज़िम्मेदार ठहराना शुरू किया। सत्तर के दशक की शुरुआत में कांग्रेसी नेतृत्व ने इस परिवर्तन के महत्त्व को समझे बिना राजनीतिक जोड़-तोड़ या क्रान्त-व्यवस्था के मसलों की रोशनी में देखा। वह उचित राजनीतिक और आर्थिक अनुक्रिया नहीं कर सका जिसके कारण व्यवस्था एक प्रणालीगत संकट में फँस गयी। नतीजे के तौर पर 1975 में आंतरिक आपातकाल थोपना पड़ा और संवैधानिक निरंकुशता का आसरा लेकर सत्ता को टिकाया जा सका। इसके बाद के घटना-क्रम ने दिखाया कि राजनीतिक संस्थाओं में जनता का विश्वास किस तरह घटता जा रहा है।

यह राजनीतिक प्राधिकार की वैधता का संकट था जिसकी अभिव्यक्ति भारी बहुमत से चुनी गयी सरकारों के बार-बार अलोकप्रिय होने में हुई। क्षेत्रीय दलों के उभार ने राष्ट्रीय दलों की जनाधार कमजोर कर दिया। चुनावों की बारंबारता बढ़ती चली गयी। नब्बे का दशक आते-आते किसी एक पार्टी को बहुमत मिलने की सम्भावनाएँ भी दरकिनार हो गयीं। मजबूरन सरकार बनाने के लिए गठजोड़ राजनीति का सिलसिला चला।

यह भारतीय राज्य व्यवस्था की खुशक्रिस्मती थी कि राजनीतिक प्राधिकार की वैधता के संकट से पैदा हुई राजनीतिक अस्थिरता का दौर दस साल से ज्यादा नहीं चला। गठजोड़ राजनीति ने राष्ट्रीय और क्षेत्रीय ताकतों के मिले-जुले दो या तीन बड़े गठजोड़ों की होड़ को जन्म दिया। इससे दलीय प्रणाली को एक नया संस्कार मिलने की सम्भावना पैदा हुई।

फिलहाल, यह कहना मुश्किल है कि भारतीय

लोकतंत्र प्रणालीगत संकट से पूरी तरह से निकल गया है। गठजोड़ों के बनने और बिगड़ने की प्रक्रिया अभी तक किसी तरह के राजनीतिक मानकों के अधीन नहीं हो पायी है। अल्पकालीन लाभों और अवसरवादी आग्रहों के मुताबिक होने वाली राजनीति लोकतंत्र को परिपक्वता की तरफ जाने से रोकती है।

देखें : अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफलातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, उपयोगितावाद, एडमण्ड बर्क, क्रांति, ज्यों जाक रूसो, जॉन लॉक, जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, धीरूभाई शेट, न्याय, न्याय : नारीवादी आलोचना, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, राजनीति में व्यक्ति की भूमिका, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, प्रतिनिधित्व, प्रगति, प्रगति : आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य, प्रशासन, फ्रासीवाद, फ्रेड्रिख वॉन हायक, बहुसंस्कृतिवाद, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, बुद्धिवाद, माइकेल जोसेफ ओकशॉट, माइकिल वाल्ज़र, मिशेल पॉल फूको-1 और 2, यूटोपिया, राजनीतिक और राजनीति, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम-1 और 2, राजनीतिक मनोविज्ञान, राजनीतिक समाजशास्त्र, राज्य-1 और 2, रॉबर्ट नॉज़िक, राज्य-1 और 2, राष्ट्र-राज्य, राष्ट्र : सांस्कृतिक या राजनीतिक, राष्ट्रवाद, राष्ट्रवाद का इतिहास, लोकतंत्र, लोकतंत्र की आलोचनाएँ, व्यक्तिवाद, व्यवहारवाद, विल किमलिका, वितरणमूलक न्याय, विदेशी-द्वेष, वैधता, सविनय अवज्ञा, स्वतंत्रतावाद, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकारियत, सामाजिक समझौता, हेनरी डेविड थोरो।

संदर्भ

1. युरगन हैबरमास (1979), 'लेजिटिमेशन प्रॉब्लम्स इन मॉडर्न स्टेट', संकलित : *कम्युनिकेशन एंड द इवोल्यूशन ऑफ सोसाइटी*, हइनमान, लंदन.
2. धीरूभाई शेट (1991), 'क्राइसिस ऑफ रिप्रजेंटेशन', *सेमिनार*, अंक 385, सितंबर.
3. धीरूभाई शेट (2003), 'राजनीतिक प्राधिकार की वैधता का क्षय', संकलित : अभय कुमार दुबे (सम्पा.), *लोकतंत्र के सात अध्याय*, सीएसडीएस-वाणी, नयी दिल्ली.

— अभय कुमार दुबे

वैश्विक न्याय (Global Justice)

अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर लागू किये जा सकने वाले वैश्विक न्याय की संकल्पना जॉन रॉल्स की रचना 1999 में प्रकाशित *द लॉ ऑफ पीपुल्स* से निकली है। उन्होंने अपनी प्रसिद्ध रचना *अथियरी ऑफ जस्टिस* में एक बेहतर उदारतावादी समाज के संचालन के संदर्भ में भेदमूलक सिद्धांत के जरिये रेखांकित किया था कि आर्थिक और सामाजिक असमानताओं को कुछ इस तरह समायोजित किया जाना चाहिए कि हीनतम स्थिति वाले व्यक्ति को सबसे ज्यादा फायदा हो। यहाँ रॉल्स का इरादा न्याय संबंधी इस युक्ति को राष्ट्र की सीमाओं में लागू करने का है। पर चार्ल्स बिज और फिर थॉमस पोगे का आग्रह था कि रॉल्स द्वारा प्रस्तुत इन सिद्धांतों को अंतर्राष्ट्रीय पैमाने लागू किया जाना चाहिए। उनकी दलील थी कि जिन कारणों से रॉल्स इन्हें एक राष्ट्र-राज्य के भीतर लागू करना चाहते हैं, वे वैश्विक स्तर पर भी मौजूद हैं। इन लोगों को उस वक्त निराशा हुई जब रॉल्स ने स्पष्ट किया कि उनके द्वारा दिया गया सिद्धांत वैश्विक न्याय से संबंधित नहीं है। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर न्याय की अपनी संकल्पना व्यक्त करने के लिए रॉल्स ने *द लॉ ऑफ पीपुल्स* (1999) की रचना करके उन कानूनों को स्पष्ट किया जिनके बारे में उनका मत है कि उनसे 'सुव्यवस्थित लोग' सहमत होंगे। रॉल्स ने सुव्यवस्थित लोगों की श्रेणी में उदारतावादी लोगों (पीपुल्स) और 'शालीन गैर-उदारतावादी लोगों' को शामिल किया है।

रॉल्स ने *द लॉ ऑफ पीपुल* में यथार्थवादी यूटोपिया अपनाया है। रॉल्स के अनुसार यह यथार्थवादी इसलिए है कि इसमें कई वास्तविक स्थितियों पर ध्यान दिया गया है। मसलन, वास्तविक दुनिया में विविधता बहुत ज्यादा है, और दुनिया के सभी लोग न उदारतावादी मूल्यों को अपनाते हैं और न ही उनसे इन मूल्यों को अपनाने की उम्मीद भी की जा सकती है। अपने सिद्धांत का निर्माण कई स्तरों पर करते हुए सबसे पहले केवल उन लोगों पर ध्यान दिया है जो उदारतावादी हैं। उसके लिए उन्होंने दो मूल स्थितियों का प्रयोग किया है जिनमें पहली संवैधानिक लोकतांत्रिक शासन की उदारतावादी संकल्पना के लिए सामाजिक समझौते से संबंधित है। दूसरी मूल स्थिति उदारतावादी लोगों के प्रतिनिधियों के लिए है। पहली मूल स्थिति में लोग इस बात पर फ़ैसला करते हैं कि समाज की बुनियादी संरचना नियंत्रित करने की निष्पक्ष शर्तें क्या होंगी। उदारतावादी समाज के संचालक सिद्धांतों को सुनिश्चित करने के बाद रॉल्स अंतर्राष्ट्रीय स्तर की तरफ मुड़ते हुए तय करते हैं कि उदारतावादी लोग किस तरह की विदेश नीति का चुनाव

करेंगे। रॉल्स के मुताबिक इस मुकाम पर उदारतावादी लोगों के प्रतिनिधियों की आँखों पर एक विशिष्ट 'अज्ञान का पर्दा' पड़ा होता है। मसलन उन्हें यह जानकारी नहीं है कि वे किस भौगोलिक क्षेत्र से हैं और उसकी शक्तियाँ क्या हैं, आदि। रॉल्स स्पष्ट करते हैं कि उदारतावादी लोग आठ सिद्धांतों और तीन संस्थाओं का चुनाव करते हैं। इस मूल स्थिति में ग्रहण किये गये आठ सिद्धांतों में लोगों के समान होने, उनकी स्वतंत्रता का सम्मान करने, उनके द्वारा समझौतों और किये गये वायदों का पालन करने, अ-हस्तक्षेप की नीति पर चलने और आत्मरक्षा पर ध्यान देने की बात की गयी है। साथ ही स्पष्ट किया गया है कि इन उसूलों के मुताबिक आत्मरक्षा के अलावा किसी भी अन्य कारण से युद्ध का सहारा नहीं ले सकते हैं। इसके अलावा इन आठ सिद्धांतों में इस बात पर जोर दिया गया है कि लोग मानवाधिकारों का समर्थन करेंगे, युद्ध के समय भी कुछ आचरण संबंधी पारबंदियों का पालन करेंगे, और उनका कर्तव्य होगा कि वे ऐसे लोगों की मदद करें जो प्रतिकूल स्थितियों के कारण न्यायपूर्ण या मर्यादित या शालीन राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था हासिल नहीं कर पा रहे हैं। रॉल्स के अनुसार उदारतावादी लोगों द्वारा चुनी गयी तीन संस्थाओं में से एक संस्था लोगों के बीच न्यायपूर्ण व्यापार सुनिश्चित करेगी, दूसरी लोगों को कोऑपरेटिव बैंकिंग संस्था से उधार लेने में समर्थ बनायेगी और तीसरी संस्था वही भूमिका निभायेगी जो संयुक्त-राष्ट्र द्वारा निभायी जाती है। रॉल्स के मुताबिक यह स्थिति काफ़ेडेरेशंस ऑफ़ पीपुल (राज्य नहीं बल्कि लोगों का परिसंघ) की है।

उदारतावादियों के बाद रॉल्स का ध्यान उन लोगों पर जाता है कि किस तरह शालीन या मर्यादित ऊँच-नीच वाले लोग भी इस तरह के सिद्धांतों और संगठनों का चुनाव करेंगे। रॉल्स के अनुसार इस तरह के शालीन लोगों की श्रेणी में आने के लिए चार कसौटियों पर ख़रा उतरना आवश्यक है। ये चार कसौटियाँ हैं। पहली, समाज को आक्रामक नहीं होना चाहिए। उसे अपना काम इस तरह से करना चाहिए जो दूसरे समाजों के लिए शांतिपूर्ण और सम्मानजनक हो। दूसरी, इसकी कानूनी व्यवस्था और न्याय के विचार को समाज के सभी सदस्यों के बुनियादी अधिकारों की सुरक्षा करनी चाहिए। इसे कम-से-कम हर किसी के जीवन के अधिकार यानी जीविका और सुरक्षा के अधिकार, स्वतंत्रता का अधिकार अर्थात् दासता से मुक्ति, व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार और औपचारिक समानता के अधिकार को मान्यता देनी चाहिए। रॉल्स मानते हैं कि उदारतावादियों और गैर-उदारतावादियों की तरफ़ से इस तरह के अधिकारों के अधिकारों को मान्यता मिलना चाहिए। तीसरी, शालीन लोगों को ऐसी व्यवस्था अपनानी चाहिए जिसमें कानूनी व्यवस्था का प्रशासन करने वाले लोगों को यह विश्वास हो कि कानून में सामान्य शुभ शामिल है। चौथी,

शालीन लोगों के पास विचार-विमर्श की एक मर्यादित पदसोपानीय प्रक्रिया होनी चाहिए जिसमें समाज के सभी सदस्यों के अहम हितों को स्थान मिल सके।

रॉल्स शालीन पदसोपानीय व्यक्तियों के उदाहरण के रूप में एक काल्पनिक स्थान कैज़ानिस्तान की कल्पना करते हैं। उनके अनुसार कैज़ानिस्तान को सुव्यवस्थित लोगों के एक समाज के रूप में देखा जा सकता है। उनका आग्रह है कि उदारतावादी समाज अपनी विदेश नीति में कैज़ानिस्तान जैसे राज्यों को सहन करने की क्षमता विकसित करें। रॉल्स के मुताबिक यथार्थवादी रूप से ज्यादा-से-ज्यादा कैज़ानिस्तान जैसी किसी व्यवस्था की ही उम्मीद की जा सकती है। वे इस बात पर भी जोर देते हैं कि उदारतावादियों द्वारा शालीन गैर-उदारतावादियों को प्रोत्साहित करते हुए इस बात पर जोर नहीं देना चाहिए कि हर समाज उदारतावादी ही हो। ऐसे आग्रह से इन शालीन लोगों की जीवंतता खत्म हो सकती है। रॉल्स मानते हैं कि लोग उदारतावादी हों या गैर-उदारतावादी, उनके बीच पारस्परिक सम्मान का क्रायम रहना सबसे जरूरी है।

गरीब देशों को मदद करने के संदर्भ में भी सार्वदेशिकता के समर्थकों और रॉल्स के विचारों में अंतर है। रॉल्स मानते हैं कि कुछ समाजों में सुव्यवस्थित बनने के लिए आवश्यक राजनीतिक और सांस्कृतिक परम्पराओं, मानवीय पूँजी, ज्ञान, भौतिक तथा तकनीकी संसाधनों का अभाव होता है। सुव्यवस्थित लोगों का कर्तव्य है कि वे ऐसे समाजों को सुव्यवस्थित लोगों जैसा बनने में मदद करें। अर्थात् यहाँ न्यायपूर्ण (या शालीन) संस्थाओं की स्थापना करना ही उनका प्रमुख काम है। अतीत के बोझ से दबे या पिछड़े समाजों की मदद करने का यही लक्ष्य है। रॉल्स के अनुसार एक बार यह लक्ष्य हासिल हो जाने पर आगे किसी मदद की जरूरत नहीं रहती, भले ही यह समाज तुलनात्मक रूप से गरीब बनारहे। रॉल्स के अनुसार किन्हीं खास समाजों की सम्पन्नता में उस समाज की राजनीतिक संस्कृति की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। सम्पत्ति जमा संसाधनों से नहीं बल्कि किसी खास समाज की राजनीतिक संस्कृति से उत्पन्न होती है। इसमें उस समाज की राजनीतिक और सामाजिक संस्थाओं की बुनियादी संरचना को पुष्ट करने वाली धार्मिक, दार्शनिक और नैतिक परम्पराएँ भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। इसके अलावा अध्यवसाय और सहयोग की प्रवृत्ति की भी बड़ी भूमिका होती है। दरअसल ये सभी पहलू मिल कर किसी समाज की सम्पन्नता बढ़ाते हैं।

रॉल्स इन्हीं कारणों के आधार पर *अ थियरी ऑफ़ जस्टिस* में पेश किये गये न्याय के सिद्धांत को राज्यों के बीच अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर लागू करने का विरोध करते हैं। रॉल्स की स्पष्ट मान्यता है कि एक बार लोगों को आत्म-निर्धारण में और 'तार्किक रूप से' अपने मामलों के बारे में समर्थ बना देने के बाद मदद करने का कर्तव्य खत्म हो जाता है।

कई आलोचकों का विचार है कि रॉल्स 'पीपुल' (या लोगों) से संबंधित विचार पर्याप्त रूप से स्पष्ट नहीं हैं। रॉल्स का यह मानना ग़लत है कि राज्य एक-दूसरे से इतने स्वतंत्र होते हैं कि उन्हें अपने नागरिक की स्थिति के लिए पूरी तरह ज़िम्मेदार ठहराया जा सकता है। दरअसल, एक भेदभाव-आधारित अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक अर्थव्यवस्था की मौजूदगी भी खास राज्यों की गरीबी और कुछ सम्पन्नता के लिए ज़िम्मेदार होती है। थॉमस पोगे ने स्पष्ट किया है कि दो अंतर्राष्ट्रीय अधिकार खासतौर पर भूमिका निभाते हैं : पहला अंतर्राष्ट्रीय उधार विशेषाधिकार और अंतर्राष्ट्रीय संसाधन विशेषाधिकार। कोई सरकार अपने राज्य में अपनी शक्तियों का किस तरह प्रयोग कर रही है, इसकी चिंता अंतर्राष्ट्रीय समुदाय नहीं करता। उसे इस बात से भी बहुत ज्यादा फ़र्क नहीं पड़ता है कि यह समूह सत्ता में कैसे आया या यह अपनी सत्ता का इस्तेमाल कैसे कर रहा है। दमनकारी सरकारें अपने देश की ओर से उधार ले सकती हैं— यह उनका अंतर्राष्ट्रीय संसाधन विशेषाधिकार होता है, या वे अपने देश के प्राकृतिक संसाधनों को बेच सकती हैं— यह इनका अंतर्राष्ट्रीय संसाधन विशेषाधिकार होता है। पोगे के अनुसार चूँकि इससे अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अमीर देशों को फ़ायदा होता है, इसलिए वे भी इस स्थिति को स्वीकार कर लेते हैं। इसलिए हमें आर्थिक पहलुओं पर भी ध्यान देना चाहिए। पोगे इस बात पर जोर देते हैं कि सम्पन्न विकसित समाजों में रहने वाले लोगों की यह ज़िम्मेदारी बनती है कि वे अन्यायपूर्ण वैश्विक व्यवस्था को खत्म करें और गरीब लोगों को इससे होने वाले नुकसानों से बचाएँ। पोगे यह सुझाव देते हैं कि लगभग एक प्रतिशत का वैश्विक संसाधन टैक्स लगाना चाहिए जिसका इस्तेमाल विकासशील समाजों के सबसे गरीब लोगों की भलाई के लिए हो। विकसित समाज के लोगों का यह दायित्व है कि गरीब समाज के लोगों की मदद करें।

रॉल्स ने आर्थिक रूप से दुनिया के गरीबों की मदद करने के किसी स्पष्ट दायित्व को रेखांकित नहीं किया है, जबकि थॉमस पोगे ने रॉल्स से आगे जाते हुए इस पर जोर दिया कि अमीर लोगों का दायित्व है कि वे गरीब लोगों की मदद करें। लेकिन पोगे ने जिस रूप में वैश्विक न्याय की कल्पना की उसकी मुख्य सीमा यह है कि यह सिर्फ़ सम्पन्न देशों के लोगों की नैतिक एजेंसी का ही आह्वान करती है। लेकिन गरीब लोगों की एजेंसी पर कोई ध्यान नहीं दिया है। अर्थात् इस सिद्धांत में इस बात की पूरी तरह से उपेक्षा की जाती है कि गरीब लोग वैश्विक अन्याय या न्याय को किस रूप में देखते हैं। कुल मिला कर रॉल्स, बिज या पोगे के बीच का सिद्धांतीकरण अमीर देशों के लोगों के बीच में चलने वाला विमर्श लगता है।

देखें : अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफ़लातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद,

उपयोगितावाद, एडमण्ड बर्क, क्रांति, ज्याँ जाक रूसो, जॉन लॉक, जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, न्याय, न्याय : नारीवादी आलोचना, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, राजनीति में व्यक्ति की भूमिका, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, प्रतिनिधित्व, प्रगति, प्रगति : आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य, प्रशासन, फ्रांसीवाद, फ्रेड्रिख वॉन हायक, बहुसंस्कृतिवाद, बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, बुद्धिवाद, भीखू छोटालाल पारिख, माइकेल जोसेफ ओकशॉट, माइकिल वाल्जर, मिशेल पॉल फूको-1 और 2, यूटोपिया, राजनीतिक और राजनीति, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम-1 और 2, राजनीतिक मनोविज्ञान, राजनीतिक समाजशास्त्र, राज्य-1 और 2, रॉबर्ट नॉजिक, राज्य-1 और 2, राष्ट्र-राज्य, राष्ट्र : सांस्कृतिक या राजनीतिक, राष्ट्रवाद, राष्ट्रवाद का इतिहास, लोकतंत्र, लोकतंत्र की आलोचनाएँ, व्यक्तिवाद, व्यवहारवाद, विल किमलिका, विदेशी-द्वेष, वैधता, वैधता का संकट, सविनय अवज्ञा, समानता, समानता : चार अवधारणाएँ, समतावाद, सर्वसत्तावाद, स्मृति की राजनीति, स्वतंत्रता, स्वतंत्रतावाद, स्वजातिवाद, स्वच्छंदतावाद, सत्ता, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकारीयत, सम्पत्ति, सम्पत्ति : साझा और सरकारी, सम्पत्ति : मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य।

संदर्भ

1. थॉमस पोगे (2002), *वर्ल्ड पावर्टी ऐंड ह्यूमन राइट्स*, पॉलिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
2. जॉन रॉल्स (1999), *द लॉ ऑफ पीपुल्स*, हार्वर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज, मेसाचुसेट्स.
3. जॉन रॉल्स (1971), *अ थियरी ऑफ जस्टिस*, द बेलनैप प्रेस, हार्वर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

— कमल नयन चौबे

वैश्विक प्रणाली

(World-System Theory)

दुनिया राष्ट्र-राज्यों में बँटी हुई है, पर उसे एक वैश्विक प्रणाली के रूप में देखने का आग्रह करने वाले विद्वान इस विभाजन को एकता के संदर्भ में समझने का प्रयास करते हैं। उनकी मान्यता है कि सामाजिक सीमाओं और सामाजिक निर्णय-प्रक्रिया का अध्ययन करने के लिए राष्ट्र-राज्यों को एक इकाई के रूप में ग्रहण करने के बजाय वैश्विक प्रणाली को विश्लेषण का आधार बनाया जाना चाहिए। इस बौद्धिक परियोजना के आधार पर किये गये सूत्रीकरण को 'वैश्विक प्रणाली-सिद्धांत' के रूप में जाना जाता है। इसका विकास पचास के दशक में प्रतिपादित निर्भरता-सिद्धांत की रैडिकल प्रस्थापनाओं और इतिहास-लेखन के फ्रांसीसी अनाल स्कूल से प्रभावित है। वर्ल्ड-सिस्टम थियरी के मुख्य जनक इमैनुएल वालस्टीन हैं। वालस्टीन और वैश्विक प्रणाली के

अन्य सिद्धांतकार मानते हैं कि विश्व की पूँजीवादी अर्थव्यवस्था चार बुनियादी अंतर्विरोधों से ग्रस्त है जिनके कारण उसका अंत अवश्यव्यभावी है, भले ही शीत-युद्ध के खात्मे और सोवियत संघ के पराभव के कारण फ़िलहाल सारी दुनिया में उसका बोलबाला हो गया हो। इनमें पहला अंतर्विरोध है आपूर्ति और माँग के बीच का लगातार जारी असंतुलन। यह असंतुलन तब तक जारी रहेगा जब तक उत्पादन संबंधी निर्णय फ़र्म के स्तर पर लिए जाते रहेंगे। दूसरा है उपभोग से पैदा हुए अधिशेष मूल्य के एक हिस्से को अपने मुनाफ़े के तौर पर देखने की पूँजीपतियों की प्रवृत्ति। अधिशेष को और बड़े पैमाने पर पैदा करने के लिए आगे चल कर मौजूदा अधिशेष का पुनर्वितरण करना होगा। तीसरा अंतर्विरोध राज्य की क्षमताओं से ताल्लुक रखता है कि आख़िर कब तक राज्य की संस्था पूँजीवाद की वैधता कायम रखने के लिए मजदूरों का समर्थन हासिल करने में कामयाब होती रहेगी। चौथा अंतर्विरोध एक वैश्विक प्रणाली और अनगिनत राज्यों के बीच है। इन दोनों के सह-अस्तित्व से प्रणाली का विस्तार तो हुआ है, पर साथ ही प्रणालीगत संकटों से निबटने के लिए ज़रूरी बेहतर आपसी सहयोग की सम्भावनाएँ भी कम हुई हैं।

विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के प्रति आलोचनात्मक रवैया रखने वाले ये विद्वान इस प्रणाली को एक ऐतिहासिक व्यवस्था के तौर पर देखते हैं जिसकी संरचनाएँ उसके भीतर मौजूद किसी भी राजनीतिक इकाई के मुकाबले भिन्न स्तर पर काम करती हैं। वालस्टीन ने समकालीन वैश्विक प्रणाली का उद्गम 1450 से 1670 के बीच माना है। इस अवधि को वे 'दि लॉग सिक्सटीथ सेंचुरी' की संज्ञा देते हैं। इससे पहले पश्चिमी युरोप सामंती दौर में था और आर्थिक उत्पादन तक्ररीबन पूरी तरह खेतिहर पैदावार पर निर्भर था। वालस्टीन के मुताबिक 1300 के बाद एक तरफ़ तो खेतिहर उत्पादन में तेज़ गिरावट हुई और दूसरी ओर युरोपीय जलवायु के कारण किसान आबादी के बीच पहले से कहीं ज्यादा महामारियाँ फैलने लगीं। सोलहवीं सदी में ही युरोप पूँजीवादी विश्व-अर्थव्यवस्था की स्थापना की तरफ़ बढ़ा। सामंतवाद के तहत उत्पादन उत्पादकों के अपने उपभोग के लिए होता था, पर नयी प्रणाली में उत्पादन का मक़सद बाज़ार में विनिमय हो गया। बाज़ार आधारित अर्थव्यवस्था के कारण उत्पादकों की आमदनी अपने उत्पादन के मूल्य से कम हो गयी और भौतिक वस्तुओं का अनंत संचय ही पूँजीवाद की चालक शक्ति बन गया।

नये युग में आर्थिक वृद्धि की प्रक्रिया बाज़ार के दायरे को भौगोलिक विस्तार की तरफ़ ले गयी, श्रम पर नियंत्रण के विभिन्न रूप विकसित हुए और युरोप में ताक़तवर राज्यों का उदय हुआ। जो नयी अर्थव्यवस्था बनी वह दो मायनों में पहले

से चली आ रही व्यवस्था से भिन्न थी। वह साम्राज्यों की सीमा से परे जाते हुए एक से अधिक राजनीतिक प्रभुत्व-केंद्रों के साथ बनी रह सकती थी, और उसका प्रमुख लक्षण था केंद्र और परिधि के बीच श्रम का एकमात्र अंतर्राष्ट्रीय विभाजन।

वैश्विक प्रणाली के सिद्धांतकार मानते हैं कि इस परिवर्तन से सर्वाधिक फायदा जिन देशों को हुआ, उन्हीं ने इसके केंद्र की रचना की। शुरू में उत्तर-पश्चिमी युरोप के फ्रांस, इंग्लैण्ड और हालैण्ड जैसे देशों ने यह भूमिका निभायी। इस क्षेत्र की विशेषता थी मजबूत केंद्र वाली सरकारें और उनके नियंत्रण में तैनात रहने वाली भाड़े पर काम करने वाली बड़ी-बड़ी फ़ौजें। केंद्रीय सत्ता से सम्पन्न इन सरकारों की मदद से पूँजीपति वर्ग को अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के सूत्र अपने हाथ में लेने का मौक़ा मिला और वह इससे आर्थिक अधिशेष खींचने लगा। शहरों में होने वाले कारख़ाना आधारित निर्माण में जैसे-जैसे बढ़ोतरी हुई, वैसे-वैसे बहुत बड़ी संख्या में भूमिहीन किसान शहरों की तरफ़ जाने लगे। दूसरी तरफ़ कृषि संबंधी प्रौद्योगिकी में हुए विकास के कारण खेती की पैदावार भी बढ़ती गयी। वैश्विक प्रणाली के केंद्र में जो क्षेत्र था, उसमें पूँजी का संकेद्रण होता चला गया। बैंकों, विभिन्न व्यवसायों, व्यापार और कारख़ाना आधारित कुशल उत्पादन के विस्तार ने मजदूरी आधारित श्रम पर आधारित अर्थव्यवस्था के जारी रहने की परिस्थितियाँ पैदा कीं।

दूसरी तरफ़ परिधि के क्षेत्र थे जिनके बारे में वैश्विक प्रणाली के सिद्धांतकारों की मान्यता थी कि उनमें स्थित राज्यों में मजबूत केंद्र वाली सरकारें नहीं थीं और वे मजदूरी आधारित श्रम पर निर्भर होने के बजाय बाध्यकारी श्रम के आधार पर अपना उत्पादन संयोजित करते थे। परिधि में स्थित ये क्षेत्र केंद्र स्थित राज्यों को कच्चा माल सप्लाई करके अपनी अर्थव्यवस्थाएँ चलाते थे। सोलहवीं सदी में परिधि के मुख्य क्षेत्र लातीनी अमेरिका और पूर्वी युरोप में माने गये। लातीनी अमेरिका में स्पेनी और पुर्तगीज़ शासन के कारण स्थानीय नेतृत्व नष्ट हो गया था और उनकी जगह कमज़ोर नौकरशाहियाँ युरोपीय नियंत्रण के तहत काम कर रही थीं। देशी आबादी पूरी तरह गुलामी के बंधन में थी। अफ़्रीका से गुलामों का आयात करके खेती और खनन का काम करवाया जाता था। स्थानीय कुलीनतंत्र विदेशी मालिकानों के साथ साठ-गाँठ किये हुए था। युरोपीय ताक़तों का मक़सद ऐसे माल का उत्पादन करना था जिसका उपभोग उनके गृह-राज्यों में हो सके।

वैश्विक प्रणाली के सिद्धांतकारों ने अर्ध-परिधि के तीसरे क्षेत्र की शिनाख़्त भी की जो केंद्र और परिधि के बीच बफ़र की भूमिका निभा रहा था। अर्ध-परिधि के क्षेत्र केंद्र वाले इलाक़ों में भी हो सकते थे, और उनका ताल्लुक़ अतीत की समृद्ध अर्थव्यवस्थाओं से भी हो सकता था। लेकिन सोलहवीं सदी के दौरान वे अपेक्षाकृत गिरावट के दौर से

गुज़र रहे थे। केंद्रस्थ राज्य उनका शोषण करते थे और उनके द्वारा बदले में परिधि वाले क्षेत्रों का दोहन किया जा रहा था।

वालस्टीन और उनके अनुयायी सोहलवीं से इक्कीसवीं सदी तक वैश्विक प्रणाली के विकास को दो चरणों में व्याख्यायित करते हैं : पहला चरण अट्टारहवीं सदी तक चला। इस दौरान युरोपियन राज्य और ताक़तवर हुए। एशिया और अमेरिका से हुए व्यापार के कारण मजदूरी पर काम करने वाले श्रमिकों की क्रीमत पर अमीर और प्रभावशाली व्यापारियों का एक छोटा सा हिस्सा मालामाल हो गया। राजशाहियों की ताक़त बढ़ी और सर्वसत्तावादी राज्य ने अपना झंडा गाड़ दिया। अल्पसंख्यकों के निष्कासन, ख़ासकर यहूदियों को जलावतन कर दिये जाने के बाद युरोप की आबादी समरूपीकरण की तरफ़ बढ़ी।

दूसरे चरण के तहत अट्टारहवीं सदी में उद्योगीकरण ने खेतिहर उत्पादन की जगह लेनी शुरू की। युरोपीय राज्य नये-नये बाज़ारों की खोज में लग गये। अगले दो सौ साल तक आधुनिक विश्व-प्रणाली में एशिया और अफ़्रीका जैसे नये-नये क्षेत्रों को शामिल करने की प्रक्रिया जारी रही। परिणाम स्वरूप आर्थिक अधिशेष बढ़ता गया। बीसवीं सदी के शुरुआती दशकों में इस वैश्विक प्रणाली का चरित्र वास्तव में भूमण्डलीय बना।

देखें : अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम, पेटेंट, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, भारत का भूमण्डलीकरण, भारत में पेटेंट क़ानून, भारत में बहुराष्ट्रीय निगम, भारत में शेर्य संस्कृति, भूमण्डलीकरण, भूमण्डलीकरण का इतिहास-1 और 2, भूमण्डलीकरण और बेरोज़गारी, भूमण्डलीकरण और गरीबी, भूमण्डलीकरण और पूँजी बाज़ार, भूमण्डलीकरण और लोकतंत्र, भूमण्डलीकरण और राज्य, भूमण्डलीकरण और राष्ट्रीय सम्प्रभुता, भूमण्डलीकरण और वित्तीय पूँजी, भूमण्डलीकरण और वित्तीय उपकरण, भूमण्डलीकरण के आलोचक, भूमण्डलीकरण के ख़िलाफ़ प्रतिरोध, विश्व बैंक, विश्व व्यापार संगठन, विश्व सामाजिक मंच।

संदर्भ

1. इमैनुएल वालस्टीन (1974-1989), *द मॉडर्न वर्ल्ड सिस्टम*, तीन खण्ड, एकेडेमिक प्रेस, न्यूयॉर्क.
2. ए. ज़ोलबर्ग (1981), 'ओरिजिन ऑफ़ मॉडर्न वर्ल्ड सिस्टम', *वर्ल्ड पॉलिटिक्स*, अंक 33.
3. आर. डेनमार्क (1999), 'वर्ल्ड सिस्टम हिस्ट्री : फ़ॉर्म ट्रेडिशनल इंटरनेशनल पॉलिटिक्स टु द स्टडी ऑफ़ ग्लोबल रिलेशंस', *इंटरनेशनल स्टडीज़ रिव्यू*, अंक 1.
4. ए. फ़्रैंक और बी. जिल्स (सम्पा.) (1993), *द वर्ल्ड सिस्टम : फ़ाइव हंड्रेड इयर्स ऑर फ़ाइव थाउज़ेंड इयर्स?*, रॉटलेज, लंदन.
5. टी. होपकिंस (1982), *वर्ल्ड सिस्टम एनालैसिस : थियरी ऐंड मैथडॉलॉजी*, सेज, बेवर्ली हिल्स, सीए.

वैशेषिक दर्शन

(Vaisheshik Darshan)

भारतीय दार्शनिक प्रणालियों में वैशेषिक दर्शन सर्वाधिक प्राचीन तथा क्रमबद्ध है। इसका आदि प्रवर्तक कणाद को माना जाता है, जिनका वास्तविक नाम उलूक था। इसके अलावा ये काश्यप और कणभुक् आदि नामों से भी जाने जाते हैं। कहा जाता है कि कटाई के बाद खेतों में बचे हुए अनाज के बिखरे कणों को बीन कर भोजनार्थ प्रयोग करने के कारण उनका नाम कणाद या कणभुक् हो गया। इसलिए वैशेषिक दर्शन का एक दूसरा नाम कणाद या 'औलूक्य' दर्शन भी है। इस दर्शन का सबसे पहला प्रामाणिक और प्रस्थापक ग्रंथ कणादकृत *वैशेषिक-सूत्र* है जो दस अध्यायों में विभक्त है और प्रत्येक अध्याय दो-दो अनुच्छेद में है। इसमें 370 सूत्र संकलित हैं, जो वैशेषिक दर्शन की प्रस्थापना करते हैं। नंदलाल सिन्हा का मानना है कि कणाद का जीवन काल ईसा पूर्व दसवीं से छठी शताब्दी के मध्य रहा होगा। कुछ लोग इस काल को 300 साल ईसापूर्व मानते हैं। कणाद का ऐसा मानना था कि प्रकृति और ब्रह्माण्ड के विशिष्ट गुणों और उनकी विशिष्टताओं के हर पहलू के अध्ययन से ही इनके आधारभूत यथार्थों को भलीभाँति समझा जा सकता है। विशिष्टताओं पर जोर देने के कारण ही इसका नाम वैशेषिक दर्शन पड़ा। सांख्य-दर्शन विश्व के मूल में दो तत्त्व मानता है जबकि वेदांत एक तत्त्व। वैशेषिक दर्शन अनेक तत्त्वों का प्रतिपादन करता है, और उनमें परस्पर मौलिक भेद बताता है। इस परस्पर भेद का ही दूसरा नाम 'विशेष' है। यही वैशेषिक दर्शन का मूल है।

कणाद के अनुसार इस संसार का अस्तित्व वस्तुगत रूप से है। यह मनुष्य की चेतना से बाहर और उससे स्वतंत्र है। उसका विश्लेषण मनुष्य अपने प्रयत्नों से कर सकता है। प्रत्यक्ष, लैंगिक, स्मृति तथा आर्ष— इन चार विधियों द्वारा वैध ज्ञान समझा जा सकता है। वैशेषिक सूत्र की शुरुआत 'धर्म की व्याख्या' की घोषणा के साथ होती है। कणाद के अनुसार धर्म वह है जिससे प्रगति और अंतिम कल्याण सम्भव है। वह ईश्वर या शाश्वत नियति पर आधारित नहीं है। वास्तविक तत्त्वों के ज्ञान द्वारा ही स्थायी कल्याण प्राप्त किया जा सकता है। ज्ञान केवल तभी यथार्थ होता है जब वह वस्तुओं की प्रकृति के अनुरूप होता है, अन्यथा वह झूठा है। सत्य की पुष्टि केवल ऐसी व्यावहारिक क्रियाओं द्वारा ही की जा सकती है, जो उस ज्ञान पर आधारित हों और सफल सिद्ध हों। विभिन्न पदार्थों के सारतत्त्व के ज्ञान, उनमें साम्यता और विषमता, समानता और भिन्नता के ज्ञान से ही सर्वोपरि

कल्याण होता है। पदार्थ से तात्पर्य है वह वस्तु जिसका किसी 'पद' (शब्द) से बोध होता है। अतः जितनी भी वस्तुएँ हैं या जिनका नामकरण सम्भव है, वे सभी पदार्थ हैं।

कणाद ने सभी वस्तुओं को जिनके बारे में भविष्यवाणी करना और जिन्हें संज्ञाएँ देना सम्भव था उन्हें छह पदार्थों (द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय) में विभाजित किया। प्रकृति और जगत के सारे घटनाक्रम पदार्थ की इन छह श्रेणियों में घटित होते हैं। आगे चलकर श्रीधर और उदयन जैसे भाष्यकारों ने इन छह के अलावा एक अन्य पदार्थ— अभाव को भी जोड़ दिया। और तब से अब तक किसी वस्तु के अस्तित्व की तरह ही अभाव को भी वास्तविक माना जाता है।

वैशेषिक दार्शनिक प्रणाली में द्रव्य को मूल पदार्थ माना जाता है और वह समस्त भौतिक तथा अभौतिक घटनाक्रमों का सार है। वैशेषिक दर्शन ने सभी भौतिक और मानसिक वस्तुओं को, पृथ्वी, आपस् (जल), तेजस् (अग्नि), वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मन् और मनस् के नौ द्रव्यों में विभाजित किया है। इन द्रव्यों के संयोग और सम्मिश्रण से ही विभिन्न वस्तुओं और घटनाक्रमों का निर्माण होता है।

पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु का निर्माण अविभाज्य परमाणुओं से हुआ है तथा ये भौतिक पदार्थ हैं। आकाश, दिक्, काल, आत्मन्, और मनस् अ-भौतिक पदार्थ हैं। इस तरह से द्रव्य के अंतर्गत अनुभवजन्य सभी भौतिक व अ-भौतिक वस्तुएँ आती हैं। मनस् और आत्मन् उतने ही प्राथमिक पदार्थ हैं, जितने तेजस् और जल। कुछ अन्य प्रणालियों से अलग हटते हुए वैशेषिक काल और दिक् को अ-ययार्थ पदार्थ नहीं मानता। वे उतने ही वास्तविक हैं, जितने अन्य द्रव्य। द्रव्य ही इस जगत के अधोस्तर, उसके आधार हैं। वे ही उनके संयुक्त प्रभावों के, जो बाद में भौतिक वस्तुओं का रूप धारण कर लेते हैं, मूल कारण हैं। वे स्वयं अपने में वर्तमान रहते हैं, और उन्हें जाना जा सकता है। वे मात्र विचार अथवा संज्ञान नहीं हैं। वे ऐसी वस्तुएँ हैं जिनका संज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। वे ही ऐसी मूलभूत श्रेणियाँ हैं जिनमें कर्म होता है और जिनमें विभिन्न गुणों का निवास है। गुण और क्रियाएँ द्रव्यों में अंतर्निहित हैं। कोई भी द्रव्य गुणों के बिना रह ही नहीं सकता, ठीक उसी प्रकार जैसे कोई गुण द्रव्य के बिना नहीं हो सकता।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार भौतिक जगत की वस्तुओं का विकास अत्यंत सूक्ष्म कणों यानी परमाणुओं के योग से हुआ है। ये परमाणु संख्यात्मक रूप से भिन्न-भिन्न होने के साथ ही गुण, परिमाण, भार, आयतन, रूप आदि में भी भिन्न-भिन्न होते हैं। परमाणु शाश्वत और अनश्वर हैं। एक

ही वर्ग और एक जैसे गुणवाले परमाणु परस्पर मिलकर स्थूल तत्त्वों का निर्माण करते हैं। वे मृत, निष्क्रिय और स्थैतिक न होकर अपने-अपने गुणों के आधार बिना किसी अभिकरण की सहायता के सतत परिवर्तित और परिचालित होते रहते हैं। इस तरह से पदार्थ कोई स्थिर या अचल वस्तु नहीं बल्कि अस्तित्व में आने की निरंतर प्रक्रिया है। और उनका न तो कभी नाश किया जा सकता है और न ही निर्माण। उनकी मौजूदगी अनंत काल से ही।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार, रूप, रस, गंध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, प्रत्येकत्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, वृद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, और प्रयत्न— ये सत्रह प्रकार के गुण द्रव्यों में होते हैं। चौथी शताब्दी में आगे चलकर प्रशस्तपाद ने गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, धर्म, अधर्म, शब्द और संस्कार इन सात प्रकार के और गुणों को शामिल कर दिया। इस तरह से इस दर्शन में द्रव्यों के कुल 24 गुण स्वीकार किये गये। सामान्यतः रंग, रस, गंध, स्पर्श, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, और गति स्थूल वस्तुओं के गुण हैं, जबकि बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार और शब्द अ-भौतिक वस्तुओं के गुण हैं तथा संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग व विभाग दोनों के ही गुण हैं। प्रत्येक द्रव्य में सिर्फ एक ही गुण नहीं होता और न ही सारे के सारे गुण एक ही द्रव्य में होते हैं बल्कि एक द्रव्य में कई-कई गुण हो सकते हैं।

वैशेषिक दर्शन में कर्म को लेकर भी काफ़ी चर्चा हुई है। वहाँ कर्म से तात्पर्य सब प्रकार की गति से है। गति ही कर्म की उत्पत्ति का कारण है। कर्म किसी पदार्थ में अंतर्निहित होता है और वह गुणविहीन, संयोग और विभाग का सीधा-सीधा परिणाम होता है। कर्म अथवा गति के रूप, ऐसे यथार्थ हैं जो तत्संबंधी पदार्थों में अंतर्निहित रहते हैं। गुण के समान कर्म की उस द्रव्य से स्वतंत्र, जिसमें वह अंतर्निहित होता है, कोई क्रिया नहीं होती है। इस प्रकार द्रव्य गुणों तथा कर्म से अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है और वही उनका आधार होता है। इसका अर्थ यह है कि पदार्थ निरंतर गति, परिवर्तन तथा विकास की अवस्था में रहता है।

जहाँ तक एक वस्तुओं के गुण का सवाल है, एक से अधिक वस्तु में पाये जाने वाले समान गुणों को सामान्य गुण तथा जो गुण एक वस्तु को दूसरे से भिन्न बनाता है उसे विशेष गुण कहा जाता है। अपने इस विशेष गुण की वजह से ही वस्तुएँ एक दूसरे से भिन्न होती हैं। इस दर्शन में 'समवाय' विचार भी महत्वपूर्ण है। जब दो वस्तुएँ परस्पर एक दूसरे से जुड़ती हैं, तो उनके योग को संयोग कहा जाता है। संयोग का वियोग भी हो सकता है अर्थात् दोनों का बिलगाव हो सकता है और इस बिलगाव से दोनों वस्तुओं के अस्तित्व पर कोई

फ़र्क नहीं पड़ता। दोनों का खुद का अस्तित्व बना रहता है। संयोग के ठीक विपरीत समवाय नित्य संबंध है। यह दो पदार्थों का वह संबंध है जिसके कारण एक दूसरे में समवेत रहता है। अवयवी अपने अंशों में, गुण या कर्म, द्रव्यों में, सामान्य, व्यक्तियों में तथा विशेष, नित्य निरवयव द्रव्य में रहते हैं। इस प्रकार धागों में कपड़ा, गुलाब के फूल में गुलाबी रंग, बहते हुए पानी में गति, भिन्न-भिन्न स्त्री-पुरुषों में सामान्य धर्म 'मनुष्यत्व' और एक परमाणु में उसका अपना धर्म 'विशेष' समवेत है। इसमें से किसी को किसी से अलग नहीं किया जा सकता है।

वैशेषिक दर्शन में 'समवाय' विचारण के क्रम में यह एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि वस्तुगत भौतिक जगत ठीक-ठीक किस प्रकार शाश्वत और अनश्वर परमाणुओं से विकसित हुआ? क्या ईश्वर अथवा ब्रह्म जैसे बाह्य अभिकरण ने प्रथम आद्य पदार्थ को गति प्रदान की? क्या ब्रह्म ही इस जगत का अंतिम कारण है? कणाद इसका समाधान करते हैं कि इस जगत का आदि कारण ब्रह्म नहीं बल्कि शाश्वत परमाणु हैं जिनका किसी ने निर्माण नहीं किया है। इन परमाणुओं में चूँकि गतिशील होने और एक दूसरे से जुड़ने और मिश्रित होने की प्रवृत्ति अंतर्निहित होती है, इसलिए संसार की उत्पत्ति के लिए ब्रह्म या किसी बाह्य अभिकरण की कोई ज़रूरत ही कभी नहीं थी। समवाय ही वह सिद्धांत है जो परमाणुओं को एक-दूसरे से सम्बद्ध करता है जिससे विभिन्न संयोजन उत्पन्न होते हैं। विभिन्न भौतिक वस्तुओं तथा इंद्रियों, मस्तिष्क, चेतना इत्यादि से सज्जित प्राणवान जीवों से भरा यह जगत परमाणुओं से विकसित हुआ है; यह ऐसी विभिन्न वस्तुओं का एक विराट योग है जो समय और अवकाश में एक-दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया करती रहती है।

कणाद के अनुसार मनस् और आत्मा की अलग-अलग क्रियाएँ हैं। संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग, विभाग, परत्व, इत्यादि मन के गुण हैं। बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, प्रवृत्ति, संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग और विभाग आत्मा के गुण हैं। श्वास और उच्छ्वास, पलकों का खोलना और बंद करना, जीवन, मन की गति तथा अन्य इंद्रियों की क्रियाएँ, साथ ही सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न आत्मा के गुण हैं। आत्मा अन्य पदार्थों के समान ही एक पदार्थ है, जिसमें चेतना का अस्तित्व है। चेतना, संज्ञान, बुद्धि इत्यादि पदार्थ के संश्लिष्ट सम्मिश्रणों की उपज हैं। आत्मा के घटक उस पदार्थ में अंतर्निहित होते हैं जो जीवों का मूलधार होता है और वे उससे बाहर अथवा स्वतंत्र नहीं रहते। किसी वस्तु का ज्ञान केवल तब होता है जब उस वस्तु के आत्मा और इंद्रियों का सम्पर्क होता है। आत्मा मन से संयुक्त होने पर ही क्रियाशील होती है। किंतु ज्ञान प्राप्त करने के लिए बाह्य यथार्थ का विद्यमान होना आवश्यक है। अतः

जो भी अनुभव हम करते हैं। उसके समानांतर बाह्य जगत में यथार्थ मौजूद रहता है।

भारतीय दर्शन परम्परा में वैशेषिक दर्शन महर्षि कणाद की एक महत्वपूर्ण प्रस्थापना के रूप में उभरता है। उन्होंने मस्तिष्क के अलावा जीवन और शक्ति के स्रोत के रूप में आत्मा की अवधारणा प्रतिपादित की, लेकिन ईश्वर द्वारा आत्मा की निर्मिति मानने से इनकार कर दिया। पृथ्वी, अग्नि, जल आदि की ही तरह विशिष्ट गुण सम्पन्न आत्मा को भी एक मूल पदार्थ के रूप में माना। कर्म को परमाणुओं में गति उत्पन्न करने वाला बताया। परिणामतः इस कर्म ने एक रहस्यवादी अभिकरण का रूप धारण कर लिया और आगे के अनेक भाष्यकारों ने इस दर्शन के अंतर्गत ईश्वर की अवधारणा स्थापित करने के लिए इसका भरपूर इस्तेमाल किया। उन्होंने तर्क दिया कि ये अपरिवर्तनीय परमाणु स्वतः ब्रह्माण्ड को जन्म नहीं दे सकते। इस तरह एक तर्कसंगत भौतिकवादी दर्शन होते हुए भी आदर्शवादी भाष्यकारों के हाथों पड़ कर इसमें कई विकृतियाँ एवं विसंगतियाँ पैदा हो गयीं।

देखें : आर्यभट्ट और *आर्यभटीय*, उपनिषद्, कपिल, *अर्थशास्त्र* और कौटिल्य, गोपीनाथ कविराज, गोविंद चंद्र पाण्डे, चैतन्य महाप्रभु, जैन दर्शन, न्याय दर्शन, दया कृष्ण, नागार्जुन, पतंजलि और *योगसूत्र*, पाणिनि और *अष्टाध्यायी*, पुराण, पूर्व-मीमांसा दर्शन, बदरी नाथ शुक्ल, बादरायण, बौद्ध दर्शन, *भगवद्गीता*, भरत और *नाट्यशास्त्र*, मुकुंद लाठ, *भागवत पुराण*, *महाभारत*, यशदेव शल्य, योग दर्शन, रामानुजाचार्य, राम अवतार शर्मा, लोकायत, वात्स्यायन और *कामसूत्र*, वेदांत दर्शन, शंकराचार्य, षड्-दर्शन-1 और 2, संस्कृत काव्यशास्त्र, स्मृति-साहित्य, सांख्य दर्शन-1 और 2, सिद्ध-नाथ परम्परा।

संदर्भ

1. वियोगी हरि (सम्पा.) (2011), *हमारी परम्परा*, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
2. के. दामोदरन (2001), *भारतीय चिंतन परम्परा*, अनुवाद : जी. श्रीधरन, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.
3. सर्वपल्ली राधाकृष्णन (2012), *भारतीय दर्शन (2)*, अनु. नंद किशोर गोभिल, राजपाल एंड संज, नयी दिल्ली.
4. चंद्रधर शर्मा (1991), *भारतीय दर्शन : आलोचना और अनुशीलन*, मोतीलाल बनारसी दास, नयी दिल्ली.

— अजय कुमार पाण्डेय

वैष्णव धर्म

(Vaishnavism)

भारत के सांस्कृतिक नवजागरण का एक बड़ा भाग वैष्णव धर्म के मूल सिद्धांत-चिंतन से जुड़ा है। इस चिंतन का एक विशिष्ट पक्ष है अवतारवाद। इस सूत्रीकरण के मुताबिक लोक-कल्याण के लिए ब्रह्म अवतार धारण करता है और लोक के कष्टों को दूर करता है। इस तरह अवतारवाद ने ब्रह्म के मनुष्य-रूप में जन्म लेने का सिद्धांत दिया। वैदिककाल से ही विष्णु का जागरण रूप मिलता है। ऋग्वेद में विष्णु का स्थान इंद्र और वरुण के बाद है। वह वैदिक काल का प्रधान देव नहीं है। अचानक सामाजिक स्थितियों ने पलटा खाया और पौराणिक काल में विष्णु का चरित्र सभी देवों से ऊपर आ गया। देखते-देखते महाभारत में ब्रह्मा और महेश के बीच विष्णु की प्रतिष्ठा हो गयी। इसके बाद तो विष्णु पुराण तक आते-आते विष्णु की महिमा का लोक बहुत व्यापक हो गया— उनकी छवि में अस्त्र-शस्त्र, शंख, चक्र आदि शामिल हो गये। विष्णु का यह रूप वैष्णव-भक्तों में प्रेम-रस सिंधु, कृपासिंधु बनकर उपासना-क्षेत्र में छा जाता है। भागवत पुराण के समय तक वैष्णव सम्प्रदाय 'पांचरात्र सम्प्रदाय' के रूप में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लेता है। विकास की इस लम्बी यात्रा में वैष्णव-भावना ने कई रूप प्राप्त किये। विष्णु-नारायण-वासुदेव के मिलन से विष्णु का वर्चस्व अनंत हो गया। मत्स्य, कूर्म, वाराह, वामन, नारद, ब्रह्मवैवर्त, विष्णु, भागवत आदि पुराणों ने परम्परा का पुनराविष्कार किया— निरंतर नये होने वाले मिथक, आख्यान, रूपक जुड़े-बने। अवतारवाद ने राम और कृष्ण को लीला के केंद्र में लाकर वैष्णव-भावना की सर्जनात्मकता को उत्पाद्य-लावण्य की शक्ति से सम्पन्न बना दिया।

कालगति के साथ वैष्णव-भावना का दार्शनिक-सामाजिक आधार मजबूत हुआ और विचारधारा के नाम पर उसके साथ अनेक संदर्भ और गोष्ठी-संवाद जुड़ गये। उदाहरणार्थ महाभारत के नारायणीय उपाख्यान में भक्ति का विस्तृत वर्णन-दर्शन है। वेदों का यज्ञवादी कर्मकाण्ड, उपनिषदों का ज्ञानकाण्ड यहाँ आकर भावना-व्यापार में सामने आया। श्वेतद्वीप के भक्तजन उज्ज्वल नीलमणि की तरह पवित्र हैं— और द्वेषहीन। इसी सामाजिक प्रवाह में गीता का भक्तियोग आया और भक्ति को परम योग के बराबर स्थान मिला। भागवत का प्रेम-रस, कथा-रस जीवन में शक्ति पाने लगा। श्रवण-कीर्तन, अर्चना-वन्दना का संसार-संगीतमय होने लगा। बौद्ध-धर्म, जैन-धर्म के प्रभाव से वैष्णव-धर्म में जो शिथिलता आयी थी, उसे शंकराचार्य ने और बढ़ाया। शंकर

का अद्वैतवाद वैष्णव-भक्ति भावना के प्रतिकूल पड़ा। फिर मायावाद का जटिल चिंतन-तंत्र जनता के मन से दूर रहा। संयोग ऐसा बना कि दक्षिण में शंकर का अद्वैतवाद जिस समय जूझ रहा था उसी समय दक्षिण के आलवार भक्त (पाँचवीं से लेकर नौवीं शताब्दी तक) वैष्णव-भक्ति भावना का प्रसार कर रहे थे। दक्षिण में भक्ति की दूसरी परम्परा शैव नायनमार भक्तों की थी और उसमें भी एक नया जनाधार उमड़ रहा था। शिव-भक्ति धारा तथा विष्णु भक्ति-धारा ने शंकर के अद्वैतवाद का पूरा पाठ ही पलट दिया। ग्यारहवीं शताब्दी में सगुण भक्ति के आचार्य रामानुजाचार्य ने वैष्णव धर्म को एक शक्तिशाली भक्ति आंदोलन में बदल डाला। श्री सम्प्रदाय के प्रवर्तक रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैतवाद के रूप में भक्ति को समर्थ दार्शनिक आधार प्रदान किया। रामानुजाचार्य के वैष्णव धर्म चिंतन को रामानंद उत्तरी-भारत में लाये। पूरे देश में भक्ति-आंदोलन का प्रवाह तेज़ गति से प्रवाहित हुआ। दक्षिण के प्रस्थान ग्रंथों में भागवत तथा तमिल दिव्य प्रबंधन ने पल्लव राजाओं का आश्रय पाकर भक्ति को नया आयाम दिया। भक्ति में सभी वर्गों और जातियों के लोग भेदभाव भूलकर आये। पिछड़ी जातियों ने अपने संत और कवि पैदा किये। यहाँ तिरुप्पल जैसे अन्त्यज हैं, तो अंडाल जैसे नारी-भक्त हैं। संत नाथमुनि ने नवीं शताब्दी में *दिव्य प्रबंधक* के पदों का संग्रह किया और श्रीरंग जी के मंदिर में पद-गायन, कीर्तन-संगीत की व्यवस्था की।

शैव-नायनार, वैष्णव-आलवार भक्तों ने शास्त्र की मर्यादाओं को तोड़कर आगे क्रम बढ़ाया। लोक को पुष्ट करने के कारण जन-मन में भक्ति-भाव और वैष्णव पूजा उपासना-अर्चना का प्रसार-प्रसार हुआ। भक्ति-सिद्धांत में प्रेम ही परम पुरुषार्थ बताया गया। उसमें बाह्य आडम्बर तथा कर्मकाण्ड को स्थान नहीं दिया गया। नतीजा यह हुआ कि लोक भाषाओं में लोक संस्कृति की सर्जनात्मकता का द्वार खुल गया। प्रपत्तिवाद और शरणागति ने अहं के विसर्जन तथा समर्पण को अपनाया। आलवारों ने सगुणवाद को लेकर कृष्ण और राम को व्यापक समर्थन दिया।

रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा में रामानंद आये। उन्होंने राम के लोक कल्याणकारी रूप को जनता में प्रतिष्ठित किया। वल्लभाचार्य ने विष्णु के अवतार रूप कृष्ण भक्ति का प्रचार किया। उनके द्वारा प्रवर्तित मार्ग 'पुष्टिमार्ग' नाम से प्रसिद्ध हुआ। भगवान के अनुग्रह से प्राणी प्रेम प्रधान-भक्ति की ओर अग्रसर हुआ। यहाँ लीलामय-प्रेममय-रसमय कृष्ण का पूर्णावतार रूप प्रकट हुआ इस तरह वैष्णव धर्म प्रधान भक्ति आंदोलन पंद्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में राम और कृष्ण के लोक नायकत्व को लेकर पूरे देश में फैल गया।

भक्ति काल को 'स्वर्णयुग' बनाने का बड़ा भारी श्रेय इन वैष्णव भक्तों-कवियों-आचार्यों को जाता है। सुर-तुलसी

की अपार सर्जनात्मक प्रतिभा ने काव्य कला के शिखर-सोपान स्पर्श किये। भारतीय चिंतन-धारा का स्वाभाविक विकास इन वैष्णव कवियों के कवि-कर्म में हुआ। उनकी प्रतिभा से पुरोहितवाद-कर्मकाण्डवाद के दाँत ढीले पड़ गये, देवभाषा कही जाने वाली संस्कृत का वर्चस्व टूटा और लोक-भाषाओं में लीलागान शुरू हो गया। कृष्णलीला-रासलीला ने ब्रज-रस का हृदयों में विस्तार किया और राधा की छवि लोक के चित्त को रंजित-उद्वेलित करने लगीं। आद्या-शक्ति माया का सीता-राधा के रूप में प्राकट्य हुआ। कुंज-कुटीरों में कृष्ण राधा के पैरों को पलोटने लगे। यहाँ झोपड़ियों ने महलों को चुनौती दी। गीत-काव्य की धारा में हृदय फूट पड़ा तथा बहुत सा पशुचारण काव्य गाया गया। कृषि-संस्कृति के मनोहारी रूपों ने संगीत-कला-दर्शन का नया सौंदर्यशास्त्र ही निर्मित कर दिया।

वैष्णव भावना के नवीन उन्मेष में रामानंद, वल्लभाचार्य, मध्वाचार्य, चैतन्य महाप्रभु तथा अनेक नामदेव-ज्ञानदेव जैसे मराठी संतों की भूमिका का हाथ रहा है। वल्लभ, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य, रामानंद जैसे वैष्णवाचार्यों ने वैष्णव भक्ति का दार्शनिक वैचारिक आधार दृढ़ किया और भक्ति-मार्ग से जो बाधाएँ थीं उन बाधाओं को दूर करने का प्रयत्न किया। इससे स्थिति में क्रांतिकारी परिवर्तन आया। रामानंद के जाति-पाँति तोड़क भक्तिवाद ने नाई, धोबी, जुलाहा, कुम्हार, धानुक सभी पिछड़ी-दलित जातियों के लोगों को आकृष्ट किया। इन सभी जातियों ने अपने संत-कवि पैदा किये और लोक-भाषाओं की सर्जनात्मकता में उन्मेष आया। कबीर, धन्मा, रैदास, रज्जब, पलटूदास जैसे संत कवियों की विद्रोही चेतना के मूल में रामानंद ही हैं। इस दृष्टि से रामानंद को मध्यकालीन भक्ति-आंदोलन के चिंतन का मेरुदण्ड मानना चाहिए।

विद्वानों ने यह तक्ररीबन मान लिया है कि वैष्णव-भावना का उदार मानवतावादी आधार सामाजिक प्रसार की दृष्टि से रामानंद की देन है। मध्यकाल के सामंती परिवेश में रामानंद का यह लोक-जागरण क्रांतिकारी क्रम है। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने अष्टछाप तथा कृष्ण-भक्ति से सूर नंददास जैसी प्रतिभाओं को जनता के सामने प्रस्तुत किया और हलवाहा-चरवाहा-संस्कृति को आधार देकर काव्यात्मकता में प्रतिष्ठित किया। महाप्रभु चैतन्य ने न केवल जातियों के बंधन तोड़े बल्कि विधवा-विवाहों को प्रोत्साहन दिया। वैष्णव-भावना ने 'रामहि केवल प्रेम पियारा' के चिंतन को केंद्र में लाकर प्रेम को पाँचवा पुरुषार्थ घोषित किया। प्रेम-चिंतन का बैकुंठी-भाव अपनी उज्वल भावना से मीरां बना, रसखान बना और जायसी बना। मूल बात यह कि भारत में सर्वधर्म समभाव का यह व्यापक प्रयोग था जिसे वैष्णव भक्ति-भावना ने आगे बढ़ाया। इसी प्रयत्न से गुजरात, महाराष्ट्र, बंगाल,

असम का पद-साहित्य प्रस्तुत किया गया। भारतीय भाषाओं पर इस वैष्णव-चिंतन ने अनेक प्रकार से प्रभाव डाला।

मराठी के संत क्रांतिकारिता और बौद्धिकता से अधिक सम्पन्न रहे हैं। ज्ञानेश्वर, एकनाथ, नामदेव आदि संत जाति-बंधन को अस्वीकार करते हैं। असम में शंकरदेव ने रामभक्ति का नया भाष्य किया। पंजाब में गुरु नानक देव ने वर्ण व्यवस्था और मूर्तिपूजा को अस्वीकार किया। चमत्कारवाद, करामाती करतबों से दूर रह कर वैष्णव संतों ने प्रेम-गीत गाकर 'हृदय-संवाद' स्थापित किया। मूल विचार यह कि वैष्णव-भावना में आलवार भक्तों का कावेरी प्रवाह, रामानंद की पतित उद्धारणी गंगा-धारा, कबीर की सुधार भावना, तुलसीदास का लोकधर्म, चैतन्य का प्रेमरस विस्तार, नानक का मूर्तिपूजा खण्डन, सूफियों का प्रेम विस्तार सभी मिलकर एक अनूठे रासायनिक मिश्रण की निष्पत्ति करते हैं। वैष्णवाचार्य शास्त्र-चर्चा और दार्शनिक-चर्चा में नये भाष्य, नये विमर्श प्रस्तुत करते हैं। यह सभी-गतिविधियाँ लोक भाषाओं में होती हैं, जिससे लोकानुभूति एवं लोक संवेदना का रचनात्मक प्रकाश फैलता है। यहाँ जड़वादी शास्त्रवाद, पुरोहितवाद, कर्मकाण्डवाद, ब्राह्मणवाद को स्वीकृति नहीं है। हाँ, संतों ने आत्मालोचन, आत्मसाक्षात्कार, सगुण-निर्गुण उपासना पर जोर दिया। साथ ही ब्राह्मणवाद, पुरोहितवाद, शास्त्रवाद का वर्चस्व तोड़कर एक नया जागरण जनता में उत्पन्न किया। ईश्वर की स्वीकृति मनुष्य में दी। लीलावाद और रसवाद के मोरपंख खोल दिये। गीता का 'परित्राणभव साधुनां, विनाशाय च दुष्कृताम' का संदेश-दर्शन राम और कृष्ण के माध्यम से प्रकट हुआ। वल्लभाचार्य ने लीला-ब्रह्म के लीला भाव को एक सांस्कृतिक-दार्शनिक आधार क्या दिया, रासलीला की धूम मच गयी। इस चिंतन से कलाओं का, विशेषकर संगीत का नया प्रवर्तन हुआ। नवधा-भक्ति की परम्परा में कुम्भनदास का संगीत विशेष रंग लाया।

वैष्णव-भक्ति भावना का लोकजागरण-भाव आधुनिक भारतीय-भाषाओं के साहित्य को नयी संजीवनी शक्ति देता रहा है। यहाँ पुरोहितवाद का निषेध क्या हुआ—मानव-धर्म या लोक-धर्म नये अर्थों को लेकर सामने आया। महाभारत का कर्मयोगी कृष्ण भागवत-भाव में मधुरा भक्ति, प्रेमा-भक्ति के रूप में प्रकट हुआ। प्रेमा-भक्ति ने सभी सीमाओं को तोड़कर रीतिकाल में 'केलिक्रीड़ा' भाव से देहवाद-भोगवाद का रूप धारण कर लिया। भक्तिकाल में मनुष्य और प्रकृति तदाकार रहे। यमुना, गाय-गवाले सभी एक अनन्य भाव में बँधकर कृष्ण को गा उठे। विरह में 'मधुवन तुम कत रहत हरे' का प्रेम-दर्शन निखर कर उमड़ पड़ा। वर्ण, जाति, समुदाय, कुल, वर्ग की अस्वीकृति ने पूरा दृश्य ही बदल दिया। यही दृश्य आचार्य क्षितिमोहन सेन तथा रवींद्रनाथ को प्रभावित करता है और वे लोग कबीर को सराहते हैं। वैष्णव चिंतन से ही भारतेंदु बाबू तथा रवींद्रनाथ

ठाकुर ने उच्चतर मानव मूल्य ग्रहण किये। निराला, मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी तथा दिनकर जैसे कवियों ने अध्यात्मवाद का आग्रह छोड़कर 'परम्परा' का पुनर्भाष्य किया। वैष्णव-भावना ही अज्ञेय को आकृष्ट करके भागवत भूमि यात्रा की ओर ले गयी। हिंदी के अनेक बड़े रचनाकारों ने मधुरा से द्वारका तक का निरंतर भ्रमण किया और राम व कृष्ण के लोकनायकत्व पर विचार करके निष्कर्ष निकाला कि यह देश वैष्णव छाते के नीचे ही अपना मूल अर्थ पा सका है। 'भारत भारती' की प्रार्थना ने देश-प्रेम को नया अर्थ-विस्तार किया और मैथिलीशरण गुप्त, गाँधी, लोहिया आदि ने भारतीय जीवन का नया मंगलाचरण नरसी मेहता, तुलसी के कंठ से कंठ मिला कर गाया। इसी भूमि पर सुब्रह्मण्यम भारती, वल्लतोल खड़े होकर नया देश-प्रेम-रस जनता को पिलाते रहे। काका साहब कालेलकर ने देशभक्ति-रस को वैष्णव-चेतना से जोड़कर क्रांतिकारी रूप दिया। उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष के दौरान वैष्णव का अर्थ लिजलिजापन न रहा, बल्कि खरापन और विद्रोही-चिंतन का विचार हो गया।

देखें : अष्टछाप, 'अंग्रेजी हटाओ' आंदोलन, गजानन माधव मुक्तिबोध-1 और 2, छायावाद, डायग्लॉसिया, नंद दुलारे वाजपेयी, नगेंद्र और सैद्धांतिक समीक्षा, नयी कविता, नामवर सिंह, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, प्रेमचंद, प्रयोगवाद, प्रगतिवाद, भक्ति आंदोलन-1 और 2, भक्ति-काव्य-1 और 2, भारतेंदु हरिश्चंद्र, भारतेंदु युग-1 और 2, भाषा नियोजन-1 से 4 तक, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, महादेवी वर्मा, महावीर प्रसाद द्विवेदी, मीराबाई और प्रेमाभक्ति, राहुल सांकृत्यायन, रामानुजाचार्य, रामानंद, रामचंद्र शुक्ल-1 और 2, रामविलास शर्मा, राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता, रीतिकाल-1 और 2, विजय देव नारायण साहो, श्याम सुंदर दास, सम्पर्क भाषा-1 से 4 तक, सगुण और निर्गुण-1 और 2, संस्कृत काव्यशास्त्र, संविधान सभा में भाषा-विवाद-1, 2 और 3, संत-काव्य, सिद्ध-नाथ परम्परा, सूफ़ीयत और प्रेमाख्यान, हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिंदी विरोधी आंदोलन, हिंदी जाति-1 से 3 तक, हिंदी साहित्य का आदिकाल, हिंदी साहित्य का इतिहास, हिंदी साहित्य का इतिहास : नये परिप्रेक्ष्य, हिंदी-पद्य में इतिहास, हिंदी-जगत और 'लोकप्रिय'-1 और 2, हिंदी नवजागरण, हिंदी-संस्थाएँ।

संदर्भ

1. रामविलास शर्मा (2000), *भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश* भाग 1-2, किताब घर प्रकाशन, नयी दिल्ली.
2. रामविलास शर्मा (1981), *परम्परा का मूल्यांकन*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
3. रामविलास शर्मा (2000), *लोक जागरण और रामचंद्र शुक्ल*, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.
4. आचार्य रामचंद्रशुक्ल (1940), हिंदी साहित्य का इतिहास, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी.
5. रामधारी सिंह दिनकर (1966), *संस्कृति के चार अध्याय*, उदयाचल, पटना.